

द्वितीय खण्ड

श्रीभिक्षुमहाकाव्यम्

(११ से १८ सर्ग)

काव्यकार

शासनस्तम्भ मुनि नत्थमल

अनुवादक

मुनि नगराज

सम्पादक

मुनि दुलहराज



द्वितीय खण्ड

श्रीभिक्षुमहाकाव्यम्

(११ से १८ सर्ग)

काव्यकार

शासनस्तम्भ मुनि नत्थमल

अनुवादक

मुनि नगराज (सरदारगढ़)

सम्पादक

मुनि दुलहराज

प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

आर्थिक सौजन्य :

प्रथम संस्करण : १९९८

मूल्य : ६०/- (साठ रुपये)

**मुद्रक : मित्र परिषद् कलकत्ता के आर्थिक सौजन्य से स्थापित
जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं (राज०)**

प्रस्तुति

‘श्रीभिक्षुमहाकाव्यम्’ का प्रथम खंड (१ से १० सर्ग) गंगाशहर चातुर्मास से पूर्व प्रकाशित होकर सामने आ गया। गुरुदेव श्री तुलसी को वह भेंट कर दिया गया। इस काव्य को प्रकाशित देख, वे प्रसन्न हुए और इसे सहर्ष स्वीकार किया। कुछ ही दिनों बाद वे दिवंगत हो गए।

प्रस्तुत है द्वितीय खंड, जिसमें ११ से १८ सर्ग निबद्ध हैं। यह खंड कुछ विलंब से सामने आया। इसमें अनेक कारणों में एक कारण था—गुरुदेव का महाप्रयाण कर जाना। इस असामयिक मृत्यु से सारा संघ हतप्रभ हो गया। काश ! आज गुरुदेव विद्यमान होते। वे दूसरे खंड को देखकर अत्यधिक प्रसन्न होते। आज काव्यकर्ता भी नहीं हैं। उनका श्रम प्रस्तुत काव्य की प्रत्येक पंक्ति में मुखर है। उनके अनेक सहयोगी मुनि भी दिवंगत हो गए। यह चक्र निरंतर गतिमान है। जो हैं, उन्होंने इस ग्रन्थ को सराहा है और वे इस काव्य की अनूठी रचना के प्रति नत-प्रणत हुए हैं। काव्य का अनुवाद करने में पूर्ण सतर्कता बरती गई है और उसे मूलस्पर्शी रखने का प्रयत्न किया गया है।

पहले यह विचार था कि परिशिष्ट में श्लोकानुक्रम और सुभाषित दिए जाएं। परंतु अति व्यस्तता, रुग्णता आदि कारणों से वैसा हो नहीं सका।

आज भुक्ते अतिरिक्त प्रसन्नता हो रही है कि मैंने यह भगीरथ कार्य गुरुदेव की प्रबल प्रेरणा से हाथ में लिया और आज दो वर्षों के सतत श्रम से कार्य परिसंपन्न हुआ। मेरे सहयोगी मुनिश्री चंपालालजी तथा मुनिश्री नगराजजी इसकी संपन्नता में पूरे जागरूक रहे और समय-समय पर सुझाव देते रहे। मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता निवेदित करता हूं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के उत्साहवर्धक वचन भी इस कार्य की संपूर्ति में सहयोगी बने हैं। वे आगमज्ञ, बहुश्रुत, सरस्वती के वरदपुत्र तथा संस्कृत और प्राकृत के प्रकांड विद्वान् हैं। वे चलते-फिरते विश्वकोष हैं। उनकी प्रेरणा से तेरापंथ धर्मसंघ सतत विकासशील बन रहा है। विद्या के क्षेत्र में इस धर्मसंघ ने अनेक ऊंचाइयों को छुआ है और आज भी उसी के अभिमुख है। मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूं।

मैं मुनि राजेन्द्रकुमारजी को विस्मृत नहीं कर सकता। वे मेरे प्रत्येक कार्य में सहयोगी रहे हैं। आज भी वे संस्कृत व्याकरण के संपादन में अति

११५. यस्यैव दृष्टिरजनिष्ट सदा सद्बुद्धा,
भिक्षाचरे क्षितिपतावपि देवराजे ।
भक्तेष्वभक्तिमति वारिमुचां प्रवृष्टि-
रिक्षोर्वनेऽर्कविपिने च यथा यथार्था ॥

‘जैसे मेघ इक्षुवन में और अर्कवन में समान बरसता है, वैसे ही
आचार्य भिक्षु की दृष्टि देवराज इन्द्र के प्रति तथा सामान्य राजा के प्रति
तथा भक्त और अभक्त के प्रति सदा सद्बुद्ध रहती है ।’

११६. सन्ध्याधरागमिव चञ्चलचञ्चलाभ-
मावेदयन् भवमचञ्चलतां च मुक्तेः ।
उद्भावयत्यमुमतो निजगोत्रवृद्धो,
यो वंशजानिव यथार्थहिताहितार्थम् ॥

‘जैसे अपने गोत्र में वृद्ध पुरुष अपने वंशजों को यथार्थ एवं हित की
शिक्षाएं देते हैं वैसे ही हमारे गुरु भव्य प्राणियों को यह उपदेश देते हैं कि
यह संसार संध्या की लालिमा के समान चञ्चल है । एक मोक्ष ही अचञ्चल
है अर्थात् वह शाश्वत सुखों की खान है ।’

११७. यस्मिन् परे निरवधौ निवसन्ति मग्ना,
मीनव्रजा इव दुरुद्धरमोहमुग्धाः ।
तस्माद् भवोदकनिधेः पृथगेव योस्ति,
जम्बालयुक्तसलिलादिव पुण्डरीकम् ॥

‘जैसे समुद्र में मत्स्यगण निमग्न रहते हैं, वैसे ही संसारी प्राणी दुर्धर
मोह के असीम समुद्र में निमग्न रहते हैं । अमान्य महोदय ! हमारे गुरु ऐसे
भव समुद्र से पृथक् ही रहते हैं जैसे कर्दमयुक्त पानी से कमल पृथक् ही
रहता है, निलिप्त रहता है ।’

११८. बिभ्यन् मृगाक्षीनयनान्तरङ्गोत्सङ्गे प्रणर्त्युत्कटकाक्षबाणैः ।
नाऽविश्यतान्तःकरणे च यस्याऽलोके यथा भानुकरैः कदापि ॥’

‘स्त्रियों के नयनों के अन्तभागरूप नाट्यस्थल की गोद में नाचते हुए
चञ्चल कटाक्ष-वाण स्वयं भयभीत होते हुए, भिक्षु के अन्तःकरण में वैसे ही
प्रवेश नहीं पा सके जैसे अलोक में सूर्य की किरणें ।’

११९. संसारमार्गमणोद्भवेन, व्यामोहयित्राखिलमोहभाजाम् ।
संसर्गदोषेण यतः प्रणष्टं, नागेन नागान्तकृतो यथैव ॥

१. प्रकर्षेण णर्तिः—नर्तनं, तस्मिन् उत्कायाः ।

२. अत ऊर्ध्वं उपजातिच्छन्दः ।

चार

व्यस्त हैं। फिर भी इस काव्य के मूलपाठ के प्रति यदा-कदा उभरी मेरी जिज्ञासाओं को वे सप्रमाण समाहित करते रहे हैं। वे व्याकरण के विभिन्न प्रयोगों के ज्ञाता हैं। मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ और उनकी अति व्यस्तता के प्रति अहोभाव रखता हुआ कार्य की शीघ्र संपन्नता की कामना करता हूँ।

शेष शुभम् ।

३० जनवरी १९९८

मुनि बुलहराज

काव्यनायक आचार्य भिक्षु का संक्षिप्त जीवन-वृत्त

आचार्य भिक्षु का जन्म वि० सं० १७८३ में आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के दिन राजस्थान मरुप्रदेश के कंटलिया ग्राम में हुआ। उनके पिता का नाम बल्लूशाह और माता का नाम दीपां था। जब वे गर्भ में आए उस रात्री में माता दीपां ने केसरीसिंह का स्वप्न देखा। बालक का नाम 'भीखण' रखा गया। बचपन से ही भीखण बहुत तेजतर्रार और विवेक संपन्न थे। उस समय शिक्षा की आज जैसी सुविधाएँ नहीं थीं। वे गाँव की पाठशाला में पढ़े। 'महाजनी' विद्या में वे प्रवीण हुए। बड़े-बड़े लोग भी उनसे 'महाजनी' संबंधी वाद-विवाद करने में घबराते थे। उनमें धर्म के संस्कार उभरते गए। वैराग्य बढ़ता गया। दुकानदारी करते हुए भी वे धर्म ध्यान में लीन रहने लगे। उन्होंने यौवन में प्रवेश किया। माता-पिता ने उनको विवाह-सूत्र में बांध दिया। 'बगड़ी' गाँव की कन्या 'सुगनी' बाई से उनका पाणिग्रहण हुआ। एक पुत्री का जन्म हुआ। पति-पत्नी धर्मध्यान की ओर अग्रसर होते रहे। दोनों ने दीक्षा लेने का मन बना लिया। ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लिया और अपने आपको तपाने के लिए 'एकान्तर' तप प्रारम्भ कर दिया। अनेक स्तुतियाँ और 'थोकड़े' कंठस्थ किये। वैराग्य वृद्धिगत होता गया। लोग उनके वैराग्य से अभिभूत थे और ज्ञान तथा तर्क का लोहा मानते थे।

जीवन में एक मोड़ आया। पत्नी का आकस्मिक निधन हो गया। माता ने दूसरा विवाह कर लेने के लिए कहा, परंतु भीखनजी ने इनकार करते हुए दीक्षित होने की भावना व्यक्त की। माता सोच में पड़ गई। भीखनजी ने अनेक धार्मिक संस्थानों को टटोला। उन धार्मिक संस्थानों में स्थानकवासी संप्रदाय के प्रभावी आचार्य रघुनाथजी का संघ उन्हें रुचा और वहीं प्रव्रजित होने का मन बनाया। माता दीक्षा की आज्ञा देने के लिए तैयार नहीं थी। आचार्य रघुनाथजी को यह ज्ञात हुआ तब वे स्वयं भीखनजी के घर आए और मां दीपां से आज्ञा देने की बात कही। मां दीपां बोली—'गुरुदेव ! भीखन के जन्म से पूर्व मैंने केसरीसिंह का स्वप्न देखा था। मैंने मन ही मन यह निश्चय कर डाला था कि मेरा पुत्र राजा बनेगा और सिंह की तरह एक छत्र राज करेगा। मैं इसे मुनि बनने की आज्ञा कैसे दे सकती हूँ ?' तब आचार्य रघुनाथजी ने उसे अनेक युक्तियों से समझाया और आज्ञा देने के लिए सहमत कर लिया।

भीखनजी ने वि० सं० १८०८ मार्गशीर्ष कृष्ण १२ के दिन बगड़ी गांव में आचार्य रघुनाथजी के हाथों दीक्षा गृहण कर ली। वे ज्ञान और विनय की आराधना में संलग्न हो गए। विरक्ति के भाव वृद्धिगत होते रहे। उन्होंने आगमों का अनुशीलन प्रारंभ कर दिया। वे जिज्ञासावृत्ति से अपनी आशंकाओं को आचार्य रघुनाथजी के समक्ष रखते रहे और समाधान पाने का प्रयत्न करते रहे। उन्होंने अनेक बार आगमों का पारायण किया। उन्हें यह प्रतीत हुआ कि संधीय मुनियों का आचरण आगम बाणी के अनुसार नहीं हो रहा है। विचारों में उथल-पुथल होने लगी। उन्होंने गुरु से समाधान पाना चाहा, पर मन समाहित नहीं हुआ। गुरु भी उनकी सूक्ष्म मेधा से उत्पन्न जिज्ञासाओं को देख आश्चर्यचकित थे। उनमें वे भावी शासक का उज्ज्वल भविष्य देख रहे थे। मुनि भीखन के वैराग्य की उन पर छाप थी।

वि० सं० १८१५ में राजनगर (मेवाड़) के श्रावक समुदाय ने मुनियों में आचार-विचार के अन्तराल को देख-समझ कर एक आन्दोलन किया। वे संघ से विमुख हो गए और उन्होंने वंदना-व्यवहार भी छोड़ दिया। आचार्य रघुनाथजी इस घटना से व्यथित हो गए और तब उन्होंने मुनि भिक्षु को राजनगर के श्रावकों को समाहित करने भेजा। मुनि भिक्षु राजनगर पहुंचे और अपनी तर्कप्रवण बुद्धि से उन्हें समाधान देकर संघ के अनुकूल बना डाला। उनके मन में असत्य समाधान के प्रति विद्रोह उठा। रात्री में मुनि भिक्षु शीतज्वर से आक्रांत हुए। उस अवस्था में मन ही मन विचार-मंथन चलता रहा। विचारों की उथल-पुथल, आत्म-मंथन और किए गए असत्य अपलाप के प्रति विद्रोह ने सत्य की अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त कर दिया। सत्य-संलाप के संकल्प से ज्वर शांत हो गया। श्रावकों को यथार्थ से परिचित कराया। श्रावकों को प्रतिबुद्ध करने के साथ-साथ मुनि भिक्षु स्वयं प्रतिबुद्ध हो गए।

राजनगर से वे आचार्य रघुनाथजी के पास आए। उन्हें विचारों की अवगति दी। जिज्ञासाएं प्रस्तुत कीं। जब समाधान नहीं मिला तब वि. सं. १८१७ में चैत्र शुक्ला नवमी को बगड़ी में संघ से संबंध-विच्छेद कर दिया। अब वे स्वतंत्र हो गए। उनके साथ अन्य १२ मुनि भी संघ से पृथक् हो गए। चारों ओर से विरोध होने लगा। मुनि भिक्षु को रोटी-पानी और आवास न देने का सामाजिक प्रतिबंध किया गया। देने वाले के लिए दंड निर्धारित किया गया। पांच वर्षों तक भरपेट भोजन नहीं मिला। परन्तु मुनि भिक्षु अपने संकल्प पर दृढ़ रहे।

जोधपुर नगर में एक दूकान में भाइयों को सामायिक अनुष्ठान करते देख दीवान फतेहसिंहजी ने उनसे वहां सामायिक करने के कारणों की पूछताछ की। उनको यथार्थ स्थिति की अवगति दी। उस समय दूकान में

तेरह भाई थे। यह सब सुनकर वहां खड़े एक सेवक ने तुम्हें कहा—

साध साध रो गिलो करे, ते तो आप-आपरो मंत ।

मुण्ण्यो रे सहर रा लोकां ! ए तेरापंथी तंत ॥

तेरह मुनि और तेरह श्रावकों का संख्यावाची नाम 'तेरहपंथ' प्रचलित हो गया। आचार्य भिक्षु ने इस शब्द की आचारपरक व्याख्या करते हुए कहा—हे प्रभो ! यह तेरह पंथ है। यह पांच महाव्रत, पांच समितियां और तीन पुष्टियों का पालन करने वाले साधु-साध्वियों का पंथ है। आचार्य भिक्षु किसी नए पंथ का प्रवर्तन करना नहीं चाहते थे। वे तपोनुष्ठान से आत्म-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो रहे थे। नियति ने उनके मार्ग को बदला और तब वे धर्म-प्रचार में लग गए। तेरह मुनियों में से सात अलग हो गए। केवल छह ही रह गए। पर आचार्य भिक्षु को संख्या की परवाह नहीं थी। वे सिद्धांतों पर चलने वाले मुनियों के सहावस्थान के हामी थे। विरोधों और परीषहों से घबराना, असत्य के साथ समझौता करना, वे नहीं जानते थे। चातुर्मास में उनको गांव से निकाल दिया गया। पात्री में दिया दान छीन लिया गया। अनेक व्यक्तियों को झिड़का कर विरोध खड़ा किया गया और गांव-गांव में आचार्य भिक्षु को उस विरोध का सामना करना पड़ा। उस समय के जैन श्रावकों ने अन्य जातिवाले लोगों को भिक्षु के विरोध में खड़ा कर वातावरण में विष घोल दिया। आचार्य भिक्षु सारे विरोध को समभाव से सहन करते हुए अपने गन्तव्य की ओर बढ़ते गए। धीरे-धीरे मार्ग प्रशस्त होता गया। तेरापंथ संघ में अनेक बालक-बालिकाएं तथा स्त्री-पुरुष प्रव्रजित हुए। तेरापंथ धर्मसंघ मरुधर में मंदार वृक्ष की भांति फलने लगा।

आप धर्मक्रांति के सूत्रधार थे। निरंतर विहार करते हुए आप गांव-गांव में दया-दान, सावद्य-निरवद्य, लौकिक-लोकोत्तर धर्म, अनगार धर्म और आगार धर्म आदि तत्त्वों को समझाते रहे। आप औत्पत्तिकी बुद्धि के धनी थे। स्थान-स्थान में धार्मिक तत्त्वचर्चा में आपको उलझना पड़ता। आगमों के आलोक में आप अपने मन्तव्य की पुष्टि करते रहे। हृदय परिवर्तन में आपको अटूट विश्वास था। आगन्तुक व्यक्ति के मनोभावों को पढ़ने में आप निष्णात थे। एक व्यक्ति अन्यथा भाव से आपके पास आया और जिज्ञासा के स्वर में बोला—'महाराज ! घोड़े के पैर कितने होते हैं ?' आचार्य भिक्षु उसके प्रश्न की भावना को समझ कर कुछ उच्च स्वर में गिनने लगे—एक, दो, तीन, चार अरे ! घोड़े के चार पैर होते हैं। आगन्तुक ने तत्काल कहा—मैंने तो सुन रखा था कि आप महान् पंडित हैं, आगमवेत्ता हैं, और आप घोड़े के पैर बताने में एक, दो, तीन गिनने लगे। क्या आपको इतना भी व्यावहारिक ज्ञान नहीं है ? मैं तो और प्रश्न भी पूछना चाहता

था । ' आचार्य भिक्षु बोले—मैं जानता हूँ, तुम क्या कैसे पूछना चाहते थे । यदि मैं तत्काल कह देता कि घोड़े के चार पैर होते हैं तो तुम्हारा अगला प्रश्न होता कि 'कनखजूरे' के कितने पैर होते हैं ? और यदि मैं तत्काल नहीं बता पाता तो तुम होहल्ला कर कह उठते—अरे भीखनजी ! प्रश्न के उत्तर में इतना विलंब क्यों ?' उसने कहा—धन्य हैं आप । मैं अगला प्रश्न यही पूछने वाला था ।'

आचार्य भिक्षु को अपमानित करने के और भी अनेक प्रसंग आए । परंतु इन सब हरकतों को आचार्य भिक्षु ने सहजरूप से लेकर अपमानित करने वालों को भी अपना अनुयायी बना डाला । 'भिक्षु दृष्टांत' ग्रन्थ में दो सौ से अधिक दृष्टांतों में अनेक प्रसंग संदृब्ध हैं, जिनसे स्वामीजी के जीवन प्रसंगों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है ।

धर्मोपदेश तथा साहित्य सृजन के द्वारा आपने अपनी अनूठी धर्म-क्रांति को आगे बढ़ाया । आपने अपने जीवनकाल में ३६ हजार श्लोक परिमाण के राजस्थानी गद्य-पद्य में अनेक ग्रन्थों की रचना की । उनमें इन्द्रियवादी की चौपई, अनुकंपा की चौपई, व्रताव्रत की चौपई आदि अनेक ग्रन्थ आपकी सूक्ष्म मेधा और तर्क-प्रवणता के साक्ष्य हैं । सारा साहित्य 'भिक्षु ग्रंथ रत्नाकर—भाग १, २ में संगृहीत है ।

आपने तेरापंथ शासन की नींव को मजबूत करने के लिए अनेक मर्यादाओं का निर्माण किया । आपने कहा—तेरापंथ में एक आचार्य, एक विचार और एक आचार की परम्परा रहेगी । भावी आचार्य का मनोनयन पूर्ववर्ती आचार्य करेंगे । विहार, चातुर्मास आदि आचार्य के निर्देशानुसार होंगे । आचार्य के कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकेगा । कोई अपना चेला-चेली नहीं बना सकेगा, आदि-आदि ।

आपने अपने उत्तराधिकारी के रूप में मुनि भारीमलजी का मनोनयन किया । उनको इस रूप में पाकर सारा संघ हर्षोल्लसित हुआ । युवाचार्य भारीमलजी अत्यंत विनम्र, पापभीरु, संघनिष्ठ और अर्हत् वाणी के प्रति पूर्ण समर्पित थे । उनकी सहज ऋजुता, मृदुता और विद्वत्ता से संघ प्रभावित था ।

स्वामीजी के शासन काल में उन सहित १०५ व्यक्तियों ने दीक्षा ग्रहण की । उनमें ४९ साधु तथा ५६ साध्वियां थीं ।

आचार्य भिक्षु का अंतिम चातुर्मास सिरियारी गांव में हुआ । उस समय वहां उनके अनुयायियों के सैकड़ों घर थे । उन्होंने कच्ची हाट (दुकान) में चातुर्मास किया । अतिसार के रोग से शरीर आक्रांत हो गया । उपचार चला परन्तु रोग उपशांत नहीं हुआ । भाद्रव मास का शुक्ल पक्ष प्रारम्भ हुआ ! रोग कभी उभरता, कभी शांत होता । उपचार चालू था । लंघन और उपवास का क्रम चलता रहा ।

धीरे-धीरे शरीर शिथिल होता गया। उचित अवसर देखकर भाद्रव शुक्ला द्वादशी को तिविहार संधारा ग्रहण कर लिया। संधारे का वृत्तान्त फैलते ही जनमेदिनी अन्तिम दर्शनों के लिए उमड़ पड़ी। सारा गांव दर्शनाधियों से संकुल हो गया। सर्वत्र जयजयकार होने लगा। लोग इस अलबेले योगी मुनीन्द्र की विविध प्रकार से स्तवना करने लगे। स्वामीजी समभाव में स्थित थे। अपने महाव्रतों, समिति-गुप्तियों की आलोचना कर वे निर्मल हो गए। सभी से क्षमायाचना कर उन्होंने स्वयं को निःशल्य बना लिया।

आप संधारे में आत्म-समाधि में तल्लीन थे। अचानक आपने चार बातें कहीं—(१) जाओ, संत आ रहे हैं। (२) साध्वियां आ रही हैं। (३) गांव में जाकर वैराग्य की वृद्धि हो वैसे उपक्रम करो। चौथी बात सुनाई नहीं दी। कुछ ही समय पश्चात् साधु आ गए, साध्वियां भी आ पहुंची। लोग तथा वहां उपस्थित मुनिगण आश्चर्यचकित थे। अनुमान किया गया कि स्वामीजी को अवधिज्ञान हुआ हो।

भाद्रव शुक्ला त्रयोदशी के डेढ़ प्रहर दिन अवशिष्ट रहने पर आपने सात प्रहर के संधारे में महाप्रयाण कर दिया। एक युगान्तरकारी दिव्य व्यक्तित्व का अवसान हो गया। आपने चवालीस वर्षों तक शुद्ध चारित्र्य की परिपालना की। उस समय आपकी अवस्था ७७ वर्ष की थी और संव में २१ साधु और २७ साध्वियां विद्यमान थीं।

—मुनि कुलहराज

आचार्य भिक्षु से संबंधित महत्त्वपूर्ण वर्ष

जन्म—१७८३ आषाढ़ शुक्ला १३—कंटालिया

द्रव्यदीक्षा—१८०८ मार्गशीर्ष कृष्णा १२—बगड़ी

बोधि प्राप्ति—१८१५—राजनगर

भावदीक्षा—१८१७ आषाढ़ी पूर्णिमा—केलवा

स्वर्गवास—१८६० भाद्रव शुक्ला त्रयोदशी—सिरियारी

आयुष्य विवरण

गृहस्थ—२५ वर्ष

द्रव्यदीक्षा—९ वर्ष

तेरापंथ के आचार्य—४३ वर्ष

सर्व आयु—७७ वर्ष

आचार्य भिक्षु ने सोचा-कहा—

१. आचार्य भिक्षु के संगठन का केन्द्र बिन्दु आज्ञा है। उनकी भाषा में आज्ञा की आराधना संयम की आराधना है और उसकी विराधना संयम की विराधना है। उनके संगठन का शक्ति-स्रोत है आचार। आचार शुद्ध होता है तो विचार स्वयं शुद्ध हो जाते हैं। विचारों में आग्रह या अपवित्रता तभी आती है, जब आचार शुद्ध नहीं होता।
२. आचार्य भिक्षु का सूत्र है—आचारवान् से मिलो, अनाचारी से दूर रहो।
३. श्रद्धा या मान्यता मिले तो साथ रहो, जिनसे वह न मिले उन्हें साथ रखकर संगठन को दुर्बल मत बनाओ।
४. एक ध्येय, एक विचार, एक आचार और एक आचार्य—यह है संक्षेप में आचार्य भिक्षु के संगठन का आंतरिक स्वरूप।
५. जीव जीता है, यह अहिंसा या दया नहीं है। कोई मरता है, वह हिंसा नहीं होती। मारने की प्रवृत्ति हिंसा है और मारने की प्रवृत्ति का संयम करना अहिंसा है।
६. सब जीवों को अपने समान समझो। सब जीवों के प्रति इसी गज और माप से काम लो।
७. बहुतां के हित के लिए थोड़ों के हित को कुचल देना उतना ही दोषपूर्ण है जितना कि थोड़ों के हित के लिए बहुतां को कुचलना।
८. अहिंसा का अंकन जीवन या मरण से नहीं होता। उसकी अभिव्यक्ति हृदय की पवित्रता से होती है।
९. शुद्ध साध्य का साधन अशुद्ध नहीं हो सकता और शुद्ध साधन का साध्य अशुद्ध नहीं हो सकता।
१०. देव, गुरु और धर्म—ये तीनों अनमोल हैं। इन्हें धन से खरीदा नहीं जा सकता।
११. धन से धर्म नहीं होता।
१२. धर्म के साधन दो ही हैं—संवर और निर्जरा या त्याग और तपस्या।
१३. धर्म और अधर्म का मिश्रण मत करो।
१४. बड़ों के लिए छोटों की घात करना पुण्य नहीं है।
१५. गृहस्थ और साधु का मोक्षधर्म एक है।
१६. अहिंसा और दया सर्वथा एक है।
१७. आवश्यक हिंसा अहिंसा नहीं है।
१८. लौकिक और आध्यात्मिक धर्म एक नहीं है।

१९. करना, कराना और अनुमोदन करना एक है ।
२०. धर्म के साथ पुण्य होता है । पुण्य का बन्ध स्वतंत्र नहीं होता ।
२१. लौकिक उपकार और लोकोत्तर उपकार एक नहीं है ।
२२. संयमी को जो दिया जाए, वह दान मोक्ष का मार्ग है और असंयमी को जो दिया जाए, वह दान संसार का मार्ग है ।
२३. अहिंसक सब जीवों के प्रति संयम करता है, इसलिए वह सब जीवों की रक्षा करता है । सामाजिक प्राणी समाज की उपयोगिता को ध्यान में रखकर चलते हैं । वे अपने उपयोगी जीवों को बचाते हैं, अनुपयोगी जीवों की उपेक्षा करते हैं ।
२४. मर्यादा का भाग्य व्यवस्थापक के हाथों में ही सुरक्षित रहता है ।
२५. तेरापन्थ में निर्णायकता के केन्द्र आचार्य होते हैं ।

विषयानुक्रम

ग्यारहवाँ सर्ग

- १-३ पूर्व गुरु आचार्य रघुनाथजी से संबंध-विच्छेद की बात सुनकर राजनगरवासी श्रावकों की प्रसन्नता और अपनी इष्टसिद्धि के प्रति आशान्विति ।
- ४-६ वर्षा-ऋतु का आगमन ।
- ७-१३ केलवा में 'अंधेरी ओरी' का वर्णन ।
- १४ अंधेरी ओरी में चातुर्मास की अवस्थिति ।
- १५-४५ सूर्यास्त का वर्णन, चन्द्रमा का उदय, आकाश की आलोकमयता आदि ।
- ४६-४७ आषाढ़ी पूर्णिमा को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण ।
- ४८-५९ बाल मुनि भारीमाल के सर्प का उपद्रव, आचार्य भिक्षु द्वारा निवारण ।
- ६०-६२ रात्री में यक्ष देव का साक्षात्कार और आचार्य भिक्षु से वार्तालाप ।
- ६३ संतों को जीवित देख लोगों का आश्चर्य ।
- ६४-६६ मंदिर के मंडप में दो वेदिकाओं की इयत्ता ।
- ६७-७० स्वामीजी की स्वाध्याय वृत्ति एवं चर्या ।
- ७१-८६ श्रावक शोभजी के पिता भैरोंजी का स्वामीजी के पास आना-जाना, तात्त्विक विचार-विमर्श तथा प्रतिबुद्ध होकर स्वामीजी की श्रद्धा ग्रहण करना ।
- ८७-८९ भैरोंजी के साथ सारे पौरवासियों ने भी स्वामीजी को गुरु मान लिया ।
- ९०-१३९ जोधपुर में बाजार की दूकान में श्रावकों का पौषघ करना, सचिव फतेहचन्दजी की जिज्ञासा, श्रावकों का उत्तर ।
- १४०-१४९ तेरापंथ का नामकरण तथा आचार्य भिक्षु द्वारा स्वीकरण और उसकी व्याख्या ।
- १५०-१५३ प्रथम चातुर्मास संपन्न कर अन्यत्र विहारी संतों का मिलन, विचार-विमर्श, विचारभेद के कारण सात संतों का विलग हो जाना ।

चौदह

१५४-१५५ छह संतों का आजीवन साथ रहना । उनका नामोल्लेख ।

बारहवां सर्ग

- १-४ नई दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् स्वामीजी का उग्र विहार ।
सत्यक्रान्ति का सर्वत्र स्वागत ।
५-२२ आचार्य रघुनाथजी का आक्रोश, लोगों को बहकाना, लोगों
का विभिन्न रूप से विरोध ।
२३ भिक्षु को रोटी देने का सामाजिक प्रतिबंध ।
२४ मेरी ननद की सामायिक गल जाती है ।
२५-३४ भिक्षु के प्रति दुर्नीति और विरोध ।
३५-३९ रघुनाथजी का मां दीपां से वार्तालाप, दीपां का प्रत्युत्तर ।
४०-४७ भिक्षु द्वारा विरोधों को समभाव से सहना ।

तेरहवां सर्ग

- १-५५ आचार्य भिक्षु के सत्य वचनों के प्रति लोगों की अनुरक्ति ।
आचार्य भिक्षु द्वारा अपनी अन्तर्वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति
और अपने दुःख निश्चय का प्रगटीकरण ।
५६-५८ अपने तथा अपने सहवर्ती संतों के कर्त्तव्य-पथ का निर्देश ।
५९-७२ सभी तीव्र तपोनुष्ठान में संलग्न तथा चर्याविधि ।
७३-७९ तपोनुष्ठान से लोगों के मानस में परिवर्तन तथा आचार्य भिक्षु
के सान्निध्य से बंचित रहने का अनुताप ।
८०-८२ लोगों का यदा-कदा आगमन, तत्त्वचर्चा तथा आकर्षण ।
८३-९५ मुनिद्वय—स्थिरपालजी तथा फतेहचन्दजी का आत्म-निवेदन
तथा आचार्य भिक्षु को जन-प्रतिबोध देने का आग्रहभरा
निवेदन ।
९६-१०८ आचार्य भिक्षु द्वारा जन-प्रतिबोध, लोगों का आकर्षण तथा
अनुयायियों की वृद्धि ।

चौदहवां सर्ग

- १-३ आचार्य भिक्षु का वृद्धिगत उत्साह से धर्मप्रचार में जुट
जाना ।
४-७ ग्रन्थ रचनाओं द्वारा तथा अन्यान्य प्रकार से जन-प्रतिबोध ।
८-४९ जन-प्रतिबोध के माध्यम से जैन दर्शन के सही तथ्यों की
सम्यग् अवगति तथा वैराग्य-वर्धक उपदेशों द्वारा जनता में
वैराग्य-उत्पादकता ।

- ५०-६७ जैन धर्म की विशेषताओं के प्रतिपादन के माध्यम से अनेकान्त
आदि अनेक तथ्यों की स्पष्ट अभिव्यक्ति ।
६८-७१ आचार्य भिक्षु की प्रबोध शैली से अनेक महाव्रती तथा अणुव्रती
बनने का उपक्रम ।

पन्द्रहवां सर्ग

- १ दृष्टान्तों का निरूपण क्यों ?
- २ मुझे पशु बना दिया ।
- ३ मैंने परास्त कर दिया ।
- ४ पाली में दूकान खाली करा दी ।
- ५ साधु का आहार करना अच्छा या बुरा ?
- ६ गुलोजी गादिया ने खेती की ।
- ७ देसूरी का 'नाथो' दीक्षित हुआ ।
- ८ भीखणजी के श्रावक दान नहीं देते ।
- ९ दान-दया का लोप कर डाला ।
- १० प्रतिमाधारी श्रावक को दान देना क्या ?
- ११ पीपाड में मालजी से चर्चा ।
- १२ थारो घणी मरे ।
- १३ साम्नेदारी में पुण्य करें ।
- १४ कथन का विपर्यास ।
- १५ असंयती को दान ।
- १६ मिश्री खाने से मुंह मीठा होगा या नहीं ?
- १७ क्या साधुओं से श्रावक श्रेष्ठ हैं ?
- १८ पापी कौन ?
- १९ मैं अपनी एषणाविधि कैसे छोड़ सकता हूँ ?
- २० जैसा दूंगी, परभव में वैसा मिलेगा ।
- २१ पति का नाम ।
- २२ पात्र से घी सहित घाट ले ली ।
- २३ भक्तों को लापसी खिलाने में क्या होता है ? धर्मसंघ में तीन
ही तीर्थ ।
- २४ मां को लोटा भर पानी पिलाना ।
- २५ एकेन्द्रिय को मारकर पंचेन्द्रिय का पोषण ।
- २६-२९ शुद्ध दया कब ?
- ३० अठारह पापों का त्याग करने से श्रावक भी साधु बन जाता
है ।

सोलह

- ३१ त्याग को तोड़ने में पाप किसको ?
३२ साधु के घृतपात्र में चींटिया मरीं—पाप किसको ?
३३ दिवालिये को भी 'शाह' ही कहते हैं ।
३४ पादु में सामीदासजी के साधु ।
३५ वह दोष निकालता है ।
३६ हिंसा के बिना धर्म नहीं होता ।
३७ सावद्य दान विषयक स्पष्टीकरण ।
३८ पीलिये के रोगी को....
३९-४१ चोर को सहयोग देने वाला....
४२ मुनि क्षांतिविजयजी से चर्चा
४३ मेरा नाम है भीखन
४४ जगू गांधी
४५ दान-दया का स्वरूप
४६ वा बुद्धि किण काम की ?
४७ रात छोटी-बड़ी का कारण
४८ निंदा करने का स्वभाव
बावेचा लोगों का उपद्रव
४९ साधु कौन ? असाधु कौन ?
५० यथार्थ और निन्दा ?
५१ साधु की पहचान
५२ पत्थरनाथ की पूजा
५३ छलनापूर्ण वचन
५४ सभी एक क्यों नहीं होते ?
५५ परुष भाषा का प्रयोग क्यों ?
५६ आंखों की शल्य चिकित्सा
५७ व्रतों का पालन-अपालन
५८ कोयलों की राव
५९-६२ बनी बनाई ब्राह्मणी
६३ गाजीखां मुल्लाखां
६४ सूरदास बाबा
६५ बैलगाड़ी या गधे की सवारी
६६ संज्ञी-असंज्ञी
६७ एक महाव्रत के टूटने पर....

- ६८ चौकीदार और चोरी
- ६९ सचित्त वस्तु का दान ?
- ७० गले में फांसी
- ७१ अनुकंपा की पहचान
- ७२ सर्प को बचाने में क्या ?
- ७३ व्रत और अव्रत
- ७४ घी और तम्बाकू
- ७५ सावद्य दान
- ७६ साभेदारी में चनों की खेती
- ७७ जहाँ पाप वहाँ धर्म नहीं
- ७८, ७९ उपदेश का लक्ष्य—आत्मोद्धार
- ८० आज्ञा-अनाज्ञा
- ८१ नदी पार करना....
- ८२ महाव्रतों का पालन खंडशः नहीं
- ८३ व्रतभ्रष्ट साधु नहीं
- ८४ तीन प्रकार के सिक्के
- ८५ औत्पत्तिकी बुद्धि के यनी
- ८६ संसार का उपकार
- ८७ संसार और मोक्ष का मार्ग
- ८८ अल्प पाप बहु निर्जरा
- ८९ सात उदाहरण
- ९० साध्य-साधन का विवेक
- ९१ नामान्तर से सदोष निर्दोष नहीं होता
- ९२ गुरु की पहचान
- ९३ जीव क्यों तैरता-डूबता है ?
- ९४ वेशमात्र से श्रामण्य नहीं
- ९५ तत्त्वज्ञान की कमी
- ९६ आप प्रिय क्यों ? विरोध क्यों ?
- ९७ मुंह देखने से स्वर्ग नरक
- ९८ पुस्तकीय पांडित्य
- ९९ मेरा जामाता सीधा-साधा
- १०० बैरी कैसे बनता है ?
- १०१ ब्राह्मणों को भोज

- १०२ देपाला भोजक : सिरौही राव की पालकी
 १०३ अतीत को किसने देखा है ?
 १०४ पाली चातुर्मास में हाकिम की युक्ति
 १०५ तुम कितनी भूर्त्तियां हो ?
 १०६ सावध दान में मौन
 १०७ सामायिक को पराना
 १०८ गुण की पहचान होने के बाद
 १०९ कुछ तात्त्विक प्रश्न
 ११० अशुद्ध आहार ग्रहण की स्थापना
 १११ निन्दकों की चालाकी
 ११२ परिग्रह किसका ? कूर्मपुत्र का प्रसंग
 ११३, ११४ यदि ऐसे साधुपन टूट जाए तो.... ?
 ११५ राग-द्वेष की पहचान ।
 साधुओं के बीमारी क्यों ?
 ११६ गहना मजनू ने चुराया है
 ११७ भीखनजी की मान्यता से पति मर गया
 ११८ हाथी के आने पर कुत्ते भौंकते हैं
 ११९ दीक्षा और मोह
 १२० मिश्र की मान्यता
 १२१, १२२ दान में विवेक
 १२३-१२७ अनाज के कण का दृष्टान्त
 १२८ लेने वाले को पाप तो देने वाले को भी....
 १२९ स्वयं की भाषा से स्वयं अनभिज्ञ
 १३० अकल्पनीय वस्तु का दान
 १३१ गेहूं की दाल नहीं
 १३२ समझाने वाले कम
 १३३, १३४ धम्मो मंगल सुनाओ
 १३५ आसोजी ! नींद लेते हो ?
 १३६, १३७ आगे जो पाप-धर्म करेगा वह उसका रहेगा
 १३८ मुनि और गृहस्थ कर्म
 १३९ ज्वरग्रस्त व्यक्ति
 १४० हेतु-दृष्टान्त के प्रयोग क्यों ?
 १४१ बीमारी को सहना

- १४२ स्नेहबंध का दुष्परिणाम
 १४३ छद्मस्थ चूक्या
 १४४ हीरविजयजी को उत्तर
 १४५ व्यंग्य का उत्तर
 १४६ अंधी स्त्री का चक्की पीसना
 १४७ छोटे से छिद्र से अनर्थ
 १४८ दो चार चावल के दानों से परीक्षा
 १४९ जानबूझकर दोष लगाना
 १५०, १५१ पुस्तक-पन्ने जड़
 १५२, १५३ जीव को ऊपर-नीचे कौन ले जाता है ?
 १५४-१५६ दुर्बलता छिपाने के लिए विषयान्तर होना
 १५७-१६० तेरापंथ की दीक्षा से पूर्व की घटना
 १६१ रीयां गांव के हरजीरामजी सेठ
 १६२ आम और घतूरे का वृक्ष
 १६३ ब्रतावती जीवन की पहचान
 १६४-१६६ सांसारिक मोह
 १६७ भृगु के पुत्र
 १६८ सुमार्ग और कुमार्ग
 १६९ विद्वान् व्यक्ति का सोच
 १७०-१७२ दया की रक्षा या चींटी की ?
 १७३ स्थूल ही दिखाई नहीं देता, फिर सूक्ष्म कैसे ?
 १७४ एक बार स्खलना से बार-बार स्खलना
 १७५ अभयदान की महिमा
 १७६ सक्रिय हेतु और निष्क्रिय हेतु
 १७७-१७८ रत्नादेवी का दृष्टान्त
 १७९-१८२ पंचांगों की खरीदी
 १८३-१८८ संसार और मोक्ष का उपकार
 १८९, १९० क्या साधु और श्रावक का धर्म भिन्न है ?
 १९१-१९३ प्रतिबोध संभव नहीं
 १९४, १९५ सभी 'पूर्वा' हैं ।
 १९६ मैं जानता हूं ।
 १९७ दृष्टान्तों की रचना क्यों ?

सोलहवां सर्ग

- १ आचार्य भिक्षु की महान् क्रांति ।
- २-१३ विक्रम की १९वीं शताब्दी के साधु-संतों की स्थिति का वर्णन ।
- १४, १५ आचार्य भिक्षु का शिथिलाचार के प्रति घोष ।
- १६ विनयमूल धर्म ।
- १७-२३ गुरु विषयक ऊहापोह ।
- २४ हठाग्रही न होने का उपदेश ।
- २५ शिथिलाचारी शिष्यों का परित्याग ।
- २६ गुरु-शिष्य के संबंध-विषयक विचारणा ।
- २७-२९ गुणयुक्त गुरु की पूजा-अर्चा ।
- ३०-३८ स्वामीजी के घोष की परिणति ।
- ३९ मूर्ख का लक्षण है मौन ।
- ४०-४३ स्वामीजी की गर्जना और उपदेश ।
- ४४-५७ सम्यक्त्व कैसे आया ?
- ५८-६१ देव, गुरु और धर्म की यथार्थ पहचान ।
- ६२-६६ श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र्य का लक्षण ।
- ६७-६९ क्रांति का परिणाम ।
- ७०-७४ वे तारने वाले कैसे हो सकते हैं ?
- ७५-७६ वैसे गुरु हेय हैं ।
- ७७-७९ आराधनीय आचार्य और मुनि के लक्षण ।
- ८०, ८१ नियम और उपनियम की व्याख्या ।
- ८२-८६ सौत्री और आचार्य की मर्यादा का पालन ।
- ८७, ८८ साधुता की पालना दुर्लभ ।
- ८९, ९० साक्षात् दृष्ट दोषों का कथन ।
- ९१-११४ अकल्प्य, औद्देशिक आदि दोषों का कथन ।
- ११५-१२२ साधु-साध्वियों की एक गांव में रहने की मर्यादा आदि ।
- १२३-१२६ ईर्यापथ का विवेक ।
- १२७ अतिरिक्त उपधि का निषेध ।
- १२८, १२९ आहार विषयक विवेक ।
- १३०-१३५ प्रतिलेखन का विवेक ।
- १३६, १३७ गृहस्थ के भाजन में खाने का निषेध ।
- १३८-१४० पीठ, फलक की सीमा ।
- १४१-१४९ दीक्षा देने का विवेक ।
- १५०-१५३ समारोहों की मीमांसा ।

- १५४ गुणशून्य प्रभु की अर्चा-पूजा ।
 १५५-१५७ अर्चा और पूजा किसकी ?
 १५८, १५९ निन्दक के दोष ।
 १६०-१६३ निन्दा का स्वरूप ।
 १६४-१७१ तपस्या और संथारे का विवेक प्रतिपादन ।
 १७२-१७९ पौषघ में उपकरणों के विनियम, प्रतिलेखन आदि का विवेक ।
 १८०, १८१ धन का त्याग और आदान-प्रदान ।
 १८२ ममत्व विसर्जन ही धन का सच्चा त्याग ।
 १८३, १८४ साध्य-साधन का विवेक ।
 १८५, १८६ निरवद्य कार्यों की शृंखला ।
 १८७ गृहस्थ को आओ, जाओ कहने का निषेध ।
 १८८ उदयभाव न सावद्य और न निरवद्य ।
 १८९-१९२ धन के सदुपयोग और दुरुपयोग की भांति ही शरीर के भी दो कार्य—सावद्य और निरवद्य ।
 १९३ आज्ञा में ही धर्म ।
 १९४, १९५ भाषा का विवेक ।
 १९६-१९८ धर्म और अधर्म का विवेक ।
 १९९ पाप-कार्य और पापमय भाव ।
 २०० द्रव्य हिंसा और भावहिंसा ।
 २०१-२०४ सही पौषघ कौनसा ? पौषघ का परिणाम ।
 २०५-२०८ गृहस्थ मुनियों के माता-पिता के समान कैसे ?
 २०९ भिक्षु के दो वचन ।
 २१०-२१६ मार्ग कब तक चलेगा ? स्वामीजी का उत्तर ।

सतरहवां सर्ग

- १-३ सिरियारी नगर का वर्णन ।
 ४-६ श्रावक हुकमीचन्दजी आछा की प्रार्थना को स्वीकृति ।
 ७, ८ अंतिम चातुर्मास और साथ वाले संतों का नामोल्लेख ।
 ९-१३ स्वामीजी की सिरियारी में पादार्पण और धर्म देशना का प्रभाव ।
 १४ स्वामीजी द्वारा शिष्यों को पढ़ाना ।
 १५ श्रावणी पूर्णिमा का दिन ।
 १६-२१ अतिसार रोग का आक्रमण और उसका प्रतिकार ।
 २२, २३ संवत्सरी पर्व ।
 २४, २५ रोग की उग्रता ।

बाईस

- २६-५६ भाद्रव शुक्ला चतुर्थी के दिन शिष्यों को संबोधन तथा युवाचार्य भारीमलजी के गुणों का वर्णन ।
५७-८७ आचार्य भिक्षु पर आक्षेप और उनका स्पष्टीकरण ।
८८-८९ संतों द्वारा शारीरिक पीड़ा के विषय में पृच्छा और स्वामीजी का उत्तर ।
९०-९९ आत्म-निवेदन और शिष्यों को शिक्षा ।
१०० मुनि रायचन्दजी को मोह-विसर्जन का उपदेश ।
१०१-१०३ मुनि भारीमलजी का आत्म-निवेदन ।
१०४, १०५ स्वामीजी का उत्तर ।
१०६-१०९ सतयुगी का निवेदन और स्वामीजी का समाधान ।
११०-१२३ आत्मलीन स्वामीजी के स्वरूप का निरूपण ।
१२४ ग्रन्थावली का प्रणयन ।
१२५-१२९ शिष्य-संपदा (साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविकाएं) ।
१३०-१३४ आचार्य भिक्षु की संलेखना ।
१३५-१६० त्रिपदी की शरण तथा अतिचार की आलोचना ।
१६१-१७७ क्षमायाचना का उपक्रम आदि ।
१७८-१८३ सम्बत्सरीपर्व की आराधना का पारणक ।
१८४, १८५ मुनि खेतसीजी का अनुरोध और स्वामीजी का उत्तर ।
१८६-१८९ भाद्रवशुक्ला नवमी, दशमी और एकादशी—इन तीन दिनों की चर्या ।
१९०-१९६ भाद्रवशुक्ला द्वादशी के संथारा-ग्रहण की उत्सुकता ।
१९७-१९९ कच्चीहाट से पक्कीहाट में पादार्पण ।
२००-२०२ मुनि रायचन्द्र का स्वामीजी के पास आना, निवेदन करना ।
२०३-२०६ उनकी बात सुन मुनि भारीमलजी से संथारा पचखना ।
२०७ संथारे पर जनभावना का उद्देक ।

अठारहवां सर्ग

- १-२ अनशन के शुभ संवाद से व्याप्त आनन्द ।
३-९ जनता का अविरल आगमन, हर्षातिरेक की अभिव्यक्ति और जनभावों का पवित्रीकरण ।
१०-१३ अनशन के उपलक्ष्य में त्याग-वैराग्य की वृद्धि ।
१४-१७ रात्रीकालीन प्रवचन के लिए भारीमलजी को आदेश और स्वयं द्वारा उसका श्रवण ।
१८-२० विविध स्तवनों द्वारा संगान ।
२१ धर्म-जागरणा से रात बीती ।

- २२-२५ अनशन की सराहना ।
 २६, २७ त्रयोदशी के दिन का व्यतिकर ।
 २८, २९ आचार्य भिक्षु द्वारा चार बातों का कथन ।
 ३०-३७ मुनि बेणीरामजी तथा मुनि कुशलोजी का आगमन और गुरु-
 स्तवना ।
 ३८ तीन साध्वियों का आगमन ।
 ३९ अन्तिम समय में अवधिज्ञान की संभावना ।
 ४० तीन बातों की यथार्थ परिणति । चौथी बात अस्पष्ट ।
 ४१ ध्यानस्थ अवस्था ।
 ४२, ४३ दर्जी का आगमन और उसका कथन ।
 ४४ ध्यानस्थ अवस्था में स्वर्गगमन ।
 ४५-५१ अन्त्येष्टि का संक्षिप्त वर्णन तथा समाधि-मरण की
 विशिष्टता ।

ग्यारहवां सर्ग

प्रतिपाद्य : आचार्य रघुनाथजी से अलग होकर आचार्य भिक्षु ने प्रथम चतुर्मास केलवा (मेवाड़) में किया। अन्धेरी ओरी में मुनि भारमलजी के सर्प का उपसर्ग, भिक्षु का यक्ष से साक्षात्कार तथा जोधपुर में तैरापंथ का नामकरण ॥

श्लोक : १५५

छन्द : उपजाति तथा वसन्ततिलका ।

श्लोक १ से ९२ तथा ११८ से १५५ तक उपजाति छन्द और ९३ से ११७ श्लोक तक वसन्ततिलका छन्द ।

वर्ण्यम्

आचार्य भिक्षु प्रथम चतुर्मास राजनगर करना चाहते थे, किन्तु समय की अल्पता के कारण उन्हें केलवा चतुर्मास करना पड़ा। चतुर्मास का स्थान 'अंधेरी ओरी' मिला। वह स्थान गांव के बाहर चन्द्रप्रभु के मंदिर में था। उस मंदिर के प्रवेश द्वार पर बहुत बड़ा शिलाखंड लगा हुआ था। (आज भी वैसे ही है)। वहां भुके बिना प्रवेश नहीं हो पाता था। 'अंधेरी ओरी' नाम के अनुरूप वह स्थान पूर्ण अंधकारमय था। पहली रात्री में उस मंदिर का अधिष्ठाता यक्ष साक्षात् रूप में प्रगट हुआ। इसी यक्ष ने पूर्वरात्री में सर्प के रूप में बाल मुनि भारमलजी के पैरों में लिपट कर अपने अस्तित्व का परिचय दिया था। चातुर्मास सानन्द संपन्न हुआ। इधर जोधपुर में तेरापंथ का नामकरण हो गया। आचार्य भिक्षु ने अपनी व्याख्यो के अनुसार उसको स्वीकार कर लिया।

एकादशः सर्गः

१. अथाभवद् भावमुनीश्वरोऽद्य, भावेन वन्द्यो गुरुगौरवेण ।

श्रीभिक्षुभिक्षुर्भवनाशकारी, चारित्रचूडामणिरर्चनीयः ॥

अब वे महामुनि भिक्षु भाव मुनीश्वर हो गये । वे भव का नाश करने वाले एवं चारित्र के चूडामणि भिक्षु भावपूर्वक एवं गुरु के वैभव से वंदनीय तथा पूजनीय बन गए ।

२. व्याप्तश्लेषाचारविचारचक्रप्रोत्थापितक्रान्तिविशिष्टपादाः ।

वृत्तं तदीयं श्रुतपूर्विणो ये, श्राद्धास्ततस्ते परमप्रसन्नाः ॥

व्याप्त शिथिलाचार एवं विचारों के प्रति क्रान्ति के विशिष्ट चरण उठाने वाले राजनगरवासी श्रावकगण पूर्व परिचित भिक्षु का समस्त वृत्तांत सुनकर परम प्रसन्न हुए ।

३. निराश्रया आश्रयिणः प्रजाता, गुरोर्विहीना गुरुवन्त एव ।

भावी प्रकाशो जिनशासनस्य, सर्वेष्टसिद्धिः समभूदिदानीम् ॥

उन्होंने सोचा—जो आश्रय-विहीन थे वे आश्रययुक्त हो गए । जो शुद्ध गुरु से विहीन थे वे शुद्ध गुरु-युक्त हो गये । अब निश्चित ही जिन-शासन प्रकाशवान् होगा । अब हमारी तो सर्व इष्टसिद्धि हो ही गई ।

४. नरीनृतच्चन्द्रकिंचक्रवाला, नदन्तभोम्भःपिवं मिष्टरावा ।

मिलद्बलाकाकुलकेलिसाध्ना, लीलागतोद्विध्नितराजहंसा ॥

५. पयोधराधीरसमीरसारा, धाराभिरामा सुरचापवस्त्रा ।

तडिद्विलासैः किरती प्रमोदं, नञ्जी भवन्ती परितः स्फुरन्ती ॥

६. धाराहतस्मेरकदम्बपुष्पनेत्रासमुत्फुल्लितमल्लिकाद्यैः ।

सद्यस्कदीक्षं मुनिपं दिदृक्षुः, किं प्रावृडतेह सुभक्तिकेव ॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

१. चन्द्रकी—मयूर (मयुको बहुलग्रीवो नगावासश्च चन्द्रकी—अभि० ४।३८५ शेष)

२. नभोम्भःपिव—चातक (अभि० ४।३९५)

३. प्रावृडतेह—प्रावृड्+एता+इह ।

उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो वर्षा ऋतु अभी-अभी भावदीक्षा ग्रहण करने वाले मुनिपति भिक्षु को देखने के लिए सेविका के रूप में आई हो। यत्र-तत्र मयूर नाच रहे थे। पपीहे मीठे बोल रहे थे। आकाश में बादल छाए हुए थे और वह क्रीडारत बलाकाओं से युक्त था। इस स्थिति में लीला करने के लिए समागत राजहंस उद्विग्न हो उठे थे। उस समय पानी को धारण करने वाला धीर प्रवन प्रवहमान था। धाराओं से अभिराम इन्द्रधनुषी वस्त्र पहने हुए वह विद्युत् अपने विलास से प्रमोद बिखेरती हुई नीचे झुककर चारों ओर स्फुरित हो रही थी। वह वर्षर्तु धारा से आहत विकसित कंदर्ब पुष्पों के नेत्र वाली तथा प्रफुल्लित मल्लिका आदि से परिपूर्ण थी।

७. रात्रौ रवीन्दुग्रहदीपपादैर्निरस्तसन्त्रस्ततमःशरण्या ।

स्थानस्थशत्रुर्बलवानितीत्या', सर्वे प्रकाशा विगता यतो वा ॥

८. यद् वा स्वशत्रून् सकलप्रकाशान्, जेतुं महिच्छावनिबद्धबुर्गा ।
सकृज्जन्मिन्नापमुहस्तर्भा, कुह्वाः कविष्ठा किमु वा कुमारी ॥

९. अजालिका सारमुधाप्रवर्षिशशाङ्कितात्रीक्षणजातपत्न्याः ।
भियाः परित्राणपरिचुत्तास्वपदोपधामाऽवनकामुकी वा ॥

१०. आतङ्किता मानवजातिजातसङ्घर्षणाघर्षणतोपमर्दः ।
रक्षाधिनी सर्वजिनेन्द्रसौधावृताऽभवद् वा प्रभुसद्वपृष्ठा ॥

११. न कोप्यनङ्गीसद्वन्तरालं, अवेष्टुमिच्छेदितिचिन्तया किम् ।
मुख्यप्रतीहारमुमध्यनीतपुष्टाऽऽयतोन्मत्तशिलाप्रसिद्धा ॥

१२. ये केऽपि तस्यैः निबलेयुरत्र, न जातुचित्तान् ननु जीवयित्री ।
इत्यादिकल्यातिभिर्हररूपा, विभीषयित्री च विचित्रयित्री ॥

१३. अन्धरिक्कीरेतिविभीषमाना, विबापि लोकातिभयावहा सा ।
कथं कथञ्चिन् मिलिता प्रयत्नादेकातिलध्वालधिका लयेन ॥

(सप्तभिः कुलकम्)

[आचार्य भिक्षु चातुर्मास करने के लिए केलवा नगर में आए । विद्वेधियों द्वारा प्रतिकूल प्रचार के कारण उन्हें स्थान की प्राप्ति के लिए अत्यधिक प्रयत्न करना पड़ा ।]

प्रचुर प्रयत्न करने के पश्चात् उन्हें गांव के बाह्यभाग में स्थित एक लघु स्थान मिला। वह 'अंधेरी ओरी' के नाम से प्रसिद्ध था। वह स्थान दिन में भी लोगों के लिए भयावह था। वह 'अंधेरी ओरी' रात्री में सूर्य, चांद, ग्रह, दीपक आदि की किरणों द्वारा निरस्त एवं भयभ्रांत होते हुए अंधकार को ही शरण देने वाली थी। अथवा 'स्थानस्थ शत्रु बलवान् होता है'—ऐसा सोचकर मानो सभी प्रकाश वहां से चले गए। अथवा समस्त प्रकाश रूप शत्रुओं को जीतने के लिए अंधकार रूप दुर्ग का निर्माण कर वह 'अंधेरी ओरी' तमिस्र गुफा की बहिन तथा अमावस्या की छोटी बालिका—सी प्रतीत हो रही थी। उसमें कहीं पर भी जालिका नहीं थी। तथा सार सुधारस को बरसानेवाले एवं शशक लांछन वाले अत्रीपुत्र चन्द्रमा की पत्नी चन्द्रिका के भय से परिधाण-विकल और कहीं पर भी स्थान न मिलने के कारण पलायन कर आई हुई गर्मी को वह स्थान त्राण देने वाला था अर्थात् उस अंधेरी ओरी में भयंकर गर्मी थी। वह अंधेरी ओरी मानवजाति के संघर्षण, उन्पीड़न और उपमर्दन के भय से अपनी रक्षा के लिए मानो चौबीस तीर्थंकर के छोटे-छोटे मंदिरों से संवृत होकर अथवा अपने बचाव के लिए प्रभु के मंदिर के पीछे जा बैठी हो, ऐसा लग रहा था। 'मेरे यहां कोई आना चाहे तो वह पहले भुके बिना प्रवेश नहीं कर सकता'—इसको चरितार्थ करने के लिए मानो मंदिर के मुख्य द्वार के मध्य में एक पुष्ट शिलाखंड स्थापित था। 'जो व्यक्ति इस स्थान में रात्रीवास करता है वह जीवित नहीं रहता'—इस प्रसिद्धि से उग्ररूपवाली, भयदात्री तथा महान् आश्चर्य उत्पन्न करने वाली वह 'अंधेरी ओरी' थी।

१४. मृत्योरभीको हृतजीविताशो, मोक्षैकसम्बन्धितदिव्यदृष्टिः ।

निस्त्रिशधारोपमसंयमार्थी, न्युवास तत्रैव जितेन्द्रियोऽसौ ॥

मृत्यु के भय से निर्भीक, जीने की आशा से विप्रमुक्त, केवल मोक्ष के प्रति अपनी दिव्य दृष्टि को सम्बन्धित रखने वाले, तीक्ष्ण खड्गधारा से उपमित संयम के अर्थी तथा जितेन्द्रिय वे महापुरुष आचार्य भिक्षु अपना चातुर्मास बिताने के लिए वहां 'अंधेरी ओरी' में ठहर गए।

१५. उद्योतकं सौकृतविष्टपस्य, स्वतोप्युदात्तातिशयोपपेतम् ।

दृष्ट्वा प्रकाशप्रकरातिदेशात्, किरन् प्रमोदं च निजान्तरीयम् ॥

१६. मध्येम्बरं स्फूर्जदशेषतेजाः, स्थितः सहस्रान् स्वकरान् वितत्य ।

यदंतिंयुगं युगतारकाहं, स्पृष्टुं समुत्कः किमु पद्मबन्धुः ॥

(युगमम्)

तब सुकृत के जगत् को उद्योतित करने वाले एवं अपने से भी उदात्त अतिशययुक्त भिक्षु को देखकर सूर्य प्रकाश समूह के मिश्र से अन्तःस्थित प्रमोद को बिखेरता हुआ अत्यन्त तेजस्वी बनकर अपनी हजारों किरणों को एकत्रित कर आकाश के मध्य स्थित हो गया । वह युगतारक पुरुष के चरणयुग्म का स्पर्शन करने के लिए उत्कण्ठित हो रहा था ।

१७. संस्पृश्य पादाब्जयुगं तदीयं, मुखारबिन्दं प्रविलोक्य लोक्यम् ।

तस्मात्स्वतृप्तो जगतां शरण्यान्, महामुनीन्द्रादतिदुर्लभाच्च ॥

उन महापुरुष के चरणयुग्म का स्पर्शन कर सूर्य उनके दर्शनीय मुखार-बिन्द को देखकर जगत् के शरणभूत एवं अति दुर्लभता से प्राप्त होने वाले उन महामुनि के दर्शन से तृप्त ही नहीं हो रहा था ।

१८. परन्तु खिन्नो द्विषतां प्रचारात्, स्थेयं न मेऽत्रेति विचिन्त्य तूर्णम् ।

मन्दादरं तान् परिदशयन् स, यियासुरस्ताचलमूलचूलम् ॥

परन्तु विद्वेषियों के जघन्य प्रचार से मानो उसने खिन्न होकर सोचा—अब मुझे यहाँ नहीं रहना चाहिए । ऐसा सोचकर वह शीघ्र ही उन विद्वेषियों का अनादर करता हुआ अस्ताचल पर्वत की मूल चूला पर जाने का इच्छुक हो गया ।

१९. कोपादिवारक्तमुखारबिन्दो, वश्यान् वयस्थान् व्यवसायशीलान् ।

मरीचिपुत्रानिव कान्तिपुत्र्या, पितेव तस्मात् स समाबुहाव ॥

जैसे पिता अपने अनुशासन में रहने वाले व्यापार कुशल तरुण पुत्रों को विद्रोहियों के भय से प्रवास से बुला लेता है, वैसे ही सूर्य भी मानो विद्वेषियों के प्रचार से कुपित होकर अपना मुख अरुण करता हुआ अपने वश में रहने वाले एवं व्यवसाय करने वाले अपने तरुण किरणों रूप पुत्रों एवं कातिरूप पुत्रियों को बुला लिया अर्थात् अपने में समेट लिया ।

२०. कलङ्कितानां समयोऽद्य यद् वा, तदाश्रितानामकलङ्कितोऽहम् ।

श्रेयान्नवासस्त्वितियामि यस्मात्, संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ।

सूर्य ने सोचा—अभी कलङ्कितों का अथवा उनके आश्रित रहने वालों का समय है, ऐसी स्थिति में मेरे जैसे अकलङ्कित का यहाँ निवास करना श्रेय नहीं है, इसीलिए मैं जा रहा हूँ । क्योंकि संसर्ग से ही दोष एवं गुण उत्पन्न होते हैं ।

२१. निजात्मनेऽसत्यदलं विहातुर्द्वीपान्तरेष्यस्य समोऽस्ति किं नो ।

गवेषयामीति विचारणामिस्त्विषांपतिर्याति परान्तरीपम् ॥

अथवा अपने आत्महित के लिए असत्य पक्ष का त्याग करने वाले इस भिक्षु जैसा कोई महापुरुष दूसरे द्वीप में है या नहीं इसका अन्वेषण करूँ—ऐसा विचार कर मानो सूर्य अन्य द्वीप में चला गया ।

२२. ततोम्बरं तिग्मरुचा व्यमोचि, सायं सहायातिगमैक्ष्य किं वा ।

लुलुष्ट लुण्टाकवरः प्रदोषचौरो हि नीत्वाऽस्तगिरेर्गुहान्तः ॥

जब सूर्य ने आकाश को छोड़ा तब उस संध्या के समय में उसका कोई भी सहयोगी नहीं है, ऐसा देखकर मानो वह लुटेरा प्रदोष रूप चोर उस सूर्य को अस्ताचल पर्वत की गुफा में ले जाकर लूट लिया ।

२३. अदृश्यभावं प्रगतः पतङ्गो, निजप्रतीचीदयिताग्रहेण ।

पत्या प्रतीच्याः सुमनोहरत्वात्, किमेष कुत्राप्यपलापि पाश्वे ॥

जब सूर्य अदृश्य हो गया तब पश्चिम दिशा को वह सूर्य अत्यन्त मनोहर लगा, इसीलिए पश्चिम दिशा का स्वामी अपनी प्रतीची रूप स्त्री के आग्रह से उस सूर्य को अपने पास में कहीं छिपा कर रख लिया ।

२४. सायं शकुन्ता हृतभक्षणास्तत्, प्रदोषतो नीडसनीडभाजः ।

कोलाहलन्तो नभगं सगोत्रं, दिदृक्षयाऽगेधिव तत्पुरुचः ॥

सायंकाल के समय सभी पक्षी अपने-अपने नीड में आ गए । वे खान-पान का परिहार कर कोलाहल करने लगे और अपने सगोत्री सूर्य को देखने की इच्छा से ऊँचे वृक्षों पर जा बैठे ।

२५. तद्दर्शनेनैव बभूव सन्ध्या, रागेरबन्ध्याऽतिशयेविचित्रः ।

क्षणेन तद्द्वेषिविलोकनेन, विरागतां तां प्रगता प्रखिन्ना ॥

उस अस्तंगत होते हुए सूर्य को देखने मात्र से उस संध्या ने अतिशय विचित्र लालिमा को धारण कर लिया । परन्तु अगले ही क्षण सूर्य के विद्वेषी चन्द्रमा को देखकर मानो वह खिन्न होती हुई राग रहित हो गई, लालिमा से विहीन हो गई ।

२६. विलोप्य सान्ध्यं विततं विलासं, तमोभिरन्ने प्रसूतिवितेने ।

बेलां समासाद्य मलीमसाः स्वां, तितिक्षवो नैव परोदये ते ॥

१. सूर्य और पक्षी—दोनों का नाम है—खेचर । इसलिए ये सगोत्री हैं ।

तब अंधकार संध्या के विस्तृत लीला विलास का लोप कर आकाश में चारों ओर फैल गया। क्योंकि मलिन हृदय को धारण करने वाले अपनी स्वार्थ साधना में तत्पर रहते हैं और वे दूसरों के उदय को सहन नहीं करते।

२७. गोपे गते धानुश्चिते न्यराज्ञि, बिलोक्य लोके यदराजकत्वम् ।

जगत् समग्रं स्वनिरर्गलत्वादुपाद्रवदस्युरिवान्धकारः ॥

जब सूर्य अस्त हो गया और किसी अन्य राजा का उदय नहीं हुआ, संसार में ऐसी अराजकता देखकर मानो अंधकार ने चोर की भांति बे-रोक-टोक समूचे संसार को उपद्रुत कर डाला।

२८. नभः कियद् वा कियती धरित्री, ध्वान्तः प्रमातुं परितः किमेषः ।

अस्मिन् धराकाशतले विशाले, कुतूहलाद् व्यापकतामितोऽयम् ॥

आकाश वज्र है या पृथ्वी—इसका प्रमाण ज्ञात करने के लिए मानो अन्धकार कुतूहलवश पृथ्वी और आकाश के कोने-कोने में व्याप्त हो गया।

२९. त्यक्त्वान्नपानं गिरिगह्वरादौ, नित्यं तपोऽकार्यञ्चिकारभावं ।

वियद्धराव्यापकसिद्धिरेषा, प्राप्ता तमस्तोममहर्षिणाऽतः ॥

इस अंधकाररूपी महान् ऋषि ने आहार-पानी का त्याग कर, गिरि-गुफाओं में शुद्ध भावों से नित्य तप पाया है। इसीलिए इसको आकाश और धरा में व्याप्त होने की सिद्धि प्राप्त हो गई है।

३०. तदन्धकारः प्रससार विष्वङ्, मिथ्यात्ववद् मध्यहृदीव तत्र ।

तद्दर्शनार्थो^१व^२ तमो विलुम्पन्, राकेन्दुरुद्गच्छति तारकाध्रे ॥

जैसे संसारी प्राणी के हृदय में मिथ्यात्व फैल जाता है वैसे ही अंधकार भी समस्त संसार में फैल गया। तब भिक्षु के दर्शन के लिए ही मानो अंधकार का लोप करता हुआ चन्द्रमा ताराओं से जगमगाते हुए आकाश में उदित हुआ।

३१. विदीपिरेऽन्नाध्वनि धौतधूलौ, देदीप्यमानोऽविमिश्रिताराः ।

कान्ते समेते शशिनीव रात्र्या, मार्गे विकीर्णा कुसुमावलीयम् ॥

१. तस्य भिक्षोः ।

२. उल्लः—किरण (रोचिरुल्लरुचि—अभि० २।१३)

तब नीरज आकाश-मार्ग में किरणों से मिश्रित देदीप्यमान तारे शोभित होने लगे । ऐसा लग रहा था मानो रात्री ने आते-हुये अपने पति चंद्रमा के पथ में फूल ही फूल बिछा दिये हों ।

३२. द्यावापृथिव्योनिभूतं पदव्योर्मंदोद्धूरं ध्वान्तमरि विजेतुम् ।

राजानमायान्तमवेत्य विज्ञास्ताराः स्थिताः किं पृतनोपमानाः ॥

अब अपना स्वामी—निशापति चन्द्रमा आने वाला है इसीलिए पृथ्वी एवं आकाश में व्याप्त, अत्यन्त विस्तृत अंधकार रूपी शत्रु को जीतने के लिए मानो वे विज्ञ तारे सैनिकों की तरह आकाश में दिखाई दे रहे थे ।

३३. भिक्षोरुपास्त्यं समुपाधियासोः, प्रागेव राज्ञः सुतरां प्रकृत्या ।

स्थातुं च हीराञ्चितमासनं किं, विस्तरितं तारकिताभ्रदम्भात् ॥

ऐसा प्रतीत हो रहा था कि ताराओं से व्याप्त नभ के बहाने भिक्षु के उपासनार्थ आये हुये अपने स्वामी चन्द्रमा के लिए मानो प्रकृति ने हीरे जटित आसन ही बिछा दिया हो ।

३४. महर्षिभिक्षोश्चरणानुरागान्, मालां परिस्फोरयतोऽम्बरस्य ।

करात् सुधांश्वागमनोत्सुकत्वात्, किं तत्त्रुटत्सन्मणयो हि ताराः ॥

ऐसा लग रहा था कि महर्षि भिक्षु के चरणानुराग से माला फेरते हुए आकाश के हाथ से, चन्द्रमा के आने की उत्सुकता में, माला टूट गई हो और सारे मनके ताराओं का रूप धारण कर आकाश में चमक रहे हों ।

३५. शुन्यं त्वशून्यं भवितुं विहायो, मथ्नाति किं तस्य यशःसुधाब्धिम् ।

ततः कणास्तस्य समुच्छलन्तः, कीर्णा हि ते ते खलु तारताराः ॥

यह शून्य आकाश अशून्य बनने के लिए आचार्य भिक्षु के यशःसमुद्र का मंथन कर रहा था । मंथन करते समय जो कण ऊपर उछले शायद वे कण ही ताराओं के रूप में आकाश में चमक रहे थे ।

३६. नीलाम्बरः पुष्कर एष वृद्धः, स्वर्दण्डबन्दी ह्यमरत्वकाङ्क्षी ।

भिक्षोः पुरो भिक्षुकवृत्तितोऽगान्, नक्षत्रमालामवलम्ब्य कण्ठे ॥

यह वृद्ध आकाश मानो नीलाम्बर को धारण कर, स्वर्दण्ड हाथ में ले, नक्षत्र रूप माला को गले में धारण कर अमर बनने का अभिलाषी होता हुआ भिक्षुकवृत्ति से आचार्य भिक्षु के पास आकर खड़ा हो गया हो ऐसा प्रतीत हो रहा था ।

३७. अथो शशाङ्कोपि हृतापशङ्कः, प्राचीगृहे स्नातविलिप्तदेहः ।

कलाभिरच्छाभिरतीवसज्जस्तद्दर्शनार्थं किमरं चकास्ति ॥

तब चन्द्रमा भी समस्त आशंकाओं को छोड़, प्राची दिशा रूप स्नानगृह में स्नान कर, अपने शरीर पर चन्दनादि का लेपन कर सम्पूर्ण कलाओं से सुसज्जित होता हुआ मानो स्वामीजी के दर्शन के लिए शीघ्र ही आकाश में द्योतित होने लगा ।

३८. तद्दर्शनोद्भूतसुमुद्विभूतिर्माता न यान्तः किमु तेन तेन ।

ज्योत्स्नामिवात् सा सकले विकीर्णा, विश्वम्भराऽतो धवला प्रवृत्ता ॥

आचार्य भिक्षु के दर्शन से चन्द्रमा ने जो हर्ष की विभूति उत्पन्न की थी वह अपने हृदय में समाविष्ट नहीं कर सका तब चन्द्रिका के मिष से उस विभूति को मानो चारों ओर फैला दिया । इसीलिए तो यह समूचा संसार धवलित हो रहा था ।

३९. विकल्पयन्ते वसुधास्पृशस्ते, किमैव सैवास्ति च चण्डरोचिः ।

भावानगारस्य यदस्य दृष्टेरचण्डरोचिः समभूत् प्रशान्त्या ॥

जब चन्द्रमा का उदय हुआ तब (उसको कुछ-कुछ लाल देखकर) लोग ऐसी कल्पना करने लगे—क्या यह वही चण्डरोचि—सूर्य है जो अभी-अभी अस्त हुआ था ? लगता है, इन भाव अनगर के दर्शन से यह अचण्डरोचिः एवं प्रशांत-सा दिखाई पड़ रहा है ।

४०. द्रष्टुं किमेतं नतमस्तकाया, ऐन्द्रया ह्यलीकापितचान्द्रपौण्ड्रः ।

स्रस्तो धियाजोचरवायुवेगेः, प्रोद्धीयमानो गगने स एव ॥

स्वामीजी के दर्शन के लिए नमन करती हुई इन्द्राणी के भाल पर स्थित कपूर का गोल तिलक नीचे गिर गया हो और वही तिलक अलक्ष्य वायु वेग से उड़ता हुआ मानो चन्द्रमा के रूप में नजर आ रहा हो ।

४१. सुधा सदाऽऽशात् परिनिष्ठिता या, सुधाशनेभ्यस्तदभीप्सितेभ्यः ।

अयं सुधासुरभवत् सुधाया, अक्षीणकुम्भो हि यतः प्रभावात् ॥

निरन्तर अमृतपान करने से अमृत समाप्त हो गया था तब अमृत की इच्छा करने वाले देवताओं के लिए महानुभाव (आचार्य भिक्षु) के प्रभाव से यह चन्द्रमा ही अक्षय अमृतकुण्ड बन गया था ।

४२. दृष्टेव खे नन्मुदस्तमिन्द्रैश्छत्रं विदण्डं पवमाननुन्नम् ।

यद् वाऽलक्ष्म्याः स्फुरदात्मदर्शो, यद्वा सुधापात्रमिवेङ्गमेव ॥

१. इङ्गं—चलत् ।

स्वामीजी के दर्शन के लिए मानो इन्द्र ने अपना छत्र नीचे रख दिया हो और वही छत्र दण्ड से अलग हो हवा से प्रेरित होकर आकाश में उड़ता हुआ चन्द्र के रूप में चमक रहा हो ! अथवा यह आकाश-लक्ष्मी का दर्पण एवं चलता-फिरता सुघा का कुण्ड हो !

४३. स्वजीवनाशं तपनेन्दिरां तां, विज्ञाय नष्टां भयतः स्विकायाः ।

ततो सहन्त्या हसनं रजन्याश्चकास्ति वा चन्द्रमसोऽम्बरे किम् ॥

मेरे भय से यह सूर्य की लक्ष्मी नष्ट हो गई है, यह देखकर मानो रजनी हंस पड़ी । मानो वह हास्य ही आकाश में चन्द्र के रूप में चमक रहा हो !

४४. किं चन्द्रचूर्णैर्बसुधा प्रपूर्णा, मुक्ताफलोघैर्भटिता च किं वा ।

पीयूषपूरः किमुवाभिषिक्ता, किं कौमुदीभिर्धवलीकृता भात् ॥

कौमुदी से धवलित धरा को देखकर यह लग रहा था मानो प्रकृति ने मुनि के भाव चारित्र की खुशियों में कर्पूर से या गोशीर्ष चन्दन से धरा को लीप दिया हो अथवा मुक्ता फलों से उसे जटित कर दिया हो या पीयूष पूर से अभिषिक्त कर दिया हो ।

४५. दीपाङ्गजातस्य सुवृत्तचारुयशोविलासैः परितः स्फुरद्भिः ।

चन्दोज्ज्वलैश्चन्वितचन्द्रिकाभिर्द्यावापृथिव्यौ निभृते विभातः ॥

दीपाङ्ग के चारों ओर स्फुरित चन्द्रमा के समान उज्ज्वल शुद्ध-साधुत्व के यशोविलास के साथ-साथ देदीप्यमान चन्द्रिका से धरा एवं आकाश—दोनों उद्योतित हो रहे थे ।

४६. अथः शुचेर्मासिकपूर्णिमाया, आवश्यकं भावविधेर्विधाय ।

क्षमापनां च क्षमणं समस्तैः, प्रदर्शनोन्मुक्तविवेकशुद्ध्या ॥

तब स्वामीजी ने आषाढ शुक्ला पूर्णिमा की रात्रि में विधिपूर्वक भाव आवश्यक संपन्न कर, प्रदर्शन रहित एवं विवेक की शुद्धि द्वारा समस्त जीवों से 'खमतखामणा'—क्षमायाचना की और सबको क्षमा प्रदान की ।

४७. बाह्यैः प्रकाशैः प्रमथोत्थितैः किं, क्षणं क्षणं घोरवधो हि येभ्यः ।

भगवन्मथित्युल्लविमिश्रसम्यग्ज्ञालोकमालासु विराजमानः ॥

हिंसा से उत्पन्न एवं हिंसामय बाह्य प्रकाश से क्या ? इससे तो प्रतिक्षण घोर वध ही होता है । इसीलिए आचार्य भिक्षु झिलमिल करती हुई किरणों से मिश्रित सम्यग् ज्ञानरूप आलोकमाला में ही विराजमान हो गए ।

४८. मुहूर्त्तमात्रे दिवसेऽवशेषे, निरीक्षिते प्रायुक्ततामये च ।
परस्परारम्भविमुक्तदोषे, शास्त्रोपदिष्टं विधिभिर्विमुद्रे ॥

४९. बहिःप्रदेशे निशिभारिमालोजगत् परिष्ठापयितुं सयत्नः ।
गोमूत्रिकावत् परिमृज्य सम्यक्, व्युत्सृज्य तस्य प्रतियातुरेव ॥

५०. जिहासुरन्तविषमुग्रमुग्रं, गरुमताऽऽतङ्कितशङ्कितो वा ।
शरण्यशून्यः शरणाभिलाषी, विज्ञाय विज्ञः शरणाय साधु ॥

५१. चारित्र्यपावित्र्यसुगन्धवृन्दात्, किं चन्दनं चारुतरं प्रबुध्य ।
चन्द्रातपच्छद्यतया स्वरत्नप्रकाशपुञ्जं प्रकिरन् समन्तात् ॥

५२. शुक्लोल्लसन्ध्यानधुरीणपादे, कषायवद् दैविकसम्प्रयोगात् ।
नागेन्द्रनाथः किमुतांहिसंस्थः, संवेष्टय यद्वा शिशुषत् स्वपित्रोः ॥
(पञ्चभिः कलापकम्)

एक मुहूर्त्त दिन अवशिष्ट रहने पर परिष्ठापन भूमि का प्रतिलेखन किया जाता है— जो स्थान हिंसा आदि दोषों से रहित और शास्त्रोपदिष्ट विधि से विशुद्ध हो, वही स्थान परिष्ठापन योग्य होता है । रात्रि में बालमुनि भारीमलजी प्रस्रवण प्रतिष्ठापन करने के लिए यतनापूर्वक स्थान से बाहर गए । प्रतिष्ठापन भूमि का रजोहरण से प्रमार्जन कर, वहाँ गोमूत्रिका की भाँति परिष्ठापन कर वे स्थान में लौट रहे थे । उस समय एक सर्प मानो अपने अन्तर् में रहे हुए उग्रतम विष को छोड़ने की इच्छा से अथवा गरुड़ के भय से आतंकित या शंकित होता हुआ अथवा शरणशून्य वह शरण प्राप्त करने की इच्छा से उस बालमुनि को शरण देने वाला जानकर तथा उसके चरणों को पवित्र चारित्र्य की सुगन्धी से सुगन्धित सुंदर चन्दन की शाखा मानकर, उसमें प्रलुब्ध होकर चांदनी के मिष से अपने मणिरत्न के प्रकाशपुञ्ज को चारों ओर विस्तृत करता हुआ वह सर्प शुक्लध्यान में लीन मुनि भारीमल के पैरों में अपने दैविक संप्रयोग से वैसे ही लिपट गया जैसे आत्मा के साथ कषाय या पिता के चरणों में बालक ।

५३. समागतोऽतो न कथं स यातश्चित्ते द्यतर्कीति मुनीश्वरेण ।
उत्थाय तं द्रष्टुमुपागमत् स, वात्सल्यतामूर्तिरिवाऽऽर्चयः ॥

सर्प के अवरोध के कारण मुनि भारीमलजी आगे नहीं बढ़ सके । आचार्यः भिक्षु ने मन ही मन सोचा—अरे ! अभी तक बाल मुनि क्यों नहीं लौटे ? ऐसा सोचकर वात्सल्य की प्रतिमूर्ति आचार्य वहाँ से उठे और अपने शिष्य को देखने के लिए बाहर (द्वार तक) आए ।

५४. अच्छामिकायं समुपस्थितं तं, विलोक्य सारचर्ममिदं कमाधे ।

भो भोः ! कथं त्वं स्थितवानिदानीमच्छामिकायामिह कल्पते को ॥

उन्होंने देखा कि बाल मुनि खुले आकाश (अच्छायां) में खड़ा है । उन्हें आश्चर्य हुआ । वहीं खड़े-खड़े उन्होंने कहा—‘वत्स ! तुम खुले आकाश में क्यों खड़े हो ? ऐसे खड़े रहना साधु का आचार नहीं है ।’

५५. सोऽवक् कथं यामि भुजङ्गराजः, पदोः स्थितो मे परिवेष्टनेन ।

भुत्वा त्वमस्काहमवाप भिक्षुरचिन्ति चित्ते चकितेन तेन ॥

आचार्य भिक्षु की बात सुनकर मुनि भारमलजी बोले—आर्यवर्य ! मैं कैसे आऊँ ! मेरे पैरों में सर्पराज लिपट गया है । यह सुनते ही स्वामीजी चौंक पड़े और विस्मित से होते हुए मन में सोचने लगे—

५६. अहोऽस्य बालस्य विशालधैर्यमहोपसर्गादपि निष्प्रकम्पः ।

स्थितो धरायामिव धैर्यशैलो, वा मूर्तिमात्स्न्यान्तरसो रसेशः ॥

‘अहो ! कितना विशाल धैर्य है इस बालक का जो ऐसे महान् उपसर्ग में भी निष्प्रकम्प और धरा पर धैर्यरूपी पर्वत की भांति स्थिर है, शांत है । ऐसा लगता है मानो सभी रसों का स्वामी आन्तरस ही मूर्तिमान् होकर खड़ा हो ।’

५७. प्रोचे तदा तं व्रतिनां मघोना, नैवं विधेयं पवनाश ! वासी ।

नेहेष्यते चेच्च वयं निषिद्धास्तिष्ठामसवो नो क्षणमात्रमत्र ॥

तब मुनियों के अधिपति आचार्य भिक्षु ने सर्पराज को संबोधित कर कहा—‘सर्पराज ! आप यहां के निवासी हैं । यदि हमारा रहना आपको इष्ट नहीं है और आप यदि निषेध करते हैं तो हम यहां क्षण भर भी नहीं रहेंगे ।’

५८. ततः सतैः संभृतसर्वसारसमङ्गलोच्चैः परमेष्ठिमन्त्रः ।

ससर्पं सर्पः परिमुच्य पादौ, यथातिभक्तः परिवृत्य बन्धौ ॥

ऐसा कहकर आचार्य भिक्षु ने पूर्वों के साररूप एवं समस्त मन्त्रों में परम उच्चः परमेष्ठि मन्त्र तथा मंगलपाठ खच्चबोध से उस सर्प को सुनाया । नमस्कार मन्त्र सुनते ही वह सर्प मुनि के चरण-युगल को छोड़कर परमभक्त की भांति वंदन कर चला गया ।

५९. अन्धारिकायामपवारिकायां, ततः समागान् मुनिभारीमासः ।

अन्येषु सुप्तेषु मुनीशपाश्वर्ये, स एव देवः प्रकटीबभूव ॥

सर्प के जाने के बाद मुनि भारमालजी अन्धेरी ओरी में आ गये । जब सभी संत सो गए तब वही सर्प देवरूप में महामुनि भिक्षु के समक्ष प्रकट हुआ ।

६०. स्वरूपमावेष्ट न्यवीवदत् स, विराजतामत्र महानुभावः ।।

प्राग्भारपुण्योपफलंविना क्व, भवादृशां सत्यदृशां सुयोगः ॥

तब देव ने अपना परिचय देते हुए कहा—‘हे महानुभाव ! आप यहीं विराजें । आप जैसे सत्यद्रष्टा महापुरुषों का योग पूर्वार्जित पुण्यफल के बिना प्राप्त नहीं हो सकता ।’

६१. कृतं च सह्यं मम पूज्यपूज्य ! त्वया मुनीन्द्रेण सुररूपास्यः ।

प्रणंजमत् सोऽतिविवेकमक्त्या, विद्योत्तयन् द्योतितदेहदेसैः ॥

६२. कार्यं परिष्ठापनकार्यमत्र, क्षेत्रे कियत्येव न मन्दिरेऽस्मिन् ।

विज्ञापनं श्वो भविता तदर्थमित्थं समुत्सृज्य तिरोहितः सः ॥

(युग्मम्)

‘आप देवपूज्य और पूजनीय व्यक्तियों के लिए भी पूजनीय हैं । आप मेरे द्वारा किए गए अपराधों के लिए मुझे क्षमा करें ।’

यह कहकर उस देव ने परम विवेक और भक्ति से आचार्य भिक्षु को नमस्कार किया और अपने दीप्तदेह से स्थान को प्रकाशित करता हुआ बोला—‘मुनिवर्य ! इस मंदिर के कितने क्षेत्र में परिष्ठापन आदि नहीं करना है, इसकी ज्ञप्ति आपको कल हो जाएगी’—यह कहकर वह देव आंखों से ओझल हो गया ।

६३. निषेधरेखां प्रबिलोक्य भिक्षुनिरोधयामास परास्तदर्थम् ।

प्रातः सजीवानुपलक्ष्य तास्तांश्चित्रीयमाणाः खलु तत्पुरस्थाः ॥

प्रातःकाल हुआ । मन्दिर के परिसर में देव द्वारा खींची गई निषेध-रेखा को देखकर आचार्य भिक्षु ने अन्यान्य मुनियों को रेखा के इस पार परिष्ठापन करने का निषेध कर दिया । सूर्योदय के समय पुरवासियों ने संतों को जीवित देखा और वे आश्चर्यचकित रह गए ।

६४. अनुश्रुतेविश्रुतमत्रवृत्तं, विश्वासयोग्यं विवृणोमि किञ्चित् ।

प्रधानदेवालयगोपुरस्य, बाह्ये ह्यभूतां वरवेदिके द्वे ॥

अब मैं अनुश्रुत कुछ विश्वास योग्य घटनाओं का उल्लेख करता हूँ ।
उस प्रधान देवालय के गोपुर के बाह्यभाग में दो वेदिकाएं थीं ।

६५. एका च सव्ये ध्यलसद् द्वितीया, सव्येतरे मन्दिरमण्डपेषु ।

वेद्यां विना त्वामिह दक्षिणस्यां, स्थेयं न चान्यैरपि वामिकायाम् ॥

मन्दिर के मंडप में एक वेदिका बाईं ओर तथा दूसरी वेदिका दाईं ओर थी । देव ने आचार्य भिक्षु से कहा—आचार्यवर ! दाईं ओर की वेदिका पर आपके अतिरिक्त कोई न बैठे और बाईं ओर की वेदिका पर तो कोई बैठे ही नहीं ।

६६. यदा यदोषामु वितर्दिकायां, स्वाध्यायकर्ताऽभवदायं एषः ।

तदा तदाऽसौ वरिवस्यया च, वेदीं परामध्यवसत् सुरोऽपि ॥

जब-जब स्वामीजी उपाकाल में दाईं वेदिका पर बैठकर स्वाध्याय करते तब बाईं वेदिका पर बैठकर देव भी उनकी उपासना करता था ।

६७. रंरम्यमाणोऽच्छमहाव्रतेषु, मरालसन्नाडिव मानसेषु ।

विरम्यमाणोऽपगुणः समस्तेहंसो यथा पल्लवपङ्कपङ्कः ॥

वे महामुनि महाव्रतों में वैसे ही रमण करने लगे जैसे मानसरोवर में राजहंस और वे सभी प्रकार के दोषों से वैसे ही दूर रहने लगे जैसे गढे के कर्दम से हंस ।

६८. सद्बोधसद्ध्यानविधौ निमग्नः, सुधापयोधाविव मत्स्यराजः ।

आत्मैकसंसाधनसिद्धसिद्धो, विबद्धशुद्धात्मविशुद्धलक्ष्यः ॥

वे महायोगी सद्ज्ञान एवं सद्ध्यान में वैसे ही निमग्न रहने लगे जैसे क्षीर समुद्र में मत्स्यराज । वे एकमात्र आत्मविशुद्धि के लक्ष्य से बंधे हुए थे । वे आत्मसिद्धि की साधना में सिद्धहस्त हो रहे थे ।

६९. सभिक्षुभिक्षुर्गुणभिक्षुरेष, रेजे विरेजे परमात्मयोगी ।

सन्तोऽपि सर्वे समशीलशीला, आराधनायां मुक्ततस्य लीनाः ॥

वे भिक्षु-गुणों के ही भिक्षुक थे । वे परम आत्मयोगी थे, विरक्त थे, इसीलिये ही तो सर्वत्र शोभायमान हो रहे थे । साथ वाले सभी संत वैसे ही समान शील—आचार वाले तथा सुकृत की आराधना में ही तल्लीन रहने वाले थे ।

७०. दिनोदये संयमसौरभाढ्याः, सज्जोलिकाहस्तगृहीतपात्राः ।

भिक्षामटन्तः परितो भ्रमन्तः, ईर्योपयुक्ता नियमोपयुक्ताः ॥

सूर्योदय हुआ । संयम के सौरभ से युक्त वे मुनिगण हाथ में पात्रों की भोली लेकर भिक्षा के लिए गांव में घूमने लगे । वे अपने नियमों से प्रतिबद्ध तथा ईर्यासमिति से संयुक्त होकर गांव में चारों ओर घूम रहे थे ।

७१. श्रीशोभजीश्रावकतातभैरोजीनामतः श्रीरघुनाथभक्तः ।

आसन्नभव्यः सुलभप्रबोधी, सङ्कममुख्यः प्रथितः प्रभावी ॥

उसी गांव में शोभजी श्रावक के पिता भैरोजी रहते थे । वे आचार्य रघुनाथ जी के भक्त, स्थानकवासी संघ के प्रमुख और प्रभावी व्यक्ति थे । वे सुलभ बोधि और निकट में ही मोक्षगामी से प्रतीत होते थे ।

७२. निरीक्षितास्तेन त एव सन्तो, जीवन्त एते बहुविस्मितोऽभूत् ।

प्रभावितोऽसौ द्विषतां वरोपि, कथंकथञ्चित् सविधं समेतः ॥

भैरोजी ने देखा कि ये वे ही संतगण हैं, जिनको अंधेरी ओरी का स्थान रहने के लिए निर्दिष्ट किया था । उन्हें जीवित देखकर वे आश्चर्यान्वित हुए । अत्यन्त विरोधी होते हुए भी वे संतों के इस तपस्तेज से प्रभावित हुए और ज्यों-त्यों उनके निकट आए ।

७३. भिक्षोर्विचारामृतपानत्प्लो, लालायितोभूल्ललिताशयेन ।

तर्कवितर्कविधिः प्रकारैः, प्रश्नोत्तराणि प्रविधातुमुक्तः ॥

वे आचार्य भिक्षु के विचार रूपी अमृत का पानकर तृप्त हो गए । उनके विचार पवित्र बने और वे विविध प्रकार से आचार्य भिक्षु के साथ तर्क-वितर्क तथा प्रश्नोत्तर करने के लिए लालायित हो उठे ।

७४. यन्तं तमेक्ष्याखिलपौरमर्त्याः, पृच्छन्ति धीमन् ! कथमेति तत्र ।

भिक्षोः सप्तीये गमनं स्वदीयं, समाजगह्यं लगतीति चिन्त्यम् ॥

नगरवासी लोगों ने देखा कि भैरोजी आचार्य भिक्षु के पास आ-जा रहे हैं । उन्होंने पूछा—आप वहां क्यों जाते हैं ? भिक्षु के पास आपका जाना समाज में गर्हणीय माना जाएगा, यह आप स्वयं सोचें ।

७५. वीरं प्रमुं यः स्वलितं प्रवक्ता, शैथिल्यशीलं च गुरुं स्वकीयम् ।

ततोऽस्य पार्श्वे गमनं नितान्तं, न शोभनं प्रत्युत मर्मवेधि ॥

लोगों ने कहा—‘जो व्यक्ति भगवान् महावीर को ‘चूका’ (स्वलित) और अपने गुरु को शिथिलाचारी कहता है, उसके पास जाना नितान्त अशोभनीय ही नहीं, प्रत्युत मर्मवेधी भी होगा ।

७६. तथापि रुद्धो न विरोधकृद्भिरुट्टङ्कितोऽस्तान् प्रतिवक्ति बुद्धया ।

ज्ञायेत किं तत्र गतिं विनाऽत, आयाति भिक्षोः निकटं विशङ्कः ॥

विरोधियों ने उन्हें रोकने का भरसक प्रयास किया, पर वे नहीं रुके । उन्होंने अपनी बुद्धि से उनके तकों का प्रत्युत्तर देते हुए कहा—‘भिक्षु के पास गए बिना सत्य-असत्य कैसे जाना जा सकेगा ?’ और वे चिञ्चक होकर आचार्य भिक्षु के पास आने लगे ।

७७. जिज्ञासितां तस्य विलोक्य भिक्षुः, प्रसन्नचेताः सुप्रसन्नमुद्रः ।

परोपकारं परायणत्वाज्, जिनेन्द्रभक्त्याह तमुत्सुकं सः ॥

७८. यथा यथा पृच्छति भिक्षुभिक्षोः, प्रत्युत्तराणि प्रशमोत्तराणि ।

निशम्य सोल्लासितमानसः स, बुद्धः प्रबुद्धः प्रतिप्रवचमाणः ॥

(युष्मन्)

आचार्य भिक्षु प्रसन्नचित्त और सुप्रसन्नमुद्रा में थे । भैरोंजी उनके पास आए । आचार्य भिक्षु ने उनकी जिज्ञासावृत्ति को पढ़ा । वे परोपकार-परायण और जिनेन्द्रभक्ति से ओतप्रोत थे । आगन्तुक की उत्सुकता को ध्यान में रखकर वे जो जो पूछते रहे, आचार्य भिक्षु ने शान्तभाव से उनके उत्तर दिये । उत्तरों को सुनकर उमका मन उल्लसित हुआ । उन्होंने तत्त्व को जाना, प्रबुद्ध हुए और बोले—

७९. सत्यं मतं श्रीजिनसम्मतं ते, श्रद्धाऽपि सत्या मयि सन्निविष्टा ।

ग्राह्या ततोऽजल्पि मुनीश्वरेण, निर्मायते किं समयातिबाहः ॥

‘श्री जिनेश्वर देव का मत सत्य है । आपका श्रद्धान भी सत्य है । वह मेरे अन्तर में घर कर गया है ।’ आचार्य भिक्षु तब बोले—‘आवकजी ! यदि ऐसा लग रहा है तो श्रद्धा स्वीकार करो । समय को क्यों गंवा रहे हो ।’

८०. मन्ये त्वदुक्तादिति मस्तकेऽवाऽऽभारातिभारो नहि रोहणीयः ।

भवेन् मबुक्तं यदि शास्त्रसिद्धं, तदा दरेणाग्नियतामिदानीम् ॥

‘ऐसा मत कहना कि मैं आपके कहने से श्रद्धा स्वीकार करता हूँ। यह आभार का भार मेरे पर मत डालना। यदि मेरा कथन शास्त्रसम्मत है तो शीघ्रता से उसे स्वीकार करो।’

८१. तेनाभ्यधायीश्वर ! साम्प्रतं सा, जिघृक्ष्यते नो मयकाऽत्र हेतुः ।

एकाग्र्यहं चेत् समुपाददे तामेको हि तिष्ठामि न संशयोऽत्र ॥

श्रावक भैरोंजी बोले—‘भगवन् ! आपकी श्रद्धा सम्यक् है। मैं उसकी सत्यता के लिए कोई हेतु नहीं चाहता। यदि मैं अकेला ही इस श्रद्धान को स्वीकार करता हूँ तो फिर मैं अकेला ही रह जाऊंगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।’

८२. प्रबोध्य सर्वान् सुलभेन साकमादित्युरेवास्मि भवत्सुमार्गम् ।

स्वामी समाकर्ण्य तदीयभावान्, प्रोचे यथेष्टं कुरु भव्यभव्य ! ॥

‘अतः मैं चाहता हूँ कि सभी पौरजनों को सहजता से समझाकर, उन सबके साथ ही आपके मार्ग को स्वीकार करूँ।’ आचार्य भिक्षु ने उनके भावों को सुनकर कहा—‘भव्य वत्स ! जैसा चाहो वैसा करो।’

८३. इतो ब्रजन्तं प्रतिवासरं तं, पृच्छन्ति पौराः कथमेति तत्र ।

भिक्षोः ससीमं गमनं त्वदीयं, स्वसम्प्रदायेऽतिसमीक्षणीयम् ॥

अब वे प्रतिदिन भिक्षु के पास आने लगे। उस समय रास्ते में पीछे से पूछते—‘आप वहाँ क्यों जाते हैं ? आपका भिक्षु के पास जाना-आना अपने सम्प्रदाय—स्थानकवासी परम्परा में एक आलोच्य विषय बन रहा है।’

८४. विधीयते किं प्रतिपाद्यतां तत्, ततः समूहीकृतधामिकेषु ॥

समाधिना वादविवादयुक्त्या, प्रयज्यते तद् गदितुं स सज्जः ॥

वे कहते—‘आप बताएं। अब मैं क्या करूँ ?’ इतने में वहाँ लोगों की भीड़ लग जाती। तब वे शान्तभाव से, तर्क-वितर्क से उनको समझाने का प्रयत्न करते।

८५. ये ये समालोचितचर्चितास्तस्ते ते समस्ता विषयाः क्रमेण ।

संरक्षितास्तेन विलक्षणेन, पृथक् पृथक् साधुतया विमज्ज्य ॥

जो-जो विषय उन्होंने आचार्य भिक्षु से चर्चित कर समझ लिये थे वे सब विषय उनके स्मृतिकोश में सुरक्षित थे। उन सबका उन्होंने सम्यक् विभाजन कर रखा था।

८६. एष स्वपक्षः प्रतिपक्ष एष, इदं हि नो मानमिवं तदीयम् ।

किं सङ्गतं किं नहि सङ्गतं तद्, विवेचनीयं पटुभिर्भवद्भिः ॥

वे लोगों को समझाते हुए कहते—‘यह अपना पक्ष है और यह उनका (भिक्षु का) पक्ष है। ये अपने प्रमाण हैं और ये उनके प्रमाण हैं। अब कौनसा संगत है और कौनसा विसंगत, इसका विवेचन आप निपुण लोग ही कर सकते हैं।’

८७. उन्मुक्तकण्ठः श्रुतसर्वभावैः, समुद्यते तैः प्रतिबोधबुद्धेः ।

न्यायेन युक्त्याऽऽगमनैगमाभ्यां, सत्याञ्चितं भैक्षवसंविधानम् ॥

सारे तथ्यों को सुनकर, श्रावक भैरोंजी के प्रतिबोध से प्रतिबुद्ध हो पौरवासी लोगों ने उन्मुक्त भावों से कहा—‘आचार्य भिक्षु का पक्ष न्यायोचित, युक्तियुक्त, आगम और तर्क से उपेत तथा प्रामाणिक है।’

८८. ततोऽनुयुङ्क्तेऽप्य किमद्य कार्यं, वदन्ति सर्वे सुतरां हिताय ।

सम्बन्धिनो नो पितरौ न बन्धुरभ्युदगता ये गुरवोऽस्मदीयाः ॥

फिर भैरोंजी ने पूछा—‘अब मुझे क्या करना चाहिए?’ सभी ने हित से प्रेरित होकर कहा—‘जिनको हमने गुरु माना है, वे न हमारे संबंधी हैं, न माता-पिता हैं, न बन्धु हैं। वे हमारे कोई सगे नहीं हैं।’

८९. गुणैर्युतास्ते गुरवोऽभिमान्याः, गुणैर्विहीनाः परिवर्जनीयाः ।

सोन्वेषकः पौरजनैः समस्तैर्भिक्षुं गुरुं स्वीकृतवान् प्रसन्नैः ॥

जो गुणयुक्त हों, वे ही गुरु के रूप में मान्य हैं। जो गुणविहीन हों, वे त्याज्य हैं। सत्य शोधक भैरोंजी ने सभी पौरजनों के साथ आचार्य भिक्षु को गुरुरूप में स्वीकार कर लिया।

९०. इतः पुरे जोधपुरे कदाचित्, संवत्सरीपर्वदिने विशेषात् ।

आद्याः कियन्तो विपणौ प्रवीणास्तिष्ठन्ति सत्यौषधमाद्यधानाः ॥

इधर जोधपुर शहर में कदाचित् संवत्सरी या किसी विशेष पर्व दिन पर कतिपय श्रावक बाजार की दुकान में पौषध व्रत स्वीकार कर धर्मादायन कर रहे थे।

९१. गच्छत्कतेचन्द्रसुमन्त्रिपृष्ठा, ब्रुयुर्गुरुः स्थानकमत्यजन् मे ।

तत्रोऽत्र संश्रुत्य पुनः पप्रच्छ, कीदृक् स साधुः प्रतिवाच्यतां मे ॥

उस समय जोधपुर के सचिव फतेहचन्द्रजी उधर से गुजर रहे थे । उन्होंने श्रावकों से पूछा—‘आप स्थानक में पौषध न कर यहां पौषध कर रहे हैं, इसका क्या कारण है ? तब वे श्रावक बोले—‘हे अमात्यवर्य ! हमारे गुरु आधाकर्मी स्थानक को छोड़कर संघ से अलग हो गये हैं ।’ तब अमात्य महोदय ने पुनः पूछा—‘वे आपके गुरु कैसे हैं, यह मुझे बतलाएं ।’

९२. ब्रूते च तेष्वन्यतरोऽतिदक्षो, गुणानुरागी गुणपक्षपाती ।

किं पृच्छ्यते यो महिमेकपात्रं, लोकोत्तरो लोकललामलोभी ॥

अमात्य के पूछने पर उन श्रावकों में जो अतिनिपुण, गुणानुरागी और गुणपक्षपाती श्रावक था, वह बोला—‘महाशय ! आप क्या पूछ रहे हैं ? वे हमारे गुरु महिमा के एकमात्र पात्र, लोक में उत्कृष्ट तथा लोक में जो ललामभूत हैं उनको भी लुभाने वाले हैं ।

९३. यो नाभिनन्दन इवाखिलविश्वतारी,

यो वीतरागवृषणीतिविकाशकारी ।

यो दुस्तपाकुलितशान्तसुधाप्रसारी,

यः सत्पथप्रपतयालुसहायकारी ॥’

‘हमारे वे गुरु भगवान् ऋषभ के समान अखिल विश्व को तारने वाले, वीतराग की धर्मनीति का विकास करने वाले, संसार के ताप से आकुलित व्यक्तियों में शान्तसुधारस का प्रसार करने वाले तथा सत्पथ से गिरने वालों का उद्धार करने वाले हैं ।’

९४. यो वासुदेव इव नो निजपृष्ठदर्शी,

यो न्यायमुक्तनिबहात् सुवियोगदर्शी ।

यः सर्वगास्खलितराजपथप्रदर्शी,

यः सत्यसत्यकथकोऽभयदीर्घदर्शी ॥

‘वे वासुदेव की तरह संकट में भी कभी पीठ दिखाने वाले नहीं हैं । वे न्यायच्युत व्यक्तियों के साथी नहीं हैं । वे वीतराग के मार्ग से स्खलित व्यक्तियों को राजपथ दिखलाने वाले हैं । वे सत्यभाषी, अभय तथा दीर्घदर्शी हैं ।’

९५. यो वीतराग इव शान्तशरीरभागः,

श्रीपुण्डरीक इव यो वरतीर्थयागः ।

यो भावपूर्वकनिरन्तरसद्विभागः,

कालेऽत्र पुण्यपरभागपुरः परागः ॥

१. इतः प्रारभ्य ११७ श्लोकपर्यन्तं सर्वे श्लोकाः वसन्ततिलकाद्यन्दसि प्रतिबद्धाः सन्ति ।

‘जो वीतराग की तरह शांत रस के मूर्तिमान् अंग, पुण्डरीक गणधर की तरह श्रेष्ठ तीर्थ की पूजा करने वाले, सदा समस्त कृत्यों को भावपूर्वक करने वाले तथा इस काल में तो पुण्य रूप गुणोत्कर्षक के पराग हैं ।’

१६. ऊढो न योऽन्धपरिवर्तनताप्रवाहे,
पक्षी न यश्चरितहीनयदेकतायाः ।
यो वीरवाक्यमकरन्दमदान्धमत्तो,
नान्यप्रभावविषयोद्यमतानुयायी ॥

‘वे अन्ध-परिवर्तन के प्रवाह में नहीं बहते तथा चरित्रहीन एकता के पक्षपाती नहीं हैं । वे वीतराग के वाक्य रूप मकरन्द पीने के लिए मतवाले हैं । वे अन्य प्रभावों में तथा अन्य विषयों में न तो प्रयत्नशील हैं और न अन्य प्रवृत्ति करने वाले हैं ।’

१७. यो नो नतः प्रतिहतो गुरुकष्टकोटया,
यो नावरुद्ध इव धीरसमीरवीरः ।
यः केशरीव भयमुग्ं भुवने बिहारी,
यो व्योमवद् विकृतिभिर्वन्त निर्विकारी ॥

‘वे द्रव्य गुरु द्वारा प्रदत्त कष्टों के समक्ष न तो नत ही हुए और न प्रतिहत ही हुए । वे धीर पवनवीर की भांति कभी अवरुद्ध नहीं हुए । वे सिंह की भांति भययुक्त होकर संसार में विचरने वाले और विकृतियों से अलिप्त हैं, आकाश की तरह निर्विकारी हैं ।’

१८. यो वीरबाङ्गनिकषपट्टतटे जघर्ष,
यो वीरसद्भ्रतशिताऽसिरयैरकृन्तत् ।
यो वीरतापतपनेऽगलवृष्ट्वदेहो,
यो वीरनामबलिदानपरः सदासीत् ॥

‘उन्होंने अर्हत् वाणी रूप निकषपट्ट पर अपने आपको घिसा है तथा महावीर के सद्भ्रतों रूप तीखी खड्गधारा से स्वयं का छेदन किया है । वे वीर प्रभु के ताप रूप तपन में खड़े-खड़े अपने आपको गलाया है तथा वीर प्रभु के नाम पर न्यौछावर होने में तत्पर हैं ।’

१९. योऽर्हत्पवित्रसमये श्रुतकेवलीव,
वादी जिनाधिपतिवादिमुनीन्द्रदेश्यः ।
आचारपालनविधौ गुरुगोतर्माधि-
रेवंगुणीनमुनिपेषु युगप्रधानम् ॥

‘वे अर्हत् प्रभु के पवित्र सिद्धांतों में श्रुतकेवली के समान, जिनेश्वर भगवान के वादी-मुनियों की तरह वादनिपुण, आचार-पालन की विधि में गुरु गौतम के समान और इस युग के आचार्यों में युगप्रधान आचार्य हैं ।’

१००. प्राङ्जैननामसमलङ्कृतसर्वकार्यः,

सत्यग्रही न च कदापि कदाग्रही यः ।

रूढपाश्रितो न न परेऽपि च रूढीवादात्,

सर्वत्र हंस इव शुद्धविवेककारी ॥

वे अपने सभी कार्य जैन नाम से करने वाले और सत्यग्रही तथा कदाग्रह से दूर रहने वाले हैं। वे रूढीवादी भी नहीं हैं और न रूढी से परे भी हैं। वे विशुद्धरूप से हंस के विवेक (क्षीर-नीर विवेक) से संपन्न हैं।

१०१. नो किञ्चिद्वैक्यमवलोक्य समन्वयार्थी,

यस्मात् कथञ्चिदखिला विषमाः समा वा ।

योऽतो विशेषणपुरः सकलार्थवादी,

स्यान्नान्यथा त्विह परद्वयकार्यसिद्धिः ॥

वे किञ्चित् ऐक्य को देखकर समन्वय के अर्थी नहीं हैं, क्योंकि सभी पदार्थ विषम भी हैं एवं सम भी हैं। इसीलिये उन्होंने विशेषणपूर्वक समस्त अर्थों का कथन किया, जैसे—निरवद्य दान, निरवद्य दया आदि। यदि ऐसा न हो तो निश्चय और व्यवहार तथा लोक और लोकोत्तर की सिद्धि नहीं हो सकती।

१०२. उत्तीर्णकाञ्चननिभं स्फुटमूर्ध्वमौलिं,

शैलोत्तमं प्रगुणरत्नगणप्रकाण्डम् ।^१

ऊर्ध्वदमं स्थिरतरं च सुदर्शनाढ्यं,

यं सञ्चिता इव सदा विबुधाः सुमेरुम् ॥

जैसे मेरुपर्वत विशुद्ध कंचनमय, ऊँचे शिखरों वाला, पर्वतों में उत्तम, रत्नधारकों में श्रेष्ठ, अत्यंत ऊँचा, स्थिर, सुदर्शन नाम से प्रसिद्ध तथा देवताओं द्वारा आसेवित है, वैसे ही आचार्य भिक्षु भी कंचन की भांति निर्मल, अपने गौरव से ऊँचे तथा निश्चल, सुदर्शन—सुन्दर और तात्त्विक दर्शन का प्रतिपादन करने वाले और विबुध—विद्वानों द्वारा आसेवित हैं।

१. निश्चयव्यवहारयोः कार्ययोः ।

२. प्रकाण्डम्—श्रेष्ठ (अभि० ६।७७)

१०३. येनोद्धृतं जिनमतं कुमतान्धकारात्,
क्लृप्ता नयेन विनयेन पुनः प्रतिष्ठा ।
उन्मूलिता शिथिलता व्रतिनां प्रयोगात्,
प्रस्फोरिता जिनमताङ्कितवैजयन्ती ॥

‘उन्होंने कुदर्शन रूप अन्धकार से जिनमत का उद्धार कर न्याय एवं विनय से पुनः प्रभु के मार्ग की प्रतिष्ठा की है । उन्होंने शुद्ध प्रयोगों से मुनियों में व्याप्त शिथिलता का उन्मूलन कर जिनमत से चिह्नित ध्वज को फहराया है ।’

१०४. यैर्लोकरञ्जनकृते न कृतः प्रयत्नो,
नो राष्ट्राज्यकसमाजमतार्थनीत्यै ।
नो नामकीर्त्तिपदैर्हिकऋद्धिसिद्धयै,
अष्टैः प्रदर्शनसमन्वयहेतवे नो ॥

‘उन्होंने लोकरञ्जन के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं किया, न राष्ट्र-राज्य-समाज एवं अर्थनीति के लिए ही कुछ किया, न नाम, कीर्त्ति, पद तथा ऐहिक ऋद्धि-सिद्धि के लिए कुछ किया और न अष्टाचारियों के साथ दर्शन के समन्वय का ही प्रयत्न किया ।’

१०५. कर्तुर्यतोऽधमिहकारयितुस्तथाऽनु-
मनुस्ततस्त्रिकरणत्रिकयोगरूपा ।
साक्षात् परीक्षितुमियं सदसन्नृभावान्
संस्थापिता स्फुटतरा कषपट्टिकैश्च ॥

‘उन्होंने मनुष्यों के सद्-असद् भावों की परीक्षा के लिए एक स्पष्ट कसौटी स्थापित की । उन्होंने कहा—हिंसा आदि करने वाले को पापबन्ध होता है तो हिंसा आदि कराने वाले तथा उसका अनुमोदन करने वाले के भी पापबन्ध होगा । यह त्रिकरण-त्रियोगरूप कषोपल है ।’

१०६. चन्द्राय चारुचलचञ्चुचयो यथैव,
यन्चक्रवाकनिचयो रवयेऽन्ववायः ।
धाराधराय चलचातकचक्रचित्तं,
यस्मै प्रतीक्षणपरं त्रिजगत् तथाऽऽसीत् ॥

‘हे अमात्य महोदय ! जैसे चञ्चल चक्रवे चन्द्रमा के लिए एवं चक्रवाल समूह सूर्य के लिए तथा चातक मेघ की धारा के लिए लालायित रहते हैं वैसे ही आचार्य भिक्षु के लिए तीन लोक के प्राणियों का चित्त प्रतीक्षण लालायित रहता है ।’

१०७. यस्माद् बभूव निरवद्यदयाप्रधारा,
 हेमाचलात् त्रिदशशैवलिनीव विश्वे ।
 यस्मात् पुनः प्रकटितः प्रकृष्णप्रभावः,
 सूर्याद् यथा दिशि दिशि प्रसरप्रकाशः ॥

‘इनसे इस संसार में निरवद्य दया की धारा वैसे ही प्रवाहित हुई जैसे हिमवत् पर्वत से गंगा और पुनः प्रभु वाणी का वैसे ही उद्योत हुआ जैसे सूर्य से प्रत्येक दिशा में प्रसृत होने वाले प्रकाश का उद्योत ।’

१०८. यस्य प्रतापपुरतः कुमताः प्रणष्टा,
 मार्तण्डमण्डलमुखादिव धूर्त्तघूकाः ।
 प्रीन्मादिवादिनिवहाः प्रपलायमाना,
 वन्या यथा मृगमुखा नखरायुधाघात् ॥

‘उनके प्रताप के सम्मुख कुदशन वैसे ही नष्ट हो गये जैसे सूर्य के सम्मुख धूर्त्त घूक तथा उनके उन्मत्त बादीगण भी इनके नाम-श्रवण से माने वैसे ही पलायन कर गए जैसे सिंह से वनमृग ।’

१०९. श्रद्दालुता जिनगिरां गुरुगोतमीया,
 वृत्तिः क्रियास्वभिरुचिर्गुरुगोतमीया ।
 श्रोतृत्वपालनविधा गुरुगोतमीया,
 बोधित्वभक्तिरपि निस्तुलगोतमीया ॥

‘जिनवचन के प्रति श्रद्दालुता, क्रिया—सम्यक् आचरण की वृत्ति एवं अभिरुचि, अर्हत् वाणी का श्रवण और पालन तथा बोधि के प्रति भक्ति—ये सारी क्रियाएं आचार्य भिक्षु में गुरु गौतम गणधर के सदृश हैं ।’

११०. वक्षस्थलं सदतिशायिपराक्रमाप्तं,
 वीरेण विस्मृतमिति प्रथने न भीतः ।
 न्यायस्य यस्य परमावधिरीक्षणीयो,
 न्यायो हि जीवनधनं महतां महत्त्वम् ॥

‘उनका वक्षस्थल अतिशय पराक्रमशाली था, इसलिए उन्होंने यह कहने में भय नहीं रखा कि भगवान् महावीर (छद्मस्थ अवस्था में) एक बार चूका गए थे । यह उनके न्याय की पराकाष्ठा है । महापुरुषों का जीवनधन और महत्व न्याय ही तो है ।’

१११. पुत्री न पुत्र इव संशयवञ्चनाकृद्,

घंटासिनिप्रमदलद्वयगाऽस्फुटा च ।

स्वस्वप्रतीष्ठवितथाशयपोषिका नो,

भाषा लिपिः प्रतिकृतिः स्थितिरङ्कित, यक्ष्य ॥

‘आचार्य भिक्षु की भाषा, लिपि, प्रतिकृति तथा स्थिति अत्यन्त स्पष्ट है। उनकी भाषा ‘पुत्री न पुत्र’ जैसी संशयात्मक तथा वंचनापूर्ण, ‘घंटासिनि’ न्याय के समान इधर-उधर जाने वाली तथा अस्फुट और अपने-अपने प्रतिष्ठित असत्य विचारों का पोषण करने वाली नहीं है।’

११२. धैर्यप्रशांतिमतिशक्तिविभूतिभाजि,

यस्मिन् जिनेन्द्रवचनमृतसारसारः ।

आपादकण्ठपरिपूर्णभूतो विरक्ति-

भक्त्यादिभिः सह यथा गगनप्रवेशाः ॥

‘वे महापुरुष धैर्य, शांति, मति, शक्ति और विभूति को धारण करने वाले हैं। उनमें जिनेन्द्र वचनों के अमृत का सार संगृहीत है। वे विरक्ति और भक्ति से आपादकंठ वैसे ही भरे पडे हैं जैसे ब्रह्मांड में आकाश प्रदेश।’

११३. मार्गं व्यनक्ति निरवद्यमिवांशुमाली,

स्वासूनिवाऽखिलपराङ्मवतो न हन्ति ।

यो निस्पृहो जगति सिद्ध इवातिशुद्धो,

बुद्धोऽतिबुद्ध इव बोधितबुद्धबुद्धः ॥

‘जैसे सूर्य मार्ग दिखाता है वैसे ही वे गुरु निरवद्य धर्म का मार्ग दिखलाने वाले हैं एवं अपने प्राणों के समान समस्त प्राणों को जानते हुए वे किसी की हिंसा नहीं करते। वे जगत् में सिद्धों की भांति निस्पृह एवं अत्यंत पवित्र तथा विशिष्ट ज्ञानी एवं प्रबुद्ध व्यक्तियों को भी बोध देने वाले हैं।’

११४. सर्वाऽमुमत्सु भगवानिव तुल्यदर्शी,

सङ्गं कुसङ्गमिव यस्त्यजति प्रशांतः ।

यः पोतवत्तरति तारयते परांश्च,

योऽर्हद्गिरां प्रवदते गणभृद्वदेव ॥

‘वे भगवान की तरह प्राणीमात्र पर समदृष्टि रखने वाले, प्रशांत-चित्त से संसार के मोहमय संग को कुसंग की भांति त्यागने वाले, पोत की तरह तैरने-तैराने वाले तथा गणधर की तरह अर्हद् वाणी का कथन करने वाले हैं।’

‘अनादि काल में संसार मार्ग के भ्रमण से उत्पन्न होने वाला एवं समस्त मोहग्रस्त मनुष्यों को व्यामोहित करने वाला संसर्ग दोष आचार्य भिक्षु से भयभीत होकर वैसे ही नष्ट हो गया जैसे गरुड़ से भयभीत होकर नागराज ।’

१२०. आप्तोक्तिशानोल्लिखितांतराले, सङ्क्रान्तवैराग्यनिरुद्धदेशे ।

स्वान्तात्मदर्शे प्रतिबिम्बितो न, निरङ्गतो यत्र किमङ्गजेन ॥

‘आगम के शाण पर जिसका मध्यभाग उज्ज्वल हो गया है तथा जिसमें संक्रांत वैराग्य से अवरुद्ध हो गए हैं जिसके समस्त प्रदेश, ऐसे आत्मरूप आदर्श में अनंग होने के कारण कामदेव अपना प्रतिबिम्ब उसमें डाल न सका ।’

१२१. निष्कास्य बाह्यो निजचित्तसौधान्निह्यमानं स्वमवेक्ष्य येन ।

न्यस्थन्नितान्याङ्गिमनोऽङ्गमध्ये, विवेश रागो विवशाशयो हि ॥

‘आचार्य भिक्षु ने अपने चित्तरूप सौध से राग को बाहिर निकाल कर उसका उन्मूलन करना चाहा, तब अपना नाश देखकर राग विवश होता हुआ वहां से भागकर मानों जैनेतर दर्शनों के अभिमत अणु रूप मानस में प्रवेश कर गया ।’

१२२. अशोचितेनापगतिः स्वपुण्यरुणोष्मणे' बोधकपङ्कपङ्क्तिः ।

अत्यक्लिप्ताद् भवपटुतिरश्च, व्योमावलीवार्मुजबान्धवेन ॥

‘आचार्य भिक्षु ने अपने तपोबल से कुगतियों के स्रोत को वैसे ही सुखा डाला जैसे सूर्य पानी एवं कंदम को सुखा देता है और भव परम्परा को वे वैसे ही लांघ गये जैसे आकाश को सूर्य लांघ जाता है ।’

१२३. बाध्यमस्य प्रशमाभिधानपञ्चाननोल्लासिमनोदरीषु ।

स्वनाशदर्शो न कोपकुम्भी, प्रवेष्टुमीशोऽचतुरस्थितोऽतः ॥

उनके प्रशांतरूप सिंह से उल्लसित मानस-गुफा से अपना नाश देखकर मानो क्रोधरूप हाथी तो प्रवेश ही नहीं कर पाया । वह अज्ञानियों की शरण में चला गया ।

१२४. गर्वोप्यगर्वं गमितो हि तेन, जेतुं पुनस्तं तमरातिमिच्छुः ।

साहाय्यकं किं प्रचिकीर्षुरेष, नक्तं विवा सेवति सत्रिलोकीम् ॥

‘उन्होंने अहंकार को अनहंकार में बदल दिया इसलिए पुनः मुनि भिक्षु पुरु विजय प्राप्त करने के लिए वह अहंकार उनके शत्रुओं का इच्छुक बन गया और अपनी सहायता के हेतु रात-दिन तीन लोकों की सेवा करने लगा ।’

१२५. मद्दैरिणीयं त्विति मार्यमाणा, येनाश्रिता शम्बरनामदैत्यम् ।

ततोप्यदो भीतिवशात् प्रणश्य, त्रैलोक्यलोके भ्रमतीव माया ॥

‘यह माया मेरी वैरिणी है—ऐसा विचार कर माया का उन्मूलन करना चाहा । माया ने भागकर शांबर दैत्य का आश्रय लिया । किन्तु वहां पर भी भिक्षु के भय से निर्भीक नहीं बनी इसीलिए तो वहां से पलायन कर वह माया तीनों लोकों में भ्रमण कर रही है ।’

१२६. संतोषसिन्धाविव किं निमग्नः, प्लुष्टोऽस्य शुक्लप्रणिधानबह्वो ।

करीव किं वृत्तमृगारिणाऽऽश्लि, लोभो न चेत् किं नयनेरलक्ष्यः ॥

क्या उनका लोभ संतोषरूपी सिंधु में निमग्न हो गया ? क्या वह निर्मल ध्यानरूप अग्नि में भस्मसात् हो गया ? जैसे सिंह हाथी का भक्षण कर लेता है क्या वैसे ही उनके चारित्ररूप सिंह ने लोभ का भक्षण कर डाला ? ऐसा नहीं है तो वह लोभ आज उनमें दृष्टिगोचर क्यों नहीं होता ?

१२७. चिच्छेद तृष्णां विरतेः कृपाय्या, यो भिक्षुभिक्षुमृगजालिकावत् ।

लेभेऽतिकष्टं हिरणैरिवाऽस्यां, भवं वनं मर्त्यगणैर्ध्रुमवृक्षैः ॥

‘जैसे मृग मृगजालिका में फंसकर कष्ट को प्राप्त होते हैं, वैसे ही संसारी प्राणी भवरूप वन में तृष्णा रूप मृगजालिका में फंसकर कष्ट को प्राप्त होते हैं । ऐसी तृष्णा रूप मृगजालिका को भिक्षु ने विरति रूप कृपाण से छेद डाला है ।’

१२८. सदा शरण्यः परमेशितेव, निराश्रयाणां शरणच्युतां यः ।

धत्ते च मैत्र्यं न कदाप्यमैत्र्यं, पूषेव सन्न्यस्तसमस्तदोषः ॥

महामुनि निराश्रित एवं शरण विकल व्यक्तियों के लिए परमेश्वर की भांति शरणदाता, सदा शत्रुभाव से शून्य होकर सबके साथ मैत्री रखने वाले तथा समस्त दोषों से शून्य सूर्य की भांति प्रकाशवान् हैं ।

१२९. यो बोधबीजं ददतेऽङ्गभाजां, निर्धि पितेवोत्तमनन्दनानाम् ।

सिद्धः स्वसिद्धिं मुनूणां विनीतान्तेवासिनां वा गुरुदत्तत्त्वम् ॥

‘जैसे पिता अपने श्रेष्ठ पुत्र को निधि देता है, जैसे सिद्ध पुरुष योग्य व्यक्ति को अपनी सिद्धि देता है, जैसे गुरु अपने विनीत अन्तेवासी शिष्य को विशिष्ट बोध देता है, वैसे ही हे सचिव महोदय ! ये हमारे गुरु भव्य-प्राणियों को बोधिबीज देते हैं ।’

१३०. मोहान्धकारस्मयशैलदुर्गं, पञ्चाश्रवाम्भोधरवारिपङ्के ।
भवाध्वनि श्रान्तिमतां शिवस्याऽऽख्याता पथं यः स्वयमध्ववेदी ॥

‘वे स्वयं मोक्ष-मार्ग के वेत्ता हैं, इसीलिए मोहान्धकार से निविड एवं अहंकार रूप शैलों से दुर्गम तथा पांच आस्रवरूप रूप मेघों के पानी से पङ्किल संसार-मार्ग में भटकने वाले प्राणियों को मोक्ष का मार्ग बतलाने वाले हैं ।’

१३१. क्षमाधरस्याऽस्य पदं सहाय्यं, बव चाध्यलभ्यं प्रविलोक्य शेषः ।
क्षमाधरादन्यपदं प्रणेतुं, पार्श्वप्रभुं शीलति पादलग्नः ॥

‘इन महामुनि को अलभ्य एवं अर्थान्वित क्षमाधर पद से विभूषित देखकर बहू शेषनाग अपने ‘क्षमाधर’ नाम से भिन्न पद प्राप्त करने के लिए मानो पार्श्वप्रभु के चरणों की सेवा में रह रहा है ।’

१३२. गम्भीरिमाणं दधता हि येन, जितोम्बुधिर्घोडमवाप्य चित्ते ।
किमन्तरीपाधिनिवासवासात्, स्वयं प्रवासीव विभूय यातः ॥

‘इन महामुनि ने अपनी गम्भीरता से स्वयम्भुरमण समुद्र को भी जीत लिया । इसलिए क्या वह मन ही मन लज्जित होता हुआ स्वयं समस्त द्वीपों और समुद्रों से परे जा प्रवासी की भांति बस गया ?

१३३. महामहिम्ना धृतिधूर्यताभिः, सुजातरूपेण निजेन येन ।
तिरस्कृतो देवगिरिस्त्रपाभिर्जडत्वमेत्याऽच्चपलः स्थितः किम् ॥

‘इन्होंने अपनी महाव महिमा, धृति, भारवहन करने की क्षमता तथा सुन्दर रूप से मेरु को भी तिरस्कृत कर दिया । इसीलिए वह (मेरु) लज्जित-सा होता हुआ जड़ता को धारण कर, चपलता का त्याग कर, स्थिर और सीधा खड़ा है ।’

१३४. बाह्यं तमो हन्ति किलैकभागे, क्षेत्रं मितं द्योतयतेऽस्तमेति ।
कथं रवीन्द्र स्वत उत्तमेन, तेनैव तुल्यो गुणिना भवेताम् ॥

‘परिमित क्षेत्र में प्रकाश करने वाले ये सूर्य और चन्द्रमा केवल बाह्य अंधकार का ही नाश करते हैं तथा स्वयं अस्त भी होते हैं । ये सूर्य और चन्द्रमा उन उत्तम मुनिराज के तुल्य कैसे हो सकते हैं ?’

१३५. चिकीर्षया यस्य गिरं प्रकृत्या, सुधां स्वकीयां गृहीतां समीक्ष्य ।

शोकात् पयोधिः पतितो धरित्र्यामुमिप्रघोषैरिव रोद्वीति ॥

‘जिनकी वाणी को अमृतमय बनाने के लिए प्रकृति ने समुद्र का सारा अमृत ग्रहण कर लिया हो ऐसा प्रतीत होता है, इसीलिए पृथ्वी पर पड़ा हुआ समुद्र तरंगों के घोष से रो रहा है ।’

१३६. धन्यास्त एवाङ्गमृतः सपुण्याः, फलेग्रहिर्मर्त्यभवो हि तेषाम् ।

यैः पीयते तस्य वचोमृतं सज्ज्योत्सनाप्रियोघैरिव शारदेन्दोः ॥

‘वे ही मनुष्य पुण्यवान् एवं धन्य हैं, तथा उनका जीवन ही सफल है जो उन महामुनि के वचनामृत का पान करने के लिए वैसे ही लालायित रहते हैं जैसे शरद् ऋतु के चन्द्रमा का अमृतपान करने के लिए चकोर ।’

१३७. दृश्यो न दृग्भ्यामतिथिः श्रुताभ्यामस्माभिरीदृग् न परः प्रणीतः ।

मन्त्रिन् ! विधात्रेनमहो विधायाऽध्यारोपि सत्सौधशिरोध्वजः किम् ॥

‘हे मंत्री महोदय ! ऐसा भाग्यवान् कोई दूसरा पुरुष हमने न तो आँखों से देखा है और न कानों से सुना है । विधाता ने ऐसे पुरुष का निर्माण कर मानो सत्सौध के शिखर पर ध्वजारोपण ही कर दिया हो ।’

१३८. रोमाञ्जिताङ्गः सचिवः प्रणीय, तेषां च वाचं निजकर्णयेयम् ।

उत्कण्ठितोऽजायत तद्गतीन्नुं, द्रष्टुं प्रसिद्धिप्रददेववत् सः ॥

उन विचक्षण श्रावकों के रोमाञ्जित करने वाले वचनों का श्रवण कर मंत्री प्रमुदित हो उठे एवं उन महामुनि के दर्शन के लिए वैसे ही उत्सुक हो गये जैसे कोई भक्त अपने इष्टदेव के दर्शन लिए उत्कण्ठित हो जाता है ।

१३९. जात्या च सिद्धी सचिवस्ततोऽभूद्, दृष्टो वसन्तादिव सन्निकुञ्जः ।

पुनस्तदानीं मनसाऽन्वयुङ्क्ते, सन्तो भवन्तः कतिसंख्यका वा ॥

सिद्धी जाति के वे सचिव श्रावकों के वचनों से वैसे ही प्रफुल्लित हो उठे जैसे वसन्त से नन्दन निकुञ्ज । फिर उन्होंने उन श्रावकों से पूछा— ‘आप के गुरु के साथ कितने सन्त हैं और आप श्रावकों की संख्या कितनी है ?’

१४०. त्रयोदशश्रीमुनयो वयं च, त्रयोदशेति श्रुतपार्ष्ववर्ती ।

कश्चित् विपश्चित् कविरेक उत्को, भावातिरेकात् कथयाञ्चकार ॥

‘हे मन्त्रि महोदय ! इस समय हमारे तेरह संत हैं एवं हम भी तेरह ही हैं ।’ ऐसा सुनकर समीपवर्ती किसी एक विद्वान कवि ने भावातिरेक से एक दोहा कहा ।

१४१. नैसर्गिकोद्गाररसात् परं किमेकं हि वाक्यं भुवनं व्यनक्ति ।

देशीयभाषारचितस्य तस्य, व्यनक्ति भावं प्रकृतार्थवाच्या ॥

हृदय से निकले हुये नैसर्गिक उद्गार रस से परे कोई उत्कृष्ट रस नहीं होता । एक ही नैसर्गिक वाक्य संसार को प्रकाशित कर देता है । उस कवि के नैसर्गिक वाक्य को मैं संस्कृत वाणी में प्रकाशित करता हूँ ।

१४२. आत्मात्मकोलाहलमाकलेरनात्मात्मिकं तन्मतमस्तु किन्तु ।

शृण्वन्तु साक्षादिमके हि तेरापन्थीति तत्त्वं नगरस्य लोकाः ॥

जो अपने-अपने मत बांधते हैं, वे अपने लिये ही हैं किन्तु उनमें आत्म-शुद्धि नहीं हो सकती । इसलिए हे ! नागरिको ! यह तेरापन्थ ही तन्त है ।

१४३. एतन् निमित्तं प्रकटं हि तेरापन्थीति नाम्नः प्रथितं पृथिव्याम् ।

ततश्च ये ये गुरुभिक्षुभिक्षुमतानुगास्तेरहपन्थिनस्ते ॥

इसी निमित्त से यह संसार में 'तेरापन्थ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और जो आचार्य भिक्षु के अनुयायी हुए वे तेरापन्थी कहलाने लगे ।

१४४. मेवस्त्रिपाटे निवसेस्तदानीं, संश्रुत्य भिक्षुर्मुमुदे मनोन्तः ।

अहो प्रभो ! ह्येष तवैव पन्था, इत्यर्थवस्तेरहपन्थिनाम् ॥

उस समय महामुनि भिक्षु मेवाड़ प्रदेश में थे । "तेरापन्थ" नाम सुनकर वे मन ही मन प्रमुदित हो उठे । वे तब पट्ट से नीचे उतर बद्धाञ्जलि होकर बोले—'हे प्रभो ! यह तुम्हारा ही पन्थ है ।' यह तेरापन्थ नाम अर्थवान् है ।

१४५. अहं तु ते सत्पथि पुष्टपान्थो, यावन्न कुर्यां शिवसाध्यसिद्धिम् ।

भ्रान्तो भविष्यामि न निर्णयो मे, साफल्यसौधाश्रयणाश्रयी स्तात् ॥

'प्रभो ! मैं तो तुम्हारे सत्पथ का दृढ़ पथिक हूँ । मेरा लक्ष्य है मोक्षप्राप्ति । जब तक मैं अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर लूंगा, तब तक मैं विश्रान्त नहीं होऊंगा । मेरा यह निर्णय सफलता के सौध का आश्रयी बने अर्थात् पूर्ण सफल हो ।

१४६. इयं विपञ्चाखिलसत्समित्या, त्रिगुणित्युक्त्योरुमहाव्रतानि ।

त्रिभिश्च योगैः करणैरवेद्यैः, स एव वा तेरहपूर्वपन्थीः ॥

१. उस कवि ने राजस्थानी भाषा में यह दोहा कहा—

आप आपरो गिलो करे, आप आपरो पन्थ ।

सुणजो रे शहर रा लोकां, ओ तेरापन्थी तंत ॥

तेरहपन्थी वह होता है जो ईर्ष्या समिति आदि पांच समितियों, मनो-
गुप्ति आदि तीन गुप्तियों तथा पांच महाव्रतों (५+३+५) का तीन करण
और तीन योग से पालन करता है ।

१४७. त्रिलोककालान्तरवर्त्तमानः, स एव भिक्षुः श्रमणो मुमुक्षुः ।

स एव तेरादिमपूर्वपन्थीर्वन्द्योऽभिनन्द्यः स च भूर्भूवः स्वः ॥

तीनों ही लोक एवं तीनों ही काल में उपरोक्त नियमों को जो पालने
वाले हैं वे ही सच्चे भिक्षु, श्रमण एवं मुमुक्षु हैं । वे ही तेरापन्थी हैं और वे
ही तीन लोक द्वारा वन्दनीय और पूजनीय हैं ।

१४८. न वेषमात्रात्त न योगिमात्रात्त नाममात्रात्त च चिह्नमात्रात् ।

तत् लक्षणैर्हीनतरो न साधुः, सेव्यो न सत्तेरहपूर्वपन्थीः ॥

न वेशमात्र से, न अधिकारमात्र से, न नाममात्र से और न चिह्न—
लिङ्गमात्र से कोई साधु होता है । जो उपरोक्त लक्षणों से रहित है, वह साधु
नहीं होता, वह उपासनीय नहीं होता और वह तेरापन्थी मुनि भी नहीं
होता ।

१४९. इत्थं वितेने स्वमतस्य नाम, गुणेन निष्पन्नमतीवसार्थम् ॥

व्यक्तेः समूहैर्मतसाम्यतो वा, स्यात् सम्प्रदायः क्रमतो गुरुणाम् ॥

उन्होंने अपने मत का गुणनिष्पन्न एवं सार्थक नामकरण किया ।
समान विचारों वाले व्यक्तियों का समूह ही गुरु-परम्परा से सम्प्रदाय कहलाता
है ।

१५०. उपद्रवाणां बहुभिः प्रकारैः, प्रावृण्निवासे प्रथमेऽवतीर्णं ।

अन्येऽपि सन्तो मिलिता मिथस्ते, चर्चाऽवशिष्टा चलिता तदानीम् ॥

आचार्य भिक्षु का विविध प्रकार के उपद्रवों के साथ-साथ सफलता
गर्भित यह प्रथम चातुर्मास पूर्ण होने के बाद, जो अन्यत्र चातुर्मास करने वाले
संत थे वे सब एकत्रित हुए और जो अवशिष्ट तात्त्विक बोल थे, उनकी चर्चाएं
चलीं ।

१५१. येषां मतं नो मिन्नितं च ते ते, बहिष्कृता भिक्षुमुनीश्वरेण ।

मतं किलैकत्वमनेकतां च, कुर्यात् क्षणात् सादृगसादृशाभ्याम् ॥

जिन संतों के विचार नहीं मिले, महामुनि ने उनको समूह से विलग
कर दिया । समान या असमान विचार ही एकता और अनेकता को संपादित
करते हैं ।

१५२. षट्स्थानतास्पर्शनपालनायां, श्रद्धा कथा किन्तु समा हि यत्र ।

तत्रैव शक्येत समानभावस्ततोऽन्यथा सर्वविडम्बना च ॥

सिद्धांत में संयम की पालना तथा स्पर्शना 'षट्स्थानपतिता' बतलाई गई है। परन्तु श्रद्धान एवं प्ररूपणा तो सदृश ही होनी चाहिए। जहाँ श्रद्धान एवं प्ररूपणा समान है, वहीं मतैक्य हो सकता है। अन्यथा केवल विडम्बनामात्र ही होती है।

१५३. केचित्त्वा केपि कदापि पश्चात्, त्रयोदशात् सप्तविनिर्गताश्च ।

षट् संस्थिताः श्रीमुनिभारीमालादयो महानन्दविधूतदोषाः ॥

ऐसे उन तेरह संतों में से कुछ उसी समय और कुछ बाद में—इस प्रकार सात संत विलग हो गए। तब महानन्द को उत्पन्न करने वाले एवं दोषों से रहित श्री भारीमालजी आदि छह संत साथ रह गए। उन संतों के नाम आगे बताये जाते हैं।

१५४. श्रीभिक्षुभिक्षुः स्थिरपालजीश्च, श्रीमत्फतेचन्द्रमुनिर्विनीतः ।

वाचंयमः टोकरजीमहर्षिर्महागुणी श्रीहरनाथजीश्च ॥

१५५. श्रीभारिमालो गणभारवाही, चंते हि षट् सद्गुणगौरमुक्ताः ।

मालानुबद्धा इव साधु यावज्जीवं स्थिताः स्वामिभिरेकदैव' ॥
(युगम्)

१. आचार्य भिक्षु

२. मुनिश्री स्थिरपालजी

३. विनीत मुनिश्री फतेहचन्दजी

४. मुनिश्री टोकरजी

५. मुनिश्री हरनाथजी

६. मुनिश्री भारमलजी

—ये छहों संत माला में आबद्ध सद्गुण की शुद्ध मुक्ताओं के समान यावज्जीवन आचार्य भिक्षु के साथ एकमेक होकर रहे।

श्रीनाभेयजिनेन्द्रकारमरोद् धर्मप्रतिष्ठां पुनर्,

यः सत्यग्रहणाग्रही सहनयेराचार्यभिक्षुर्महान् ।

तत्सिद्धान्तरतेन चाक्षरचिते श्रीनत्थमल्लविणा,

श्रीमद्भिक्षुमुनीश्वरस्य चरिते सर्गोऽयमेकादशः ॥

श्रीनत्थमल्लविणा विरचिते श्रीभिक्षुमहाकाव्ये केलवानगरस्यां

अंधेरीओढी चातुर्मासिकप्रवासे यक्षस्य साक्षात्कारः, जोधपुरनगरे संघस्य

तेरापंथनामकरणमित्येतत् प्रतिपादकः एकादशः सर्गः ।

बारहवां सर्ग

प्रतिपाद्य : अपने स्वीकृत मार्ग पर आचार्य भिक्षु का अडिगरूप से
चलना तथा आचार्य रघुनाथजी द्वारा समय-समय पर
विविध अवरोध पैदा करना ।

श्लोक : ४७

छन्द : भुजङ्गप्रयात ।

वर्ण्यम्

आचार्य भिक्षु नवीन दीक्षा ग्रहण कर अपने साथी मुनियों के साथ साधना करते हुए विहरण कर रहे थे। धीरे-धीरे ख्याति बढ़ी। आचार्य रघुनाथजी ने तब अपना विरोध और तीव्र कर डाला और अपने भक्तों से कहा—‘सबको सजग रहना है और यह प्रयत्न करना है कि भोखन के पैर कहीं भी जम न पाए। इसके उपक्रम का समूल उच्छेद ही श्रेयस्कर है।’ इन बहुविध घोर उपसर्गों में भी आचार्य भिक्षु सीना तानकर अडिग रहे और सत्य की ज्योति को प्रज्वलित रखते हुए आगे बढ़ते रहे।

द्वादशः सर्गः

१. अथो वर्द्धमानागमोक्तं विशुद्धं, वृषं विश्वविश्वैकविश्वासपात्रम् ।

समुद्दीपितुं दीपतुल्योऽविकारी, सचेष्टो यथेष्टं मुनीशो विहारी ॥

अब सम्पूर्ण विश्व के विश्वास पात्र भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित विशुद्ध धर्म को उद्दीप्त करने के लिए दीपतुल्य तथा अविकारी आचार्य भिक्षु प्रयत्नशील हुए और इच्छानुसार विहरण करने लगे ।

२. असत्यं त्वनिष्टं स्फुटं सन्निवेष्टुं, यतन्ते जगत्यां जनाः पक्षपातात् ।

अहन्त्येकसत्यं जिनोक्तं विवेक्तुं, यते किं न निर्भीकवृत्तिनिरीहः ॥

उन्होंने सोचा — 'इस संसार में स्पष्ट भूठ को भी सच सिद्ध करने के लिए पक्षपात से ग्रस्त मनुष्य कितनी चेष्टाएं करता है, तो मैं निर्भीक एवं निस्पृहवृत्ति से जिनभगवान के सत्य वचनों का प्रसार करने के लिये क्यों न चेष्टा करूं ?'

३. यथार्थाभिरक्षाकृते प्राणपुञ्जो, यदा प्रेत्ययात्री तदा कृत्यकृत्यः ।

मनो जैनपक्षैकवक्षं विलक्षं, निरोद्धुं न शेके न शङ्के च कष्टैः ॥

'यदि यथार्थता की रक्षा के लिये मेरे प्राण भी चले जायें तो मैं कृतकृत्य हो जाऊंगा । मैं वीतराग प्रभु के ही मत में संलग्न इस मन को रोक नहीं सकता । मैं कष्टों से भय भी नहीं खाता ।

४. निजं संयमीयं नवं जीवनीयं, निवोद्धुं मुदा मुख्यरूपेण नित्यम् ।

समुद्धर्तुमाहन्त्यमात्मीयशक्त्या, समुत्थापयामास पादौ सुवृत्तौ ॥

ऐसा विचार कर अपने नवीन संयम जीवन का निर्वाह करते हुए आचार्य भिक्षु ने अपनी आत्मशक्ति से अरिहन्त प्रभु के मार्ग का समुद्धार करने के लिए अपने कदम उठाये ।

५. इमां ह्यातिमाकर्ष्य वैवर्ण्यवक्त्रो, महाशोकसिन्धौ निमग्नो रघुश्च ।

मदीयो हि गच्छो न गच्छेद्विनाशं, मदीया प्रतिष्ठाऽपि नो निष्ठिता स्यात् ।

उनकी ह्याति को सुनकर आचार्य रघुनाथजी डावांडोल हो उठे एवं शोकसिन्धु में निमग्न हो गये । वे ऐसा चिंतन करने लगे—कहीं मेरा गच्छ नष्ट न हो जाए तथा मेरी प्रतिष्ठा समाप्त न हो जाए ।

६. उपद्रोतुमाबद्धकक्षो बभूव, यथा दाववन्हिः प्रफुल्लं निकुञ्जम् ।
जनान् मुग्धभावान् क्षिपे चक्रवाले, यथा लुब्धकः पाशमध्ये मृगादीन् ॥

जैसे विकसित निकुञ्ज को दावानल नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, वैसे ही आचार्य भिक्षु को संकटग्रस्त करने के लिए रघुनाथजी ने कमर कसली और सामान्य तथा भोले-भाले लोगों को अपने वाक्जाल में वैसे ही फंसाने लगे जैसे शिकारी अपने जालपाश में मृगों को फंसाता है ।

७. गुरुद्रोहविद्रोहकारी विकारी, निकारी प्रचारी मृषामान्यतायाः ।
दयादाननाशी विनाशी क्रियाणां, निवासी निकेते च नार्यादियुक्ते ॥

तब आचार्य रघुनाथजी लोगों को कहने लगे—‘यह भिक्षु गुरुद्रोही, विद्रोही, विकारी तथा तिरस्कृत है और विरुद्ध प्ररूपणा करने वाला है । यह दया-दान का एवं क्रिया का विनाश करने वाला तथा स्त्री-संस्कृत वासस्थान में रहने वाला है ।’

८. अयं निन्दको निन्दनीयो नितान्तं, महानिन्हवानां महानिन्हवोऽयम् ।
समग्रेषु कार्येषु पुण्यात्मकेषु, मुदा घोषयेत्तत्र पापं हि पापम् ॥

‘यह निन्दक है, निन्दनीय है तथा महानिह्वानों में भी महानिह्वान है । यह समस्त पुण्य-कार्यों में स्पष्ट पाप की घोषणा करता हुआ हर्षित होता है ।’

९. तमो^१मारणे सर्वमान्यं प्रमाणं, मुदा रक्षणे धर्मं एवाङ्गभाजाम् ।
परन्त्वस्य रागादिभावंरमारो^२जने चापि पापानि सर्वाणि वा स्युः ॥

प्राणियों को मारने में पाप है तथा उनकी रक्षा करने में धर्म ही है, यह सर्वमान्य सिद्धांत है । परन्तु भिक्षु की मान्यता है कि राग आदि भावों से प्राणियों के अवध या रक्षण में सभी पाप—अठारह ही पापों का आसेवन होता है ।

१०. कियज्ज्ञानर्मस्मिस्तथाप्येषभिक्षुर्वर्द्धमान्यया यः शिरो मुण्डितोऽभूत् ।
धिया वर्द्धमानं धिया वर्द्धमानं, तमेवाह विस्मारकं वै विमानम् ॥

हे लोगो ! इस भिक्षण में है ही कितना ज्ञान ! फिर भी इसने जिन के नाम पर शिर मुंडाया है, उन महान् अतिशय के धारक एवं सदा श्री और बुद्धि से वर्द्धमान भगवान् वर्द्धमान महावीर को भी किसी प्रमाण के बिना ही चूका (चूकनेवाला) बताया है ।

१. तमः—पाप (कल्मषं नृजिनं तमः—अभि० ६।१७) ।

२. अमारो—अवधे ।

११. प्रभूणां न मानं मनान् योऽभिरक्षेत्, कथं मां गुरुं सोऽभिमन्येत मानी ।
ततो मां त्यजेत् तत्र का नाम चिन्ता, भवन्निर्गुणदर्शनीयोपि नाऽयम् ॥

जिसने भगवान का तनिक भी मान नहीं रखा यह मानी मुझे गुरु के रूप में कैसे मान सकता है ? इसलिए यह मुझे छोड़ दे तो इसमें कौनसी चिन्ता है ? अतः यह निगुरा है और देखने योग्य भी नहीं है ।

१२. अबुद्धं गुरुं योऽतिशैथिल्यचारं, स्वयं प्रोज्झय पार्थक्यमङ्गीचकार ।
तथापीह निष्कासितोयं मयेति, निजप्रौढ'दर्शी च मिथ्याभियोगः ॥

स्वामीजी ने स्वयं गुरु को अबुद्ध तथा अति शिथिलाचारी समझ कर छोड़ा था, फिर भी आचार्य रघुनाथजी अपना बड़प्पन तथा दक्षता दिखाने के लिये मिथ्या अभियोगों द्वारा ऐसा कहने लगे—‘मैंने इसको गच्छ से निकाला है ।’

१३. निजात्ताखिलार्थाधिपत्वोव वक्ति, मदाज्ञाबहिस्त्वाद् स भिक्षुर्न भिक्षुः ।
अतो नाभिवन्द्यः सतां नाभिनन्द्यस्तिरस्कारयोग्यो बहिष्कारयोग्यः ॥

१४. न सेव्यः स्फुटाभव्यजन्तोरिवैष, न मान्यो न गण्यो न वर्ण्यः कदापि ।
न दानं न मानं न हि स्थानमस्मै, प्रदेयं न चाहारपानीयमस्मै ॥

(युगमम्)

मानो साधुत्व का आधिपत्य अपने हाथों में ही ले लिया हो, इस प्रकार आचार्य रघु ने लोगो से कहा—‘यह भिखन मेरी आज्ञा के बाहर होने से साधु नहीं है, वन्दनीय-पूजनीय भी नहीं है, परन्तु तिरस्कार एवं बहिष्कार के योग्य है ।’

‘इस भिक्षु को अभव्य की तरह मानकर इसकी न सेवा करनी चाहिए, न स्वीकार करना चाहिए, न मान देना चाहिए न स्थान और आहार-पानी देना चाहिए ।’

१५. स्त्रियः प्रायशोन्धानुकाराय सज्जा, भवेयुस्ततस्ता बहु हस्तयित्वा ।
अवस्थान्नरान्स्ताभिराधाय वश्यान्, कृतः स्वामिनि द्वेषभावप्रसारः ॥

प्रायशः स्त्रियां अन्धभक्ति में बहने वाली होती है, अतः अनेक स्त्रियों को अपने पक्ष में कर एवं जो पुरुष उच्छृंखल थे उनको अपने वश में कर आचार्य रघुनाथजी ने स्वामीजी के प्रति प्रचुर द्वेष फैलाया ।

१. प्रौढः—बड़प्पन, दक्षता (प्रवृद्धमेधितं प्रौढं—अभि० ६।१३१ तथा प्रौढस्तु प्रगल्भः—अभि० ३।७) ।

१६. गुरोर्दृष्टिपश्यैविवेकान्धभक्तैः, समारब्धमारात् प्रतिग्राममुग्रम् ।

तदा तीव्रतीव्रं महारौरुरूपं, महाताण्डवं तौमलं द्वेषवृत्तेः ।

गुरुदृष्टि की आराधना करने वाले विवेकान्ध भक्तों ने आचार्य भिक्षु के प्रति गांव-गांव में द्वेष का अत्यन्त तीव्र, रौद्र और घोर ताण्डव नृत्य प्रारंभ कर दिया ।

१७. तदा केऽपि सम्प्राप्तवारस्य लाभं, समुन्नेतुमुत्का निजार्थैककामाः ।

निराडम्बरेणा वृथाडम्बरेणाः, प्रसज्जा वृथान्धा महाविप्लवेषु ॥

उस समय धर्मान्ध, आडंबरप्रिय तथा वृथा आडंबर में रस लेने वाले कुछेक व्यक्ति अवसर का लाभ उठाने तथा अपने प्रयोजन-सिद्धि के लिए उस महान् विप्लव में भाग लेने के लिए सज्जित हो गए ।

१८. समागत्य केचिन् महर्षेः समीपे, छलैः कौतुकैश्छिद्रद्रुग्भविहासैः ।

पुरावर्णितानेकवाक्यप्रपञ्चैर्विभिन्नं विभिन्नं जनास्तं लपन्ति ॥

आचार्य भिक्षु के पास कुछेक छिद्रान्वेषी व्यक्ति छल-छिद्र देखने के लिए, कुछेक कुतूहलवश और कुछेक उपहास करने के लिए आने लगे । वे पूर्वोक्त वाक्य प्रपञ्चों से भिन्न-भिन्न प्रकार से बोलने लगे ।

१९. पुरोभाषि'मुख्यो जिनेन्द्रे गुरौ वा, महापातकं यस्य वक्त्रावल्लोकात् ।

जमालीहतायं च गोशालको वाऽवतीर्णोऽवसीयप्रतिबिम्बबम्भात् ॥

आचार्य स्धुनाथजी लोगों को कहते—यह भीखन जिनेन्द्रदेव और गुरु में केवल दोष देखने वाला है । इसका मुंह देखना भी महान् पाप है । ऐसा प्रतीत होता है कि भीखन के रूप में मानो जमाली अथवा गोशालक ही पृथ्वी पर अवतरित हो गया हो ।

२०. स्वतो दानदानं बहुदूरमस्तु, परैर्दीयमानं निषेद्धं समुत्काः ।

तृषाभिः क्षुधाभिः परिक्लान्तदेहं, समालोक्य तावद् दयालुः प्रसन्नः ॥

वे अन्धभक्त स्वामीजी को अपने हाथों से स्वयं दान देना तो दूर रहा, परन्तु जो दान देते थे उनको निषेध करने के लिये तत्पर रहते थे । ऐसी स्थिति में जब लोग स्वामीजी को भूख और प्यास से खेदखिन्न देखते थे तब वे तथाकथित दयालु पुरुष बहुत प्रसन्न होते थे ।

१. पुरोभाषी—केवल दोष देखने वाला (दोषैकदृक् पुरोभाषी—अभि० ३।४४) ।

२१. यच्च स्थानयोगो मिलेत् स्वापि कोऽपि, ततो दायकं पातयित्वा ध्रुमान्तः ।
विधायाशु बाध्यं प्रणिष्काशयन्ति, पदादेव नो ब्रह्मदेशात् सयत्नाः ॥

स्वामीजी को यदि कहीं शुद्ध स्थान मिल भी जाता तो वे अंधभक्त मकान मालिक को बहुकाकर एवं उसको सामाजिक बंधनों से बाध्यकर ज्यों त्यों निकालने का प्रयत्न करते थे । वे स्थान से ही नहीं, ग्राम से या देश से भी निकालने के लिये प्रयत्नशील रहते थे ।

२२. यदस्पृश्यवद्वर्जनीयो विशेषादमुष्याभिवङ्गो लगेद्वोषरेखा ।

कियद्दक्षबलोऽसितागारगामी, विना कालिमानं कथं स्थायकः स्यात् ॥

देखो ! यह भीखन अस्पृश्य की तरह विशेष रूप से वर्जनीय है । इसकी संगति से दोष की रेखा अवश्य लग जाती है । क्या विचक्षण से भी विचक्षण मनुष्य काजल की कोठड़ी में रहकर कहीं काजल की रेखा लगाये बिना रह सकता है ?

२३. यदाख्यानदेशं ब्रजेत् कोपि दक्षस्तदा सङ्कुतस्तद्बहिष्कार एव ।

यदा कोपि दक्षावपुं च दण्डस्तदैकादशोदारसामायिकानाम् ॥

समाज का यह प्रतिबंध था कि यदि कोई भव्य प्राणी भीखनजी का व्याख्यान सुनने जाएगा तो उसका संघ से बहिष्कार कर दिया जाएगा और यदि कोई भीखनजी को रोटी देगा तो उसे ग्यारह सामायिक का दंड ग्रहण करना पड़ेगा ।

२४. गृहेष्यागतस्यार्यस्य भिक्षोरपूपप्रदानान् मुनिस्थानकेषु ।

स्थिताया ननानुश्च सामायिकं क्षागं, गलेत् काचिदेवं वदन्ती भृता स्त्री ।

कोई स्त्री ऐसा भी कहती कि घर में भिक्षार्थ आए हुए मुनि भिक्षु को रोटी देने से, स्थानक में सामायिक की आराधना कर रही मेरी ननद की सामायिक गल जाती है, नष्ट हो जाती है ।

२५. यदा कोपि तस्यानुयायी प्रशंसी, यथार्थानुमोदी विनोदी तदर्थम् ।

गतोऽयं च बीतो विशेषोत्तमाङ्ग, इति स्तुत्यशब्दस्तमुच्चारयन्ति ॥

यदि कोई स्वामीजी का अनुयायी उनकी प्रशंसा या यथार्थ अनुमोदन करता तो वे अन्धभक्त ऐसा कहते—‘यह तो गयाबीता है । इसका मस्तिष्क विकृत हो गया है ।’ इन स्तुतिमय शब्दों से वे उसको पुकारते थे ।

२६. रणप्राङ्गणं मण्डयित्वा ह्यखण्डं, जना मंसु पृष्ठेषु पृष्ठेषु नित्यम् ।

ध्रुमन्त्येव संक्षेपदानायि शुम्भच्छशाङ्कानुराहुप्रतिमैः स्ववर्गैः ॥

विरोधियों ने स्वामीजी को मूल से उखाड़ने के लिये मानो संग्राम का मोर्चा ही लगा दिया हो और उनको क्लेश पहुँचाने के लिये वे अपने समूह के साथ उनके पीछे-पीछे वैसे ही चक्कर काटने लगे जैसे शुभ्र चंद्रमा के पीछे राहु ।

२७. सदा जैननाम्ना विरोधं दधदभिरधस्यादधःस्थेनं सङ्गे निषेधः ।

परं प्रायसाम्यषिदीपाङ्गजैस्तैर्निरोधो विरोधो विधेयः समस्तैः ॥

सदा जैन नाम से विरोध करने वाले तथा अधम से भी अधम लोगों की संगति में किसी प्रकार की रुकावट नहीं थी परन्तु समता के साधक भीखनजी की संगति कोई न करे इस प्रकार चारों ओर से निरोध एवं विरोध का ही उपदेश चलता था ।

२८. परैस्तावती नैव हानिः कदापि, निजैर्यावती स्यात्ततो वारयामि ।

निजाङ्गीयरोगो यथा प्राणहारी, तथा नेतराणां शरीरामयो हि ॥

आचार्य रघुनाथजी कहते—‘मैं भीखन की संगति के लिए इसीलिए मना कर रहा हूँ कि जितनी हानि अपने घर वालों से होती है उतनी औरों से नहीं होती । जैसे अपने ही शरीर का रोग प्राणहारी होता है दूसरों के शरीर का रोग वैसा नहीं होता ।’

२९. जनान्लोदयेयुर्जना यूयमेव, त्विदं सम्प्रदायान्तरे सूत्रधाराः ।

क्रमौ क्वापि भिक्षोर्लंगतां न किञ्चित्तथाश्रावकैः सावधानैश्च भाव्यम् ॥

आचार्य रघुनाथजी अपने मुख्य श्रावकों को प्रेरित करते हुए कहते—‘अहो ! श्रावको ! तुम ही इस सम्प्रदाय के सूत्रधार हो । तुम्हें इस बात की सावधानी रखनी है कि भीखन के पैर कहीं जमने न पाएँ ।’

३०. क्षमादानदाने मृषारुद्धिरूपं, तदादर्शमात्रा विलीना निलीना ।

तदुद्देश्यपूर्त्तिनिरानन्दवृन्दा, यतो भिक्षुभिस्तादृशी दुष्टनीतिः ॥

उस समय में क्षमत-क्षमापना की जो सुन्दर विधि थी वह तो व्यर्थ रूढी का रूप धारण कर चुकी थी । उसका जो निर्मल आदर्श तथा उद्देश्य था वह तो कहीं विलीन हो गया था । उसकी पालना रूढीगत होती थी । उसमें कोई आनन्द नहीं था । इसीलिए भिक्षु के प्रति ऐसी दुर्नीति बरती जा रही थी ।

३१. महानास्तिकानां यथेष्टं सभायां, विरुद्धाद् विरुद्धानि सम्भावयानि ।

परं तस्य तस्यानुगानां च तथ्यं, वचस्तैर्न दीयेत वक्तुं अकुटथा ॥

आचार्य रघुनाथजी की सभा में चाहे महानास्तिकों का नास्तिक विरुद्ध से भी विरुद्ध भाषण भी क्यों न दे दे, उसकी कोई रुकावट नहीं थी। परन्तु स्वामीजी के अनुयायी यदि सत्य बात भी कहते तो रघुनाथजी अपनी भृकुटि तानकर उनको बोलने नहीं देते।

३२. प्रतिज्ञातभिन्नाभिवादान् समीर्य, परान् वन्दयेद् यो मृषासम्भ्यतार्थी ।

विजाते नमस्कारमात्रे प्रमादान्, मुनीन्द्रोस्तदा दण्डनीयः स तेन ॥

वे मृषा सम्भ्यतार्थी अपने सम्प्रदाय से जो भिन्न थे उनको तो नमस्कार आदि करवाने में प्रेरणा करते थे परन्तु मुनि भिक्षु को यदि भूल से भी कोई नमस्कार कर लेता तो वह दण्डनीय माना जाता था।

३३. कलङ्काधिरोहास्तिरस्कारकारा, अनिष्टप्रलापा मुनेः कष्टकाराः ।

कषश्चित् कृतायै कदा वन्दनायै, मृषा दुष्कृतं मे त्विति व्याहराहि ॥

वे अंधभक्त मुनि भिक्षु पर वृथा कलङ्क लगाने वाले, तिरस्कार करने वाले, अटसट बोलने वाले और कष्ट देने वाले ही थे। यदि भूल से स्वामीजी को वन्दना कर भी लेते तो 'मिच्छामि दुक्कडं' कहकर प्रायश्चित्त लेते थे।

३४. त एवाभिमान्या समाजाग्रगण्या, हितैषिप्रसिद्धाः सदा शासनस्य ।

रघोः श्लाघनीयाः मुखश्रुद्विलग्नाः, परिपृच्छनीयाश्चरीकीर्त्तनीयाः ॥

ऐसे अंधभक्त ही समाज में माननीय, मुख्य और शासन के प्रसिद्ध हितैषी कहलाने वाले थे और वे ही रघुनाथजी द्वारा श्लाघनीय, मुंहलगे एवं कानलगे थे। वे ही पृच्छनीय एवं कीर्त्तनीय थे।

३५. मुनेर्मातृपाश्वे समागत्य सूरिर्बभाषे कुपात्रं त्वदीयोऽद्यसूनुः ।

अभूद्धर्मशत्रुर्गुरोर्द्विदं कृतघ्नो, महाविघ्नभूतो ममोपक्रमेषु ॥

तब रघुनाथजी मुनि भिक्षु की मां के पास आकर बोले—'हे दीपे ! आज तेरा यह पुत्र कुपात्र हो गया है। यह धर्म एवं गुरु का शत्रु और कृतघ्न बन रहा है। यह मेरे उपक्रम में महान विघ्न उपस्थित करनेवाला है।'

३६. ददात्युत्तरं स्पष्टवाण्या तदा सा स्मृतावाननीया पुरोक्ता भवद्गोः ।

सुतस्ते महावीरसिद्धान्तसारे, मृगारातिनाबोनुगर्जति सूक्तम् ॥

तब माता दीपां ने आचार्य रघुनाथजी को स्पष्ट कहा—'गुरुवर्य ! आप अपनी पूर्वोक्त वाणी का स्मरण करें। आपने कहा था, तेरा पुत्र भगवान महावीर के शासन में सिंह के समान गुंजेगा।'

३७. त्वदुक्त्यङ्गाजातो यथार्थकवक्ता, जिनेन्द्रोदिताध्वप्रकाशंकपुञ्जः ।

कुशीलान् कुरङ्गान् कुरङ्गान् विधातुं, सदाभारसम्भारसिंहीयनादी ॥

‘इसीलिये आपके कथनानुसार मेरा पुत्र यथार्थ भाषी एवं वीतराग के मार्ग में एक प्रकाशपुञ्ज ही है और कुशील रूप मृगों को कुरंग—विवर्ण बनाने के लिये मानो शिर पर जटा बिखेरता हुआ तथा सिंहनाद करता हुआ सिंह ही है ।’

३८. अतो नो कुपात्रं सुपात्रं सुतो मे, कथं भो ! स शैथिल्यचारोपचारी ।

प्रपा युज्यतेऽतस्त्रपावस्तुमीश !, शिवायास्तु पन्था भवन्तो व्रजन्तु ॥

इसीलिए मेरा पुत्र कुपात्र नहीं है प्रत्युत सुपात्र ही है । आप द्वारा कहे हुए उपरोक्त शब्द शोभास्पद नहीं हैं । वह शिथिलाचारी कैसे तो सकता है ? आप यहां से पधारें । आपका पथ निर्विघ्न हो, मंगलकारी हो ।

३९. तथा तजितेनापि कार्यं स्वकीयं, न मुक्तं विमुक्तं मनान् वेवभाजा ।

धृतेनाभिषिक्तेन वैश्वानरेण, परित्यज्यते किं निदाघस्वभावः ॥

माता दीपां द्वारा तिरस्कृत होकर भी आचार्य रघुनाथजी अपने द्वेषपोषण रूप कार्य से मुक्त नहीं हुए । उन्होंने अपने आपको विरोध से अलग नहीं किया । क्या धृत से सिंचित अग्नि अपने ‘ताप’ स्वभाव को छोड़ देती है ?

४०. समाक्रम्यमाणं समन्तात् समस्तैः, समालोक्य साक्षात् पुराचार्यमित्यम् ।

मनस्वी मुनीन्द्रो महाध्यात्मतेजाः, प्रदीपाङ्गजातोऽपि जातोऽतिसज्जः ॥

अपने पूर्व आचार्य (रघुनाथजी) को चारों ओर से आक्रमण करते हुए देखकर वे मनस्वी महान् अध्यात्म तेज से युक्त दीपाङ्गज आचार्य भिक्षु भी सज्जित हो गये ।

४१. स्वमौलौ जिनाज्ञाशिरस्त्राणतायी, तनौ तत्त्वनिष्ठाच्छसन्नाहसाही ।

क्षमाखड्गधारी मुनिभिक्षुराजोऽभवन् सन्मुखिनो जगद्बन्धुहारी ॥

जगत् के द्वन्द्व को हरण करने वाले मुनि भिक्षु भी अपने शिर पर जिनाज्ञारूप शिरस्त्राण, अपने शरीर पर तत्त्व निष्ठारूप कवच तथा हाथ में क्षमा रूप खड्ग धारण कर परिस्थिति के सामने डडकर खड़े हो गए ।

४२. विधृत्वात्मचित्ते महाशान्तिभावं, समोऽमित्रमित्रे यथा मित्रवर्यः^१ ।

समाधौ सुधासारसिन्धौ निमग्नः, समालोचयेत् साधुमार्गं पुनीतम् ॥

वे अपने चित्त में महान् शांति को धारण कर एवं सूर्य की तरह मित्र-अमित्र पर समभाव रखते हुए, अपने पवित्र साधुत्व को स्मृति में रखते हुए, समाधि रूप सुधा समुद्र में निमग्न रहने लगे ।

४३. नहि द्वेषमार्गाच्चिकीर्षुस्तथाऽहं, वृथाऽऽत्मीयकार्यं कथं नाशयामि ।

समुत्पन्नकार्यं प्रतीयेत सम्यक्, क्षमाशूरता नान्यथा किञ्चताभिः ॥

स्वामीजी ने सोचा, मैं द्वेषमार्ग को अपनाकर अपना प्रयोजन सिद्ध करना नहीं चाहता । मुझे व्यर्थ ही आत्मगुणों का नाश नहीं करना चाहिये, क्योंकि कार्य उत्पन्न होने पर ही, अवसर आने पर ही, क्षमाशूरता जानी जाती है, अन्यथा नहीं ।

४४. सदा सासहिः सिंहवृत्त्योपसर्गान्, मुदा बावहिर्भारमात्रं महीवत् ।

परं चाञ्चलिनैव सत्याध्वनोहं, मनाक् पापतिनो बुभूषुः कदाचित् ॥

मैं निरन्तर सिंहवृत्ति से उपसर्गों को सहन करूंगा तथा गृहीत साधु-भार को पृथ्वी की तरह वहन करूंगा । मैं सत्यमार्ग से कभी भी विचलित नहीं होऊंगा, कभी भी संयम मार्ग से च्युत नहीं होऊंगा ।

४५. समुद्घाटय वक्षःस्थलं भिक्षुभिक्षुः, स्थितोऽभूज्जगत्यां समक्षे समेषाम् ।

ततः शासनं जैनमेनो^१विमुक्तं, समाशासितुं वीरवीरः प्रवृत्तः ॥

वे वीर श्रेष्ठ महामुनि अपना सीना तानकर इस संसार के सामने खड़े हो गये और जैन शासन को दोषविमुक्त करने की दिशा में जनता को शिक्षा देने में प्रवृत्त हो गए ।

४६. मनोहत्य पञ्चाब्दपर्यन्तमन्नं, न नीतं न पीतं कणेहत्य नीरम् ।

तथाप्येष सद्वेषभाजामघीशो, विशश्राम नार्हन्त्यसत्यप्रचारात् ॥

ऐसे महान विद्वेष के युग में स्वामीजी को पांच वर्षों तक न पर्याप्त अन्न ही मिला और न पर्याप्त पानी ही । फिर भी संत शिरोमणि अरिहंत प्रभु के मार्ग का निरन्तर सही प्रचार करते रहे, कभी विश्राम नहीं लिया ।

१. मित्रः—सूर्य (मित्रो द्वान्ताराति....—अभि० २।१०)

४७. न चैकद्वयान्हीह कष्टानि किन्तु, ह्यनेकानि वर्षाणि घोरान्धशेषम् ।
तथाप्युन्नतो नो नतोऽमान्यसद्भिः, प्रणम्यते तं सदा साधुवादैः ॥

उन्होंने ऐसे महान् और घोर कष्टों को एक, दो दिन नहीं परन्तु
अनेक वर्षों तक सहन किया । ऐसे सभी कष्टों का सामना करते हुए भी वे
महामुनि सदा उन्नत ही रहे, कभी शिथिलाचारियों के सम्मुख नत नहीं हुए ।
ऐसे महान् योगीराज एवं भावितात्मा के प्रति स्तुतिपूर्वक वन्दना ।

श्रीनाभेयजिनेन्द्रकारमकरोद्धर्मप्रतिष्ठां पुनर्,
यः सत्यग्रहणाग्रही सहनयैराचार्यभिक्षुर्महान् ।
तत्सिद्धान्तरतेन चारुचिते श्रीनत्थमल्लषिणा,
श्रीमद्भिक्षुमुनीश्वरस्य चरिते सर्गोज्जनि द्वादशः ॥

श्रीनत्थमल्लषिणा विरचिते श्रीभिक्षुमहाकाव्ये
विरोधजनितगुरूपसर्गसहननामा
द्वादशः सर्गः

तेरहवां सर्ग

प्रतिपाद्य : जैनधर्म की तत्कालीन स्थितियों का चित्रण, धर्मप्रचार में आने वाले नानाविध उपसर्ग, जनता की मूढता से निराश होकर तपोनुष्ठान में प्रवृत्त, मुनिद्वय द्वारा प्रबोध, जनता का आकर्षण और तेरापंथ का स्थिरीकरण ।

श्लोक : १०८ ।

छन्द : द्रुतविलम्बित ।

वर्ण्यम्

आचार्य भिक्षु अपने सहयोगी संतों के साथ सत्पथ का प्रचार करने निकले । जनता मूढता और आग्रह से ग्रस्त थी । सत्य विचारों को सुनने-समझने के लिए वह तत्पर नहीं थी । आचार्य भिक्षु का मन यह देखकर व्यथित हो उठा कि लोग जिनप्ररूपित धर्म को सुनने के लिए भी तैयार नहीं है । आचार्य भिक्षु ने जिनेश्वर की स्तुति के बहाने उस समय के जैनधर्म की स्थिति को प्रगट किया और यह दृढ़ता के साथ कहा कि मैं सैकड़ों उपसर्गों को सहर्ष सहन कर सकता हूँ, पर जिनवचनों से विपरीत आचरण को सहन नहीं कर सकता । सत्पथ के प्रचार में सफलता के आसार न दीखने पर वे अपने सहयोगी मुनियों के साथ तपोनुष्ठान में संलग्न हो गए । तब एक दिन मुनि स्थिरपालजी और मुनि फतेहचंदजी के कथन पर तपोनुष्ठान से विरत हो वे लोगों को प्रबोध देने में प्रवृत्त हुए । उनकी वाग्पटुता एवं सहज निर्मलता से जनता में आकर्षण बढ़ा और तेरापंथ के विचारों की सत्यता से जनमानस प्रभावित हुआ ।

त्रयोदशः सर्गः

१. सकलमङ्गलनिर्मलकारणं, विमलसाध्यसमुज्ज्वलसाधनम् ।
हृदि निधाय विधाय सहायकं, जिनवरं नवरं नवरञ्जितम् ॥

२. तरणतारणतीव्रतरंस्तरस्तरणिवसतसंसरणाऽतरात् ।
निगदिते जिनपैः सुकृते कृते, प्रवदते वदते वदते पुनः ॥
(युग्मम्)

तब वे महामुनि भिक्षु समस्त निर्मल मंगल के कारणभूत, विमल साध्य के समुज्ज्वल साधन, समस्त पुरुषों में श्रेष्ठतम और ऋषि महर्षियों की स्तुति से रञ्जित जिनेश्वर देव को हृदय में धारण कर आगे बढ़े । तैरने और तैराने में निपुण तथा विशाल भव-समुद्र से पार लगाने के लिए तैरती हुई नौका के समान जिनेश्वर देव द्वारा प्ररूपित धर्म को पूछने पर या बिना पूछे भी आचार्य भिक्षु प्रगट करने के लिए यत्न करने लगे ।

३. गुरुविपक्षकुलक्षणलाञ्छिता, विदधते श्रुतिगोचरतां न वाग् ।
अवणतोऽप्यनुसंदधते न ते, विमतितोऽमतितोऽमतितोऽदिनः ॥

जो कुगुरु के पक्ष रूप कुलक्षणों से लाञ्छित हो गये थे वे मनुष्य आचार्य भिक्षु की वाणी सुनने के लिए तत्पर ही नहीं होते थे । यदि वे अज्ञान से प्रताडित मनुष्य कदाचित् वाणी सुन भी लेते तो अज्ञान तथा द्वेषवश उस वाणी पर चिन्तन नहीं करते थे ।

४. भगवताङ्गवतां भवनाशकं, सुरमणिद्रुमदुर्लभदुर्लभम् ।
अभिहितं निर्याति सुभगां विना, विशददर्शनदर्शनदर्शनम् ॥

भगवान् का तत्त्वदर्शन मनुष्यों के भव-दुःखों का नाश करने वाला है । उसको देखने-समझने के लिए जो नेत्र चाहिए उनकी प्राप्ति चिन्तामणि रत्न एवं कल्पवृक्ष से भी अत्यन्त दुर्लभ है । इसीलिए शुभ भाग्य के बिना उन दिव्य नेत्रों की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

१. न विद्यते वरो यस्मात् इति नवरम् ।
२. स्तवार्थे नवशब्दः ।
३. पृच्छकाय अपृच्छकाय वा वदते यतते ।
४. द्वेषतो अज्ञानतो वा ।
५. विशददर्शनाय नेत्रम् ।

५. कुमतिसन्ततिकुत्सितकामनासुचिरसम्भृतसञ्चितसंस्कृतेः ।

द्रुतमपाकरणं सुकरं न सा, सुजनताजनता^१जनता^२ क्व च ॥

मिथ्या परम्परा की कुत्सित कामना से जो संस्कृति चिरकाल से भृत एवं सञ्चित है उसका शीघ्र ही निराकरण करना सहज नहीं होता क्योंकि वैसी सुजनता से परिपूर्ण तथा धर्मप्रवण जनता भी कहां है ?

६. जनजने जटिला जडता भूता, निगडितान्धपरम्परभक्तिता ।

निविडता स्थितिपालकता गता, स समयोऽसमयो^३समयोगिनाम्^४ ॥

जन-जन के हृदय में जटिल जड़ता भरी पड़ी है और जनता अंधभक्ति की परम्परा में जकड़ी हुई है तथा स्थितिपालकता भी निविड होती जा रही है। अतः यह समय ऐसे कठोर योगियों के लिए उपयुक्त नहीं है।

७. स्थितिभिर्मां समवेक्ष्य मुनीश्वरः, समबलोचयते चतुराग्रणीः ।

जिनमतप्रसूतेनिगमोर्थवान्, विनयतो नयतो नयतोऽधुना ॥

ऐसी स्थिति को देखकर चतुर शिरोमणि मुनि नायक ने सोचा कि इस स्थिति में विनय से अथवा न्याय-नीति से भी जिनमत का प्रचार-प्रसार सार्थक नहीं होगा।

८. न च चतुर्विधबैभवसम्भवः, सुलभबोधिजना अपि दुर्लभाः ।

यदि च कोपि समेति तमेव संश्रमयते मयते मयतेजसा^५ ॥

वर्तमान में जब सुलभबोधि मनुष्यों का होना भी दुर्लभ है तो भला चतुर्विध संघ का वैभव होना तो कहां संभव है ? और यदि कोई मेरे पास आ भी जाता है तो उसको ज्यों-त्यों भड़काने के लिये, उसको वश में लाने के लिए एवं दैत्यतेज से भयभीत करने के लिए दूसरे लोग कोशिश करते रहते हैं।

९. सहचराः शमिनोपि कदाचन, प्रतिपदं विफलत्वमिदं मम ।

समधिगम्य विरम्य परीक्षैः, सुमनसो मनसोऽमनसो ययुः ॥

१. सज्जनजनसमूहस्य भवनम् ।

२. अजे—परमेश्वरे नताः ।

३. अनवसर ।

४. कठिनयोगिनाम् ।

५. दैत्यतेजसा ।

मेरे ये प्रसन्नवदन वाले सहचारी संतगण भी मेरी पग-पग पर विफलता को देख, परिषहों से घबरा कर अन्तःकरण से अन्यमनस्क हो सकते हैं ।

१०. यद्यपि नैजहिताय कृतः श्रमः, प्रमुखताभिरमुन्नमनीषया ।

तदपि सद्व्यवहारविलङ्घनं, रचयतोऽचयतोऽचयतो न शम् ॥

यद्यपि प्रमुख रूप से मोक्षबुद्धि एवं आत्महित के लिए हम यह श्रम कर रहे हैं, फिर भी सद्व्यवहार, चाहे पुष्ट हो या अपुष्ट, उसका उल्लंघन करने वालों को कभी सुख नहीं हो सकता ।

११. न शृणुते मनुते चिनुते च नो, वचनसङ्कलनं कलनाकुलम् ।

कमभिलक्ष्य विलक्षणमानवं, विरचयामि चयामि चयामि तत् ॥

मेरे न्याययुक्त वचन को आज की जनता न तो सुनती है, न मनन करती है और न उसका संग्रहण ही करती है तो मैं किस विलक्षण व्यक्ति को लक्ष्य कर बोलूँ और किसके समक्ष अपने वचन पुष्ट करूँ तथा किन व्यक्तियों का चयन करूँ ।

१२. क्व च गतानि दिनानि समुत्सुकाः, सपदि येषु विमोर्वचनामृतम् ।

श्रवणसारपुटे रसितुं जनाः, समुदिता मुदिताऽमुदिता मुनौ ॥

वे दिन कहां गये, जब प्रसन्न एवं अप्रसन्न चित्तवाले भी मनुष्य उत्सुकता के साथ भगवान् के वचनामृत को अपने कानों से पीने के लिये मुनियों के पास एकत्रित होते थे ।

१३. नयनगोचरतां प्रणयामि तत्, सुदिवसानि भवन्ति कवेह च ।

जिनवचोऽवितथं शृणुयुर्जना, असरलाः सरलाः सरलायितम् ॥

मैं उन सुदिनों को यहां कब देख पाऊंगा जिनमें जिनेश्वर देव की सत्य और सरल वाणी श्रृजु या वक्र—सभी व्यक्ति सुन पाएंगे ?

१४. न च यथार्थतया ग्रहणोत्सुका, दुरुपयोगकराश्च सदा जनाः ।

तदिह फल्गु शिरस्पचनेन किं, विरमणं रमणं रमणं ततः ॥

१. अनुच्छतः ।

२. एकतोऽपि न सुखं पुष्टीभवति ।

३. सामीप्ये सप्तमी ।

४. सुन्दरम् ।

सबसे पहली बात तो यह है कि मेरे वचन कोई सुनना नहीं चाहते । कदाचित् सुन भी लेते हैं तो यथार्थता से उसे ग्रहण करने के लिए तत्पर नहीं रहते तथा लोग सदा मेरी बात का दुरुपयोग ही करते हैं । ऐसी स्थिति में जनता के लिए इतना सिर-पचाना, श्रम करना, व्यर्थ है । अब मेरे लिए यही सुन्दर है कि मैं अपने प्रचार से विरत हो जाऊं ।

१५. कुमतिभिर्विकृता बहुशश्चये, ह्यविकृतान् परिमन्ययितुं पराः ।

अहमहो करवाणि किमेकको, जिनवरेन्द्र ! वरेन्द्रसमर्चित !।

हे श्रेष्ठ इन्द्रो द्वारा पूजित जिनवरेन्द्र ! ये अज्ञानी लोग बहुत मनुष्यों को बिगाड़ ही रहे हैं, साथ ही साथ जो अच्छे हैं उनको भी बिगाड़ने के लिए तत्पर रहते हैं । अब मैं अकेला क्या करूं ?

१६. स्वरिपुसत्ययुगानुगमानिव, कलिरवेक्ष्य सुलक्ष्यपरान् किमु ।

अनभिनन्दयिता तदपष्ठुरान्^१, विजयिनो जयिनोऽजयिनोऽतनोत्^२ ॥

यह कलिकाल अपने शत्रु सत्ययुग के अनुयायियों को सुलक्ष्य की ओर बढ़ते देखकर मानो उनका अनादर कर रहा है और जो प्रतिकूल मार्ग पर चलने वाले हैं तथा जो न्याय मार्ग से पराजित हैं उनको जय-विजय दिलाते वाला है ।

१७. अहह वीरविभो ! विभुताधिप !, शृणुतरां सुतरां सकलार्थविद् ! ।

अरमरुनुबहादंसमुत्थितां, सुभगवन् ! भगवन् ! भगवन् ! कथाम् ॥

हे वीरविभो ! हे विभुता के स्वामिन् ! हे सर्वज्ञ ! हे ऐश्वर्य संपन्न भगवान् ! मेरे व्यथित हृदय से उठी हुई कथा को आप सुनें तो सही ।

१८. सुभगसिद्धपुरोधेनृपाङ्गजस्त्रिजगतामधिपस्त्रिशलात्मजः ।

हृतसमग्रसमृद्धिसुवैभवो, विरतितो रतितो व्रतमाबदे ॥

सौभाग्यशाली सिद्धार्थ राजा एवं त्रिशलादेवी के पुत्र, तीन लोक के स्वामी महावीर ने समस्त ऋद्धि एवं वैभव को छोड़कर वैराग्य के साथ आनन्द से दीक्षा ग्रहण की ।

१९. रविमिताब्दसहार्धितयन्त्रयोदशदलेषु महोन्नतपोबलात् ।

मतमितं वरकेवलसञ्ज्ञकं, विकलहं कलहं^३ कलहंसितम् ॥

१. अपष्ठुरम्—प्रतिकूल (अपसव्यमपष्ठुरम् अभि० ६।१०१) ।

२. अजयशीलानपि जयविजयिनोऽकरोत् ।

३. कलः—संख्या, तां हन्तीति कलहं—अनन्तम् ।

उन्होंने दीक्षा धारण कर बारह वर्ष एवं साढ़े तेरह पक्ष तक उग्र तपोबल से निर्द्वन्द्व, अनन्त तथा कलहंस के समान उज्ज्वल केवलज्ञान को उत्पन्न किया ।

२०. मुनिभुनीर्यदण्व्रतिनोऽमितान्, विशददर्शनिनो ह्युपदेशतः ।

शिवपुरं गमिनो विरचय्य च, विकचितं कचितं नियमैर्जगत् ॥

केवलज्ञान को प्राप्त कर भगवान् महावीर ने अपने उपदेशों के द्वारा साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकाओं को सम्यग्दर्शी एवं मोक्षगामी बनाकर, इस संसार को वैधर्म्य से हटाकर नियमों में बांधा एवं विकश्वर भी किया ।

२१. समनुभूय सुतीर्थकृतां पदं, सकलकर्मरजांसि विधूय च ।

परममोदमहोदयनिर्वृतेर्भुविपदं विपदन्तकरो बधे ॥

समस्त विपदाओं का अन्त करने वाले प्रभु ने तीर्थंकर नाम पद का अनुभव कर, समस्त कर्मरजों को नष्ट कर परमानन्द एवं महोदय रूपी मोक्ष भूमि पर अपना स्थान बना लिया अर्थात् मोक्ष में पधार गये । वे महावीर प्रभु आज इस धरा पर दिखाई नहीं दे रहे हैं ।

२२. जिनमतं विततं वटवद्यतः, सकलसंयमिताश्च शिवंगताः ।

गणधरः प्रथमोऽखिललब्धिभृत्, क्व च स गोतम गोतम गोतमः ॥

हे प्रभो ! जिनसे यह जिनमत वट वृक्ष की तरह विस्तार को प्राप्त हुआ और जिनके दीक्षित समस्त संत मोक्ष गये ऐसे समस्त लब्धियों के भंडार, प्रभु के प्रथम गणधर श्री गोतम स्वामी भी आज कहाँ हैं ?

२३. विवरितुं गतिमुत्तमपञ्चमीं, किमभवद् गणभृन्ननु पञ्चमः ।

प्रथमपट्टधरो भवतां क्व यः, सुसमयः^१ समयः^२ समयो^३ऽस्य च ॥

हे प्रभो ! वे आपके प्रथम पट्टधर मानो पञ्चम गति को प्राप्त करने के लिये ही पंचम गणधर बने । सुंदर सिद्धान्तों के धारक तथा उत्तम भाग्यवान् उन सुधर्मा स्वामी का समय भी अब कहाँ है ?

२४. परविरागमहाव्रतधारको, हृतसचीप्रभसुन्दरसुन्दरिः ।

चरमकेवलजम्बुमुनीश्वरः, स्मृतिपथेऽतिपथे हि च साम्प्रतम् ॥

१. शोभनाः सिद्धान्ता यस्य ।

२. सं—शुभं, अयः—भाग्यं यस्य ।

३. अवसरः ।

हे विभो ! शची के समान प्रभा को धारण करने वाली जिनकी सुन्दर स्त्रियां थीं, उन सुन्दरियों को परमोच्च वैराग्य से त्याग कर जिन्होंने दीक्षा धारण की थी, ऐसे चरम केवली जम्बूस्वामी भी आज आंखों से ओझल हैं ।

२५. बुकमला परिमुह्य शिवं प्रति, जिगमिषूनवरुध्य वृताः स्वयम् ।

क्वचन ते प्रभवदिगणेश्वराः, मुनिनयामि नयामि कुतो व्ययाम् ॥

प्रभो ! मोक्ष में जाने की इच्छा रखने वाले उन प्रभव आदि आचार्यों को स्वर्ग की लक्ष्मी ने मोहित कर उन्हें स्वर्ग में ही रोक लिया । ऐसे प्रभव स्वामी आदि आचार्य भी आज कहां हैं ? इसलिये मैं किसके सामने कहां और कैसे अपनी व्यथा को दूर करूं ।

२६. अवधिकेवलमानसबोधिनी, मुनिवरा न हि पूर्वधरा अपि ।

क्व कलयामि निजात्मकपूतकृतिमविकलां विकलां बहुसम्भृताम् ॥

आज इस संसार में अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, केवलज्ञानी एवं पूर्वों के धारक मुनि भी नहीं हैं । इसलिए मैं व्यथा से छलाछल भरी हुई अपनी बात को पूर्ण या अपूर्ण रूप से किसके समक्ष व्यक्त करूं ?

२७. विषमता पतिता जिनशासने, क्व च विवेचयितुं प्रतिचेष्टयते ।

समभववक्षका अपि भक्षका, मुनिवरा निविडायितवृत्तकाः ॥

हे प्रभो ! आज जिनशासन पर विपत्ति आ पड़ी है । मैं इसका क्या विवेचन करूं ? जो मुनि रक्षक एवं चारित्र्य की सघन पालना करने वाले थे, वे भी आज भक्षक बन बैठे हैं ।

२८. सकलरक्षकमम्बरमम्बरं, स्फुटति चेन्निरुणद्धि कथं च कः ।

यदि धरा धृतिमुज्जति किं ततः, कलयते लयते' क्व च विष्टयम् ॥

समष्टि की रक्षा करने वाला यह आकाश रूप अम्बर ही यदि फट जाये तो कौन किसको रोक सकता है ? यदि यह धरा भी ध्रैर्य को छोड़ बैठे तो यह संसार क्या करे और विश्व का आधार क्या बने ?

२९. यदि समेपि विषाक्तविषाङ्कुरं, समभिषिञ्चयितुं परितः पराः ।

मुशिविरं परिपाटयितुं तता, अकरणं करणं किमु वा ततः ॥

१. लयते—समर्थयते श्लिष्यते वा ।

यदि समस्त मनुष्य विषाक्त विषाङ्कुरों को ही सींचने लग जाएं और अच्छे उद्यानयुक्त शिविर का नाश करने के लिए तत्पर हो जाएं तो फिर क्या करना एवं क्या नहीं करना—यह विवेक ही लुप्त हो जाता है।

३०. भवति नाद्य सुलोचनगोचरः, परमरोचकताचकितार्थविद् ।

कुमतिभिश्च कदाग्रहविग्रहैरविकृतं विकृतं जिनशासनम् ॥

आज कोई भी अतिशय ज्ञानी दृष्टिगोचर नहीं होते। इसीलिये तो ये कुमति को धारण करने वाले लोग कदाग्रह और विग्रह से जिनेश्वर देव के निर्मल शासन को भी विकृत करते जा रहे हैं।

३१. समय एव करोति बलाबलमिति निदर्शयितुं कलिकेलितः ।

निखिलमान्यमिदं जिनदर्शनं, नृपतयोऽपतयोऽपि च तत्पद्मः ॥

‘समय ही मनुष्य को बलवान् एवं बलहीन बनाता है’—यह निदर्शित करने के लिए ही कलियुग में जगत्मान्य जिनदर्शन को स्वतंत्र राजा भी छोड़ बैठे हैं।

३२. श्रमणवेषमनुत्कटदम्भतापरमपातकताप्रतिपालना ।

फलति सम्प्रति किञ्च निवेद्यते, कलिकलालिकलाभकथावली ॥

हे प्रभो ! इस श्रमण वेष के भीतर उत्कट दाम्भिकता एवं परम-पातकता की प्रतिपालना फलती जा रही है। इस कलियुग में मिथ्या लाभों की बात क्या बताऊं ?

३३. जिनवृषं क्षुधितेव च हुण्डिकाभिघ्रमिदेलिमभागऽवसर्पिणी ।

प्रसितुमुत्कणिता समुपस्थिता, किमऽनिमित्तनिमित्तवती १ विभो ! ॥

हे प्रभो ! यह नश्वरता को समेटे हुए हुण्डा अवसर्पिणी मानो क्षुधा से पीड़ित-सी होती हुई बिना प्रयोजन ही कारण बन जिनेश्वर देव के धर्म का भक्षण करने के लिए अपना फण उठाकर तैयार हो रही है।

३४. यदनुगो महिपोपि च कश्चन, न च महोच्चपदोऽन्यनरो मतः ।

तद्वितरेप्यनुभावयुताः सदा, प्रबभिताऽदमितारिगणास्त्विह ॥

१. कलेः कलाया अलिकलाभस्य ।

२. विना प्रयोजनं कारणवती ।

हे प्रभो ! इस दुःषम काल में जिनमत के अनुयायी कोई भी राजा दिखाई नहीं देता और न उच्च पदाधिकारी राजकर्मचारी ही नजर आ रहा है। अन्यत्र लोग प्रभाव संपन्न हैं और वे अजित बैरियों को जीतने में सक्षम हैं।

३५. अभिधायर्षय^१ एतक एव यस्मिजनिजोदरपूर्त्तिकृते स्वयम् ।

परसमस्तमतस्य मतस्य किं, विशरणाऽशरणाः शरणं भिताः ॥

हे प्रभो ! मानो जिनको किसी की शरण नहीं है या शरण-विकल हो गये हैं ऐसे नामधारी साधु अपनी-अपनी उदरपूर्ति के लिए आज समस्त परदर्शनों के मन्तव्यों की शरण ताक रहे हैं।

३६. क्व च जिनेन्द्रमतं महितं परैर्मिलति नैव तथापि तथा विधाः ।

सुगुणगोमयवत्समकारकाः, कुमतयोऽमतयोऽमतयो निजाः ॥

हे प्रभो ! कहां तो यह जगत्पूजित जिनेश्वर देव का मत, जिसकी समानता करने वाला अन्य मत नहीं है, फिर भी कुछेक अकुलीन, बुद्धि-विकल एवं गुड और गोबर को समान करने वाले दुर्बुद्धि मनुष्य जैन दर्शन और इतर दर्शनों को एक करने में तुले हुए हैं।

३७. कश्चिवाध्वनि नेतुमिमान् मिथो, विवदतः प्रतियन्ति न यान् स्वयम् ।

भवति भूरिभविष्णुभिर्बुद्धिदा^२, वसुमती^३ सुमतीशसमोपि^४ कः ॥

हे प्रभो ! परस्पर कलह करने वाले एवं एक दूसरे का अविश्वास करने वाले साधुओं को नाना प्रकार के भेदों से समझाने वाले, अष्ट बुद्धि के धारक एवं सुमति के ईश्वर स्वयं बृहस्पति भी सुमार्ग में लाने के लिए समर्थ नहीं हैं।

३८. सुनयतो गदिता इमके मिथः, कलहिता अपि सत्यनिरूपकैः ।

समुदिता वदितुं वितथं मुघा, रभसिता भसितान्तरचेतसः^५ ॥

हे प्रभो ! सत्य का निरूपण करने वाला कोई व्यक्ति न्याययुक्त वचनों से इन संतों को यदि कुछ कहता है तो वे परस्पर में कलह कर उठते हैं एवं जिनके हृदय क्रोधाग्नि से भस्म हो चुके हैं ऐसे वे संत उत्सुकता के साथ एकत्रित होकर असत्य प्रलाप करने लग जाते हैं।

१. नामधारिसाधु ।

२. बहुभवनशीलभेदानां प्रकाशनेनापि ।

३. अष्टौ मतयो यस्य ।

४. बृहस्पतितुल्योऽपि ।

५. भस्मीभूतमानसाः ।

३९. स्वविपरीतकृतोक्तविसिद्धये, जिनमतव्युत्पन्नपरस्पृहाः ।

नियमितेतरवाक्परिजल्पने, सयतनाः यतनापरिमोषिणः ॥

हे प्रभो ! वे अपनी विपरीत मान्यताओं को सिद्ध करने के लिए जिनमत की मान्यताओं को छोड़कर अन्यान्य मतों की मान्यताओं में आबद्ध होने की स्पृहा कर रहे हैं और यतना को लूटने वाले वे जिनमत के नियमों से विपरीत भाषण करने में तुले हुए हैं ।

४०. इह मनोभिमनोरथसिद्धये, प्रभितिफल्युकुतर्कवितर्कतः ।

शिथिलता प्रसवाय समन्ततः, प्रवणताऽवनताऽवनता' बहु ॥

हे प्रभो ! वे अपने मन इच्छित मनोरथ की सिद्धि के लिये प्रमाण शून्य कुतर्क और वितर्क करते रहते हैं और चारों ओर से शिथिलता को पनपाने के लिए अत्यंत प्रवणता से तुले हुए हैं ।

४१. अहर्होऽमित उत्तरमुत्तरमभिमुखः पतनस्य मुहुर्मुहुः ।

जिनमताचरणाच्चलिताशया, अनिभृता निभृता अपि सद्गणाः ॥

हे भगवन् ! जिनमत के आचरणों से चलित आशयवाले वे संतगण रात-दिन चारों ओर से उत्तरोत्तर पतन के अभिमुख होते जा रहे हैं और जो विनीत थे वे भी अवनीत से दिखाई दे रहे हैं ।

४२. मतिविहीननिकेवलवेषिण, उपचयन्त इवाद्य परस्परम् ।

तदितरेतरवृत्तकुमान्यता, प्रभृतिभिर्भृतिभिर्भवतां गताः ॥

इस संसार में मतिविहीन वेषधारी साधु ही पुष्ट होते जा रहे हैं एवं जिनमत से भिन्न अन्यान्य दर्शनों की क्रिया एवं मान्यता से अपना पोषण करते हुए विहरण कर रहे हैं तथा दयनीयदशा को प्राप्त हो रहे हैं ।

४३. निहतसद्गुणवेषविभूषया, मुनिगणः श्रियमाश्रयते नहि ।

नवपलाशपलाशमणीवकं, सुरभेः^१ सुरभे रहितं यथा ॥

केवल गुणशून्य वेष-भूषा मुनियों को वंसी ही शोभा नहीं देती जैसे मनोहर सुरभि रहित नवपत्र युक्त पलाश वृक्ष के फूल ।

४४. अहह ! दुःषमकालकरालता, जिनमतं च कियत् क्षतिसन्मुखम् ।

समवलोकयतो व्यथते मनोऽप्यसबलं सबलं बहु जायते ॥

१. अवनं रक्षणप्रीत्योः ।

२. सुरभिणा—सौन्दर्येण सहितस्य ।

अहो ! इस दुःषम काल की कितनी करासता ! आज भगवान् का मत दिन-प्रतिदिन क्षतिग्रस्त होता जा रहा है । यह देखकर मेरा मन अत्यन्त व्यथित है और वह सबल मन भी निर्बल होता जा रहा है ।

४५. अयि विभो ! ऽन्तिमवाङ्मयकोत्तराध्ययनसूत्रवरे प्रथितस्त्वया ।

सुमतदर्शनवृत्ततपांसि हि, प्रगदितोऽगदितोऽक्षरसत्पथः ॥

हे प्रभो ! आपने अपनी अन्तिम वाणी द्वारा उत्तराध्ययन सूत्र में यह निर्दिष्ट किया है कि सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् चारित्र एवं सम्यग् तप ही मोक्ष का निरवद्य मार्ग है ।

४६. अहमतोन्यतमे स्वचिदेव वाऽभ्युपगतिं सुकृतस्य करोमि नो ।

जिनमृतेभ्युपयामि न देवतं, विगतरङ्गतरङ्गतरं प्रभो ! ॥

इसीलिये मैं भी आपके धर्म-दर्शन के अतिरिक्त और किसी भी धर्म-दर्शन को स्वीकार नहीं करता और रागद्वेष से रहित जिनेश्वर देव को ही मैं आराध्य देव मानता हूँ ।

४७. गुरुमुखव्रतितं च पुनर्भवदभिहितं सुकृतं समुपादे ।

तदपरं न ममाभिमर्तं मतं, कलकलापकलापकलापतः^१ ॥

जो पांच महाव्रतों के धारक तथा आपकी आज्ञा के आराधक हैं, वे ही मेरे गुरु हैं और आप द्वारा प्ररूपित धर्म को ही मैं स्वीकार करता हूँ । इन लक्षणों से भिन्न जो देव, गुरु और धर्म हैं चाहे विद्वान् लोग उनकी कितनी ही स्तुति क्यों न करें, मैं उन्हें स्वीकार नहीं करता ।

४८. पतितपावन ! हे परमेश्वर !, त्वयि समर्पितजीवनभावनः ।

शिरसि संधृतवांस्तव शासनमभयवं भयदम्भविद्वजितम् ॥

हे पतितपावन ! हे परमेश्वर ! मैं मेरा सर्वस्व आपके श्री चरणों में समर्पित करता हूँ और अभयदान देने वाले एवं भय तथा दम्भता से रहित आपका शासन मैं शिरोधार्य करता हूँ ।

४९. जिनमतस्य यथार्थविभावनाफलमचिन्त्यमनाविलवृत्तितः ।

तदहमुद्यमवानऽभवं मुदा, सुमहताऽमहता विधिनाऽपि च ॥

१. प्रकृष्टेन विगता रंगतरंगाः—कामभोगाः यतः ।

२. कलाधिपानां कलापकस्य—समूहस्य मिष्टालापात् ।

यदि निर्मलवृत्ति से जिनमत की यथार्थ आराधना, प्रभावना की जाए तो उसका अचिन्त्य फल होता है। अतः मैं छोटी-बड़ी विधियों के सहारे जिनमत की प्रभावना करने के लिए उद्यत हुआ हूँ।

५०. परमिहाद्य च सा मम भावना, फलवती भवितुं बहु दुर्लभा ।

अभिनिवेशवशाः पुरुषास्ततो, मम मता ममता न मनस्विनी ॥

परन्तु आज मेरी वह अभिलषित भावना फलवती हो यह अत्यन्त दुर्लभ है क्योंकि लोग अत्यन्त हठाग्रही हैं। इसलिए सत्य के प्रचार की मेरी ममता सफल नहीं होती।

५१. फलवती न विनैव समग्रतां, समभवच्चरमार्हतदेशना ।

तद्विह का गणना मम संसहे, विषमतां समतान्तरितोप्यतः ॥

सामग्री के बिना भगवान् महावीर की भी प्रथम देशना फलवती नहीं हो सकी तो मेरी तो गणना ही क्या है ? इसलिए समता में लीन रहकर इस विषमता को मुझे सम्यक् प्रकार से सहन करना है।

५२. इतरकष्टशतानि च सासर्हिजिनवच्चो विषमाचरणानि न ।

तदनुशीलनतः पतयालुता, भवमवेऽवमवेऽवरताहरी ॥

मैं अन्यान्य सैकड़ों कष्टों को सहन कर सकता हूँ परन्तु जिनवचनों से विपरीत आचरणों को सहन नहीं कर सकता, क्योंकि जिनवचनों से विरुद्ध आचरण करने पर भव-भव में मोक्ष सुखों को हरण करने वाला पतन ही होता है।

५३. निजचरित्रसुरक्षणपूर्वकं, स्थविरकल्पवतां वशिनां वरम् ।

सदितरं प्रतिबोधनकर्मकं, तरणतारणतापवधारिणाम् ॥

तरण-तारण पद को सार्थक करने वाले स्थविर कल्पी मुनियों को सर्वप्रथम अपने चारित्र्य की रक्षा करके ही गृहस्थों को धर्मोपदेश देना चाहिये।

५४. क्षणिकवैभवमानघनार्य्यपि, निजशिरोपेयतीह रणाङ्गणे ।

मम तदाऽक्षयसौख्यनिदानिनः, प्रमथनेऽमथनेस्ति भयं कुतः ॥

१. मोक्षस्य अवगतः भवो यस्मात् स अवभवः ।

२. गृहिणा ।

कुछेक मनुष्य क्षणिक वैभव, मान, धन एवं स्वार्थ के लिये रणाङ्गण में अपना शिर भी दे देते हैं तो अक्षय सुखों के लिए यदि मेरा अत्यंत मंथन भी होता हो तो भला कैसा भय ?

५५. व्यपजहामि परोद्धरणं ततः, परिवर्हेच्छिरसा सुगुणानिमान् ।

निजकनिस्तरणं वितनोम्यहं, स्वतरसा तरसाऽतरसातकम् ॥

आज लोग यथार्थ को सुनने के लिए तैयार नहीं हैं। अतः मैं अब दूसरों के उद्धार की प्रवृत्ति को स्थगित कर, सभी सद्गुणों को शिरोधार्य कर अपने आत्मबल से अनन्तसुखों से अन्वित कल्याण की शीघ्र ही साधना करूंगा।

५६. समभिमन्य तदा सहवर्तिनो, वरगभोरसदाकृतिमद्गुहः ।

समबबोधयतेस्म मुनीन् वरान्, सहवयां हृदयान्तरसत्कवाम् ॥

ऐसा चिन्तन कर गंभीर एवं सदाकृति के धारक आचार्य भिक्षु ने अपने सहवर्ती संतों को आमन्त्रित कर उन्हें अपने अन्तःकरण की यथार्थ भावना की अवगति दी।

५७. समुपलक्ष्य तदुक्तयथायथं, सहमताः श्रमणा अपि सञ्जगुः ।

निजनिजोद्धरणं शरणं हि तद्, वरतरं रतरञ्जितचेतसा ॥

तब श्रमण भी उनके अन्तर् हृदय की तड़फ को देखकर, उनसे सहमत होते हुए बोले—‘हे महामुने ! इस समय श्रामण्य में आनन्दित चित्त से अपना-अपना उद्धार करना ही श्रेष्ठतर है।’

५८. कृतपुरातनकर्मविपाकिनो, न भविनोपि च सङ्गतिकारिणः ।

तत उदारमुनिनिजसाधनेऽनवरतं वरतन्त्रविधेर्लगेत् ॥

पुरातन कर्म के विपाकोदय के कारण भव्यात्मा भी संगति नहीं कर पाते, इसीलिये उदारमना मुनि को यदि जनकल्याण न दिख पड़ता हो तो शास्त्रविधि के अनुसार अनवरत अपनी आत्म-साधना में ही लगे रहना चाहिए।

५९. इति निशम्य समैः श्रमणैः सह, मुनिपतिर्वरपण्डितमृत्यवे ।

खरतपः परितप्तुमवर्त्तत, सुमनसा मनसा परिधिन्नकम् ॥

अपने सहवर्ती मुनियों से यह बात सुनकर आचार्य भिक्षु आनन्दित हुए और सभी श्रमणों के साथ पंडितमरण के लिए घोर तप तपने लगे । वह तपोनुष्ठान देवताओं और विद्वानों को भी आश्चर्यचकित करने वाला था ।

६०. परिवृतो व्रतिर्भविषिनावनौ, द्रुमनिरातपसन्निहितोपधिः ।

प्रतिदिनं सततं तपते तपो, निरुपघे'रुपघेः^१ परिवर्जितः ॥

वे भावितात्मा के धनी भिक्षु अपने सहवर्ती साधुओं के साथ प्रतिदिन कहीं एकान्त जंगल में (या नदी के चर में) जाते और अपने भंडोपकरणों को वृक्ष की छाया में रखकर पवित्र भावना से तप तपने लग जाते । वे अपने शरीर पर धारण की हुई पछेवड़ी आदि को भी उतारकर चिलचिलाती धूप में नदी की उत्तप्त बालु में आतापना लेते ।

६१. विगतबारिदलाम्बरजाज्वलत्, कडकडायितससपनातपम् ।

ततसमुन्नतबाहुव्यस्थितः, स सहते सह तेन गणेन च ॥

वे महामुनि संतों के साथ बादलों से रहित स्वच्छ आकाश में जाज्वल्यमान सूर्य की चिलचिलाती धूप में अपनी भुजाओं को ऊपर उठाकर आतापना लेने लगे ।

६२. सततमेकदिनान्तरितं तपः, सुपरिणामपुरस्सरसर्पकम् ।

दुरितसन्ततिकृन्तनकारकं, प्रतपते तपतेजसि दुर्धरः ॥

तपतेज में दुर्धर स्वामीजी शुभभाव पूर्वक पापों की संतति को नष्ट करने वाले एकान्तर तप की निरंतर साधना करने लगे ।

६३. वमितपञ्चहृषीकतुरङ्गमः, शमितबाह्यसमुद्रतरङ्गतः^१ ।

विजितघोरकषायमहोरगः, पुलकितोऽलकितो^२ वृषसाधने ॥

पांच इन्द्रियरूप तुरङ्गमों को वश में करने वाले, बाह्य विकार रूप समुद्रों की लहरों पर विजय पाने वाले तथा घोर कषायरूप विषघरों को जीतने वाले सुन्दर केशों से अलंकृत वे महामुनि अपनी धर्म साधना में ही उल्लसित रहने लगे ।

१. निर्व्याजात् ।

२. वस्त्रादेः ।

३. शमिता बाह्यसमुद्रतरंगता येन ।

४. अलकाः केशाः ।

६४. परिहृता ममता स्वतनावपि, परिवृता समता सुविशेषतः ।

न च भयं मरणस्य मनागपि, स्वसुविधाऽसुविधाविवक्षितः ॥

आचार्य भिक्षु अपने शरीर की ममता भी छोड़ चुके थे । वे विशेष रूप से समता से परिवृत थे । उन्हें मरने का तनिक भी भय नहीं था । उन्होंने सुविधा और असुविधा के भार को छोड़ दिया था ।

६५. न च विषाद इर्यात्ति तमुत्तमं, स्पृशति नो प्रमदोऽपरमार्थिकः ।

कृषति नो कृशता चरिते क्वचित्, परिमदोऽरिमवोपि न बाधते ॥

उन उत्तम महामुनि को विषाद पीड़ित नहीं कर सका, अपारमार्थिक हर्ष स्पर्श तक नहीं कर पाया और न दुर्बलता ही चारित्र्य को कृश कर पाई तथा न विरोधियों द्वारा किया गया परिभव ही बाधा उपस्थित कर सका ।

६६. निहितदृष्टिरसौ परमात्मनि, प्रतिपलं रमते च निजात्मनि ।

करतले गृहिताऽसुगणो गुणी, सुकृतिनां कृतिनां प्रथमः स्मृतः ॥

वे महागुणीमुनि अपनी दृष्टि को केवल परमात्मा में ही लीन कर निरन्तर आत्म-समाधि में रमण करने लगे । वे अपने प्राणों को अपनी हथेली पर ही रखे रहते थे, इसीलिए धार्मिकों में एवं विद्वानों में (साधना की दृष्टि से) वे प्रथम गिने जाने लगे ।

६७. अपि विरोधयितुर्हितकृन्न् किं, सुरभयेत् स्वमिदं मलयद्रुमः^१ ।

न कुरुते किमु वा हिमबालुका^२, विकशितं कसितं कृषकं ह्यपि ॥

वे मुनिवर्य अपने विद्वेषियों की हित कामना करते थे । क्या चन्दन का वृक्ष अपने काटने वाले पुरुष को सुरभित नहीं करता ? क्या कपूर अपने को चूर करने वाले को सुगन्धित नहीं करता ?

६८. प्रपतनाभिमुखाप्तमहालये, मरकतोद्भूतसारसदाश्रयः ।

तपसि धार्मिकचिन्तनया स्थितः, प्रशुशुभे सुशुभेश्वरपूजितः ॥

वे महामुनि पतनाभिमुख जिनशासन रूप महासौध को थामने के लिये मानों मरकत रत्नों से बने हुए खंभे के रूप में सामने आये । वे इन्द्रों द्वारा पूजित, तपस्या में भी धर्मध्यान में लीन होते हुए सुशोभित होते थे ।

१. मलयद्रुमः—चन्दन का वृक्ष ।

२. हिमबालुका—कपूर ।

६९. अमरवृत्तिदशान् मिलितं च यत्, किमपि पारमकाय जलाशनम् ।
तदुपभोक्तुमसंघपदः प्रभुः, समहितो महितो विपिनं व्रजेत् ॥

तपस्या के पारणे के लिये अमर वृत्ति से जो शुद्ध आहार, पानी मिलता, उस आहार को भोगने के लिए स्थान की प्राप्ति न होने पर वे पूजनीय महर्षि समता में स्थिर रहकर एकांत वन की ओर चले जाते ।

७०. तद्वत्तले तद्वितं तरलेतरः, परिविमुच्य कृताहृतकीर्त्तनः ।
तद्विभिः सह संवृभुजे बुधः, समितिभिर्मितिभिर्बरमेषितम् ॥

वे आत्मार्षी महागुरु श्रेष्ठ एषणा समिति से प्रमाण युक्त प्राप्त आहार को वृक्ष की छाया में रखकर, चतुर्विंशति स्तव आदि से अहंत् का गुणोत्कीर्त्तन कर शांतभाव से अपने सहवर्ती मुनियों के साथ आहार ग्रहण कर लेते थे ।

७१. क्व च कदापि लभेत जलं तदा, न लभेत स्वदनं स्वदनं गते ।
न सुलभं सलिलं च तथापि स, न विमना विमनायितताजयी ॥

महर्षिगण गृहस्थों के घरों में जब भिक्षा के लिये जाते तो कभी पानी मिलता तो आहार नहीं मिलता । कभी आहार मिलता तो पानी नहीं मिलता । कभी आहार एवं पानी दोनों का ही योग नहीं मिलता तो कभी अल्प मात्रा में ही आहार-पानी का योग मिलता—ऐसी अवस्था में भी उदासीनता पर विजय प्राप्त करने वाले वे उत्तम संत कभी भी विमनस्क नहीं होते थे ।

७२. मिलति यत् खलु तेन समाधिना, प्रवहते वरसंयमयात्रिकाम् ।
अमिलिते न ऋतिः सहासा तप, उपचयोऽपचयोऽशुभकर्मणाम् ॥

जो कुछ आहार-पानी प्राप्त हो जाता, मुनिगण पूर्ण समताभाव से शुद्ध संयमयात्रा का निर्वाह करने के लिए वे उसका उपभोग करते । आहार-पानी न मिलने पर दुःखित न होकर ऐसा सोचते कि सहज तपस्या हो गई, शुभ कर्मों का उपचय और अशुभ कर्मों का अपचय हो गया ।

७३. अतुलसत्तपसो महिमाद्भुता, रजनिरत्नरुचेरिव विस्तृता ।
कतिपयोऽलसिता जनतास्तया, कुमुदिनी मुदिनीव निसर्गतः ॥

उन सन्तों की सच्ची तपस्या की अद्भुत महिमा चन्द्रमा के चांदनी की तरह चारों ओर फैल गई । उस चन्द्रिका से जैसे कमलिनी स्वतः ही प्रमोद को प्राप्त होती है वैसे ही जनता उनकी तपस्या से उल्लसित हुई ।

७४. अनुतपन्त इवाङ्गभृतस्तदा, हानुलपन्ति मिथो मुकुलायिताः ।

वयमतोर्धमृते ननु वञ्चिताः, वय सुधियः सुधयः सुधयः शुभाः ॥

तब मनुष्य पश्चात्ताप करते हुए एवं संकुचित होते हुए परस्पर में ऐसा कहने लगे—'अहो ! ऐसे महर्षियों से हम तो वञ्चित ही रह गये । इसीलिये कहां रहे हम समझदार, चिन्तक और पावन ।

७५. सुरमणिर्यदि नाद्रियते नरैः, सुरमणेः क्षतिरस्ति न काचन ।

तदपमानकृतां हि दरिद्रता, सुरमणी रमणीयतमः सदा ॥

मनुष्य यदि चिन्तामणि रत्न का आदर नहीं करता है तो इससे चिन्तामणि की कोई क्षति नहीं होती । यह तो उसका अपमान करने वाले की ही दरिद्रता है । चिन्तामणि रत्न तो सदा ही रमणीय है ।

७६. तविषशालि'निकुञ्जसमाश्रितो, यदि न पूरयते निजकामनाम् ।

अनुपयुक् खलु तस्य विषीदति, सुरतरोरतरोधन'मस्ति न ॥

कोई मनुष्य देववृक्ष—कल्पवृक्ष के निकुंज में बैठ कर भी यदि अपनी कामनाएं पूरी नहीं करता है तो कल्पवृक्ष का उपयोग न करने वाला ही विषादग्रस्त होता है किन्तु कल्पवृक्ष के आनन्द का अवरोध नहीं होता ।

७७. उपगते रुचिचन्दितचन्दने, भवनिवाधनिवाधशमीकरे ।

तदनुपासक एव निराशितो, विघटते घटते न स चन्दनः ॥

कोई मनुष्य रुचि को आह्लादित करने वाले एवं ग्रीष्म ऋतु की ज्वाला को शांत करने वाले चन्दन को प्राप्त कर यदि अपनी ज्वाला को शांत नहीं करता है तो वही निराशा को प्राप्त होता है, चन्दन का कुछ बिगाड़ नहीं होता ।

७८. तद्वत्सीयमहर्षिमहात्मनः, सुभगसङ्गतिनिष्कलिता वयम् ।

परममार्गसमाश्रयिणोऽस्य किं, सुतपसाऽतपसाध्वसहारिणः ॥

इसीलिये हम ऐसे मोक्षार्थी एवं सच्ची तपस्या से समस्त भयों को दूर करने वाले महर्षि महामना की सौभाग्य से प्राप्त संगति का फल नहीं पा सके ।

७९. तद्विज्ञातचरचुम्बकचुम्बितः, स्वयमदूरभवस्थितिपाकतः ।

उपतदं समुपेतुमसाध्वसः, समलगन् मलगन् मनुजन्मिकः ॥

१. तविशः—स्वर्ग, शालिन्—वृक्ष, स्वर्ग का वृक्ष, अर्थात् कल्पवृक्ष ।

२. रतरोधन—आनन्दस्य रोधनं ।

३. मलात्—पापात् दूरं गच्छतीति मलगत् ।

जिनके भवस्थिति का परिपाक हो चुका था और जो पापों से अपनी आत्मा को बचाने वाले थे ऐसे लघुकर्मा मनुष्य उनकी उचित एवं शास्त्रसम्मत चारित्र्य की क्रिया के चुम्बक से आकर्षित हो कर एवं भय को छोड़कर उनके पास आने-जाने लगे ।

८०. ऋतुपतेरिवसाधुपतेस्ततः, सहजतो वनराजिजिराजिता ।

द्रुतमपैति जनान्तरसंस्थिता, विरसता रसता समुपागता ॥

जैसे ऋतुपति—ग्रीष्मऋतु से सहज ही वनराजी की विरसता चली जाती है एवं सरसता भर जाती है वैसे ही साधुपति भिक्षु के प्रति जिनके हृदय में भ्रांतिरूप विरसता थी वह धीरे-धीरे मिटने लगी और सरसता पनपने लगी ।

८१. उपगताङ्गवतोति शनैः शनैः, प्रतिदिनं प्रतिबोधयते व्रती ।

असमविक्रमवान्न च विस्मृते, परुषतां रुषतां द्विषतामपि ॥

लोग आचार्य भिक्षु के संपर्क में धीरे-धीरे आने लगे । महामुनि उनको प्रतिबोध देते, समझाते । ऐसे वे महापराक्रमी मुनिवयं अपने विद्वेषियों के प्रति भी कठोरता का व्यवहार कभी नहीं करते ।

८२. समुपयाति कदाचन चैकको, रहसि कोपि कदाचिदनैकः ।

जिनपतस्त्वबुभुस्तुरनाश्रवः, श्रवणतोऽवनतोऽनुगतो भवेत् ॥

कभी सरल और बात को मानने वाले व्यक्ति वीतराग के तत्त्व को जानने की इच्छा से एकांत में आचार्य भिक्षु के पास अकेले आते अथवा समूहरूप में आते । गुरुवर की वाणी सुनकर वे अत्यन्त नम्र होकर उनके अनुयायी बन जाते ।

८३. सततमेवमवेक्ष्य बुधञ्जनान्, मुनिपरशितदीर्घमुनी च तौ ।

स्थिरसपालफतेशशिसञ्ज्ञको, कथयतो च यतो मुनिसत्तमम् ॥

आचार्य भिक्षु ने नई दीक्षा ग्रहण करते समय दो मुनियों—मुनि स्थिरपालजी और मुनि फतेहचन्द्रजी—को संयम-पर्याय में बड़ा रखा । दोनों मुनियों ने यह देखा कि लोग निरन्तर आचार्य भिक्षु से तत्त्व समझते जा रहे हैं, तब उन्होंने मुनिवर्य से कहा—

८४. अहह सम्प्रति सन्ति बुभुत्सवो, जिनमतं चलितुं सह सम्भवम् ।

असमसं तपसा हृदि मद्बचो, निदधतां दधतां च तदुद्यमम् ॥

‘हे मुनिश्रेष्ठ ! अभी लोग जिनेश्वर वचनों को समझने के इच्छुक हैं । और वे आपके अनुगामी भी बनजाएं, यह भी संभव है । इसीलिये आप तपस्या को स्थगित कर दें । आप हमारी बात मानें और भव्य प्राणियों को प्रतिबोध देने के लिए उद्यम करें ।

८५. तरप्तितापतपोग्रहतोनिशमुपचितात्मिकतैजसता परा ।

तदपि तेऽन्नमृते प्रतनुस्तनूः, कमलिनी मलिनीव रंजि बिना ॥

यद्यपि निरन्तर प्रखर सूर्य के ताप में आतापना लेने से आप का आत्मतेज अत्यन्त बढ़ चुका है फिर भी अन्न के बिना आपका यह शरीर वैसे ही सूख गया है, मुरझा गया है जैसे सूर्य के बिना कमलिनी मुरझा जाती है ।

८६. जनविबोधनमुग्रतपः पुनर्न युगपद् भवितुं ननु शक्यते ।

अत इहास्ति विनम्रनिवेदनं, हृदयतोऽदयतोमरशालिनाम् ॥

‘हे मुनिप्रवर ! जनता को प्रतिबोध देना एवं उग्र तप करना—ये दोनों कार्य एक साथ नहीं हो सकते । इसीलिए तपरूपी कठोर शस्त्र से सज्जित आपको हमारा यह हृदयगत नम्र निवेदन है ।’

८७. भवति भाति यथा प्रभुता परा, न च परेषु तथा परिभाष्यते ।

तिमिरनाशकतास्ति यथा रवौ, तदपरेषु परेषु तथापि किम् ॥

‘हे मुनि ! जन-प्रतिबोधन की प्रभुता जैसी आप में है वैसी औरों में परिलक्षित नहीं होती । अन्धकार को नाश करने की शक्ति जैसी सूर्य में निहित है, वैसी शक्ति अन्य ग्रहों आदि में नहीं होती ।’

८८. जिनमतस्य यथार्थविभावनां, परमपावनपावनभावनाम् ।

कुष्ठरां सुतरां नितरां वरां, प्रतिभयाऽतिभयाऽतिभया तव ॥

‘हे मुनिश्रेष्ठ ! आप अपनी भयमुक्त एवं प्रदीप्त प्रतिभा से परम पवित्र और उत्तम भावनाओं से आकीर्ण जिनमत की निरन्तर यथार्थ प्रभावना करते रहें ।’

८९. विरचितुं तु तपो वयमोश्वराः, गमयितुं न परन्तु परान् क्षमाः ।

तद्विह मह्यमरं प्रसमर्प्यतां, शुभवता भवता क्रियतां च तत् ॥

‘हे मुनिपुङ्गव ! तपस्या करने में तो हम भी समर्थ हैं, परन्तु जनता को समझाने के लिये समर्थ नहीं हैं, इसीलिये परम सौभाग्यशाली आप हमें तपस्या में नियोजित करें और स्वयं भव्य प्राणियों को समझाने का कष्ट करें ।’

९०. जिनयथार्थमतप्रविभावनान्, न च परः परमः प्रथमः पथः ।

विवितमेव समं किमिहोद्यतेऽननृतया नृतयाऽनृतयाचिते !॥

‘हे देवों से एवं नरों से पूजित सत्यमूर्ति महामुने ! हम क्या कहें ? आप सब जानते ही हैं कि जिनमत की यथार्थ प्रभावना के अतिरिक्त दूसरा कोई श्रेष्ठ एवं प्रथम श्रेणी का मार्ग नहीं है ।’

९१. कुमतिक्लृप्तकुहेतुकुतर्कणा, विकटकोटिगलाघितचम्रतः ।

भविजनान् पततः परिरक्षितुं, चतुरताऽऽतुरताऽऽतुरतात्त्वयि ॥

‘पूज्यवर ! आज कुमति द्वारा रचित कुहेतु और कुतर्क के करोड़ों गम — विचार — विकल्प प्रचलित हैं । उनके गलहत्थों से जो भव्य प्राणियों का पतन हो रहा है उन प्राणियों को पतन से बचाने के लिए आप में ही निपुणता है, उत्साह है एवं प्रबल आतुरता है ।’

९२. शुभविवेचितकर्मसमुद्यता, विचलिता न भवन्ति भवादृशाः ।

इह खलाः खलता खलतायिता, न महताऽमहताः प्रतिपक्षिणः ॥

शुभ एवं विवेचित कार्यों में उद्यत आप जैसे महापुरुष कभी विचलित नहीं होते । दुःख अपनी दुष्टता से आकाशलता की भाँति व्यर्थ हो जाते हैं । महान् व्यक्तियों के प्रतिपक्षी प्रतिहत हो जाते हैं ।

९३. यदि च कोप्यपसव्यविधानतस्तव समीपयियास्त्वबरोधकः ।

इह परत्र च तस्य विनिश्चयादधिगमं धिगमङ्गलकारिणः ॥

यदि कोई प्रतिकूल विचारों से आपके पास आते हुए का अवरोध करते हैं तो निश्चय ही ऐसे अमंगलकारी पुरुषों के विचार इह-परभव में धिक्कार को प्राप्त होते हैं ।

९४. गुरुजनैः परिकल्पित आग्रहो, यदि तिरस्कृतितां भवतो गमी ।

क्व च तदा गुरुगौरवगौरवं, भुवि पदं विपदन्तकरं धरेत् ॥

‘हे मुनि पुङ्गव ! यदि बड़े संतों का किया हुआ आग्रह आपसे तिरस्कार को प्राप्त होता है तो फिर समस्त विपदाओं का अन्त करने वाला गुरु-गौरव अपना पैर कहाँ टिका पाएगा ?’

१. आतुरता—त्वरायां, सम्भ्रमे, व्याकुलतायां, व्यग्रतायां, उत्सुकतायां, उत्कण्ठितायां, दुःखितायां च ।

९५. तदथ वां कथनं परिमन्यतां, जिनमतं जगतां परितन्यताम् ।

हृदयतोषकरं च तथोच्यतामविदितं विदितं विदितं वचः ॥

‘मुनिवर्य ! आप हमारी बात मानें और जिनेश्वर देव के अभिमत का संसार में विस्तार करें । अब आप हमारे हृदय में तोष पैदा करने वाला परिपूर्ण, प्रसिद्ध और ज्ञात वचन कहें ।’

९६. तदुपगत्य तथोनिजदीक्षयाऽवितवृहद्भ्रतिनो हितसञ्चितम् ।

पिहितवान् प्रकृतं प्रथितं तपो, नृवृषभो वृषभो वृषभोपमः ॥

तब धर्म की प्रभा से उद्दीप्त, नरों में श्रेष्ठ तथा घोरी वृषभ की उपमा को धारण करने वाले मुनिप्रवर ने अपने बड़े संतों के हित-गर्भित वचनों का आदर करते हुए अपना तपोनुष्ठान स्थगित कर दिया ।

९७. गुणगणग्रहणैककृतादरो, गुणनिधिगंगिभिक्षुमुनीश्वरः ।

धृतिबलं प्रबल्य जिनं मतं, वितनुतेऽतनुतेजोऽदित्वरः ॥

वे गुणनिधि, गुण समूह को आदर से ग्रहण करने वाले एवं अपने तेज के उत्कर्ष से चारों ओर उदित होने वाले भिक्षुगणिराज धृतिबल को प्रबल कर जिनमत को फैलाने में जुट पड़े ।

९८. उपदिशत्ययमाहृतमार्मिकसुकृतसंसरणं तरणात्मकम् ।

भयमपोह्य समूह्य सहिष्णुतां, वसुधियां सुधियां सुधियां प्रभुः ॥

अष्ट बुद्धि के धारक बृहस्पति के तुल्य तथा विद्वानों एवं विचारकों के स्वामी आचार्य भिक्षु भयमुक्त होकर तथा सहिष्णुता को धारण कर अरिहंत प्रभु के तरणात्मक एवं मार्मिक सुकृत-पथ का उपदेश देने लगे ।

९९. वितथसम्भृतसन्तमसोत्करं, जनजनेषु तिरस्कुरुते कृती ।

दशशतांगुरिवात्मिकतेजसा, विवृजिनोऽवृजिनोऽवृजिनोजितः ॥

जैसे सूर्य अपने ही तेज से संसार में व्याप्त अन्धकार का नाश करता है वैसे ही संक्लेश एवं कपट रहित तथा धर्म के ओजस्वी महामुनि जन-जन में व्याप्त मिथ्यात्व अन्धकार को अपने ही तेज से दूर करने लगे ।

१. अखंडितम् ।

२. प्रसिद्धम् ।

३. ज्ञातम् ।

४. वृजिनः—केशे, वृजिनं—भुग्नेऽपि रक्तचर्मणि ।

क्लेशेऽपि वृजिनः ।

१००. खरकरादितमानवमण्डलं, विलसितं मुनिपेन कृतं गिरा ।

कुमुदिनीपतिनेव सकौमुदीं, नवसुधा वसुधा क्रियते न किम् ॥

मिथ्यात्व रूप तीक्ष्ण करों से पीड़ित मानवमण्डल को स्वामीजी ने अपनी वाणी द्वारा शांत कर दिया । क्या चन्द्रमा अपनी चन्द्रिका से सारी पृथ्वी को चन्द्रिकामय एवं नव सुधामय नहीं बना देता ?

१०१. जलधरैः सुजलैः सुवनस्थलीव ऋषिभिः सुकृतामृतसेकतः ।

प्रमुदिता मृदुमानवमेदिनी, गतरसा तरसा सरसाऽभवत् ॥

जैसे जलधर के सुजल से समस्त वनस्थली प्रमुदित हो उठती है, वैसे ही जो मृदु मानवमेदिनी बल एवं वेग से नीरस हो गई थी वह महामुनि के धर्मोपदेश रूप अमृत के सिंचन से पुनः सरस हो गई ।

१०२. तदिह चुम्बकवत् प्रतिकर्षिता, नयपथे नयिनो भविनो जनाः ।

उपकृतेर्भरतः प्रणमन्ति तं, प्रशमिनं शमिनं शमिनं मुदा ॥

इसीलिये तो चुम्बक की तरह आकर्षित होते हुए भव्य प्राणी न्याय-मार्ग में आने लगे और उपकार के भार से उन प्रशमवान् एवं आत्मिक सुखों के स्वामी मुनिराज को सहर्ष प्रणाम करने लगे ।

१०३. अगणिता जनता प्रतिबोधिता, मुकुलिताऽऽकुलिता ललिता कृता ।

सफलता मिलिता महती प्रभोः, क्षणविलक्षणलक्षणलक्षणा ॥

ऐसे उपदेश के बल से आचार्य भिक्षु ने अगणित जनता को प्रतिबोध दिया एवं मुकलित तथा आकुलित जनता को पुनः विकस्वर किया । इस प्रकार स्वामीजी को आशातीत एवं महती सफलता मिली ।

१०४. प्रलपिविद्विडुपद्रविनिन्दका, अपि च यस्य बभूवुःपासकाः ।

उपकृतेरनृणीभवितुं स्वयं, प्रसभया सभया सभया सदा ॥

जो व्यक्ति प्रलापी थे, द्वेषी थे, उपद्रवकारी और निंदा करने वाले थे, वे भी आचार्य भिक्षु के उपासक बन गए तथा भिक्षु के उपकार का ऋण चुकाने के लिए लोगों के झुंड के झुंड उपासना में आने लगे ।

१०५. सहनयं समयोत्तमसाक्षिकं, दिशति धर्ममसौ जिनपोदितम् ।

श्रुतिपुटेन पिबन्ति सुधोषमं, समितयोऽमितयोऽमितयोनयः ॥

१. मुनि सुखस्य स्वामिनं वा ।

२. सूर्यं वा ।

३. समितिः—जनता का समूह ।

४. अमितयोनयः—नाना प्रकार की ।

तब स्वामीजी जिनेश्वर देव द्वारा प्ररूपित न्याययुक्त एवं शास्त्र-सम्मत धर्म का उपदेश देने लगे । नाना प्रकार के लोग समूहरूप में आते और उस सुधातुल्य धर्म का अपने श्रुतिपुटों से पान करते ।

१०६. भवति यत्र बधादिविवर्जना, विरतिवृद्धिरुतात्मिकलाभता ।

स्फुटतरं वरसंवरनिर्जरासुसुकृतं सुकृतं प्रतिपाद्यते ॥

जिसमें हिंसा आदि की विवर्जना है, जिसमें व्रत की वृद्धि एवं आत्मिक लाभ है, जो संवर-निर्जरा का ही कार्य हैं— ऐसे धर्म का जनता के सामने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करने लगे ।

१०७. उपचितिविततिः कृतकल्पनात्ययनतोतिवचस्वियशस्विनः ।

यतिपतेः सदनान्यनुयायिनां, निवसथे वसथे शतशोऽभवन् ॥

उन वाग्पटु एवं यशस्वी महामुनि द्वारा की हुई कल्पना से भी आशातीत धर्म की पुष्टि एवं विस्तार हुआ, जिससे गांव-गांव में मुनिपति के अनुयायियों के सैकड़ों घर बन गए ।

१०८. समुदयोमुदयोऽमुदयोघनो, लहरितोऽहरितो हरितां ध्वजः ।

अनुगता मुनयोऽमुनयोप्यतो, रुचिरे रुचिरेऽरुचिरेऽङ्गिनि ॥

उन चरित्राधिपति का सम्यक् प्रकार से उदित होने वाला प्रमोद हर्ष को उत्पन्न करने वाला एवं अप्रमोद का नाश करने के लिये लोहघन के समान था । उज्ज्वल विजयी ध्वज दशों दिशाओं में लहराने लगा, जिससे मुनिपति के अनुयायी साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविकाएं स्वपक्ष के एवं परपक्ष के लोगों में अत्यन्त शोभा को प्राप्त हुए ।

श्रीनाभेयजिनेन्द्रकारमकरोद्धर्भप्रतिष्ठां पुनर्,

यः सत्यग्रहणाग्रही सहनयैराचार्यभिक्षुर्भहान् ।

तत्सिद्धान्तरतेन चापरचित्ते श्रीनत्थमल्लविणा,

वृत्ते भिक्षुगुरोस्त्रयोदशमितः सर्गो बभूवानसौ ॥

श्रीनत्थमल्लविणा विरचिते श्रीभिक्षुमहाकाव्ये जिनस्तुतिव्याजात्

तात्कालिकजैनधर्म-स्थित्यवलोकनं तपोनुष्ठानकरणं मुनिद्वय-

प्रबोधेन तपःस्थगनं जनप्रतिबोधनं महती सफलता— इत्येतत्

प्रतिपादकः त्रयोदशः सर्गः ।

चौदहवां सर्ग

प्रतिपाद्य : धर्म प्रचार के लिए आचार्य भिक्षु का विहरण, जन
सामान्य को उपदेश तथा अभूतपूर्व सफलता ।

श्लोक : ७१

छन्द : शिखरिणी

वर्ण्यम्

आचार्य भिक्षु अपने सहयोगी संतों के साथ गांव-गांव में घूमने लगे। उनका एकमात्र लक्ष्य था जन मानस को यथार्थ से परिचय कराना, जैन दर्शन के सही स्वरूप की अवगति देना और लोगों में धर्म के प्रति रुचि पैदा करना। वे चले, चलते रहे और देखा कि लोग अवबोध प्राप्त कर रहे हैं। गांव-गांव में श्रावक बने, मुनि बने, तत्त्वज्ञ श्रावक-श्राविकाओं की संख्या बढ़ी और देखते-देखते तेरापंथ की जड़ें जम गईं। सफलता ने धर्म-प्रचार को गति दी और तब आचार्य भिक्षु और अधिक वेग से प्रचार कार्य में जुट गए।

चतुर्विंशः सर्गः

१. श्रियः श्रेयोमय्याः पतिरपतिरेको जिनपति-
रयं स्फूर्ज्ज्जनोपपदविलसन्मङ्गलमयम् ।
जिनेन्द्रोक्तं धर्मं प्रकटयितुमुत्को विहरते,
तमस्तोमं हन्तुं तरणिरिव लोकोपकृतये ॥

कल्याणमय लक्ष्मी के स्वामी, जिनपति को ही एकमात्र नायक मानने वाले आचार्य भिक्षु जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित मंगलमय तथा विश्रुत जैन धर्म को प्रकट करने तथा मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को मिटाने के लिए उत्सुक होकर वैसे ही विहरण करने लगे जैसे अंधकार के समूह को नष्ट करने के लिए सूर्य आकाश में विहरण करता है ।

२. प्रचारार्थं सार्धं जिनवरमतस्याथ सुतरां,
परिश्राम्यन् स्वामी सततमभितोऽभीतमनसा ।
गिरस्तस्यार्याणां हृदयगहने प्राञ्जलतया,
विशन्त्यो लोकेऽस्मिन्निव रविरुचः क्षिप्नुतमसः ॥

वे जिनमत का सार्थक प्रचार करने के लिए चारों ओर निर्भीकता से परिश्रम करने लगे । उन आर्य भिक्षु की वाणी जन-जन के हृदय में ऐसे सरलता से प्रवेश करने लगी जैसे लोक में अन्धकार दूर करने वाली सूर्य की किरणें ।

३. महागूढा व्यूढा भ्रमविशदता सम्भूततमा,
प्रणश्यन्ती यस्माञ्जनजनमनोभ्योऽतिभयतः ।
मृगारातेरप्रादुर्तनिजशिरः केशरसटाद्,
यथैणालिः शीघ्रं चकितचकिता विप्लुतपदा ॥

इस संसार में भ्रान्ति तथा मूर्खता भरी पड़ी थी । वह अत्यन्त गूढ़ और व्यापक थी । उनकी वाणी से वह जन-जन के हृदय से भयभीत-सी होती हुई वैसे ही भागने लगी जैसे बिखरे हुए केसर की सटा वाले सिंह से भयभीत-सी होती हुई एवं छलांगे भरती हुई मृगों की टोली ।

४. पुरस्कृत्यार्हन्त्यागमनिगम'मानं गमयितुं,
विदूग्धाः सैद्धान्तोत्तमविषयगीत्योऽतिरुचिराः ।
अबाध्यास्तर्कैः सूरत'वितरणब्रह्मविरताऽ-
व्रतश्रद्धाचाराभिनवनवतत्त्वादिविषये ॥

आचार्य भिक्षु ने भव्य प्राणियों को प्रतिबोध देने के लिए अर्हत् के आगम और निगमों (सहायक ग्रन्थों) के प्रमाणों को आगे रखकर, तर्कों से अबाध्य दया, दान, ब्रह्म', व्रताव्रत, श्रद्धा, आचार एवं नव तत्त्वादि विषयों पर सैद्धान्तिक उत्तम एवं रुचिर गीतिकाएं रचीं ।

५. स्वकृत्येत्यं स्वात्माऽविकलमुविचारा हृदयवत्,
पुरस्ताद् भव्यानां विधिवदऽवितास्तेन मुनिना ।
चिरत्नं शैथिल्यं मुनिगणभूतं हर्तुमनिश-
मकार्युद्योगालिशचरमजिनवज्ज्योतिरुदितम् ॥

महामुनि ने अपनी रचित रचनाओं के द्वारा अपने सम्पूर्ण विचार भव्य प्राणियों के सन्मुख हृदय खोलकर रखे एवं मुनिगण में चिरकाल से भरे हुए शिथिलाचार को दूर करने के लिए उद्योग करने लगे । परिणामस्वरूप वीर प्रभु की तरह ज्योति प्रगट हुई ।

६. समीचीनं जैनं निजनिजमुनौ मुख्यविधिना,
समुत्तार्योत्तार्यात्मिकहितकृते निर्मलधिया ।
जनानामन्वक्षं ह्यावितथलसज्जैनमुनिता-
स्वरूपं साकारं सपदि समुपस्थापितमहो ॥

आचार्य भिक्षु ने आत्महित के लिए सर्वप्रथम अपने में तथा अपने सहयोगी मुनियों में अपनी निर्मल बुद्धि से तथा मुख्य विधि से जैन दर्शन का यथार्थ स्वरूप साकार किया तथा जैन श्रमण का सही स्वरूप जनता के समक्ष प्रस्थापित किया ।

७. जिनाज्ञायां मोक्षाध्वनि सुपरिणामे च विरता-
वर्हिसायां तृष्णाहृति सदुपदेशे त्रिविधिना ।
अरागद्वेषादौ कुटिलकलुषात् त्राणकरणे,
चिदात्मीये लाभे समुपदिशते धर्मममलम् ॥

१. निगमः—आगम के सहायक ग्रन्थ ।
२. सूरतः—दयालु, दयाभाव—(अभि० २।३३) ।
३. ब्रह्मचर्य की नववाड ।

उन्होंने त्रिकरण योग से भगवद् आज्ञा में, मोक्षमार्ग में, शुभाध्य-
वसाय में, व्रत में, अहिंसा में, तृष्णा मिटाने में, सदुपदेश में, अराग-द्वेष में,
पापी को पाप से बचाने में, लोकोत्तर ज्ञान में एवं आत्मलाभ में निरवद्य धर्म
का निरूपण किया ।

८. पवित्रैस्तद्बृत्तैः पुनरपि तथालापलपितैः,
समाकृष्टा लोका ह्युपतदमुपाजग्मुरनिशम् ।
भवारण्योत्तप्तानभिलषितशुद्धैकसुकृतान्,
सरस्वत्या सत्या परिषदमितांस्तर्पयति तान् ॥

मुनिश्री के सत्य उपदेश एवं पवित्र चरित्र से समाकृष्ट लोग निरंतर
निकट आने लगे । उनकी परिषद् में आनेवाले वे लोग भवारण्य से उत्तप्त
तथा सच्चे धर्म के अभिलाषी थे । आचार्य भिक्षु उन भव्य प्राणियों को
अपनी सत्य वाणी से तृप्त करने लगे ।

९. शरच्चन्द्रात् तारा दशशतरुचेरम्बुजवनं,
चरित्रं सम्यक्त्वात् समयसुविधेः कर्मनिखिलम् ।
सुगन्धात् सौमौघं समवसरणं सर्वविदुष-
स्तथा श्रीमद्विभक्तोः परिषदि जनाः संशुशुभिरे ॥

परिषद् में आये हुए मनुष्य स्वामीजी से वैसे ही सुशोभित होने लगे
जैसे शरच्चन्द्र से तारागण, सूर्य से कमलवन, सम्यक्त्व से चरित्र, सिद्धान्त की
सुविधि से समस्त क्रियाएं, सुगन्ध से फूलों का समूह तथा भगवान से
समवसरण ।

१०. विदित्वा सावद्यं त्रिकरणयुजा यद् यदहरत्,
परांस्तस्माद् गोप्तुं ब्रुडितपतनैकाग्रप्रकरणात् ।
स कर्त्तव्यारूढः प्रसफलयितुं तारकपदं,
निरहोनुक्रोशी समुपदिशते जैनसुकृतम् ॥

उन्होंने सोच-समझकर त्रिकरण-योग से सावद्य कार्यों का त्याग
किया है । ये कार्य डुबोने वाले तथा पतन की ओर ले जाने वाले हैं । लोगों
को इनसे बचाने तथा अपने तरण-तारण पद को सफल बनाने के लिए आचार्य
भिक्षु अपने कर्त्तव्यपथ पर आरूढ़ हुए और निरवद्य अनुकंपा से प्रेरित होकर
जैनधर्म का उपदेश देने लगे ।

११. समुद्धर्तुं भव्यान् कुमतिकुमताद्ध्वंकुलितां-
 स्तितीर्षातृष्णात्तानि भवजलनिधौ मज्जनपरान् ।
 गृहीत्वाऽर्हद्वाणीप्रगुणतरणिं तारणपटुं,
 स्वयं पोतोद्वाही तटनिकटवर्तीह मुनिपः ॥

दुष्ट व्यक्तियों के दुष्ट बुद्धिरूप गलहृत्थों से अनेक भवसमुद्र में डूब रहे हैं। यथार्थ में वे तैरने की इच्छा रखते हैं। उनका समुद्धार करने के लिए स्वयं तैरने और दूसरों को तारने में कुशल स्वामीजी अर्हद् वाणी रूप जहाज को लेकर, स्वयं कर्णधार बनकर, तट के निकट आ खड़े हुए।

१२. मुमुक्षूणामिन्द्रः परमकरुणान्दोलितमनाः,
 प्रबोद्धुं मर्त्यानां समुदयममुं सुन्दरगिरम् ।
 वितेने शर्वम्यविरवरयितेवास्त्र रहितो,
 निजां ज्योत्स्नां जैत्रौ कुमुदविपिनं कन्दलयितुम् ॥

परम करुणा से आप्लावित हृदय वाले मुनियों के अधिपति आचार्य भिक्षु लोगों को प्रबोध देने के लिए अपनी सहज सुन्दर वाणी का वैसे ही विस्तार करने लगे जैसे निरभ्र आकाश में चन्द्रमा कुमुदवन को विकस्वर करने के लिए अंधकार पर विजय पाने वाली अपनी चन्द्रिका का विस्तार करता है।

१३. अयं जीवः क्षीबः^१ प्रबलपवनोद्धूततुणवद्,
 भवारण्ये भीमे शमितशरणो बन्धमवहो ।
 कषत्रिचटोलंभ्याद्विदितदशदृष्टान्तततितो,
 नरत्वं सम्प्राप्तं सुकुलशुभजात्यार्थनिगमे ॥

यह उन्मत्त जीव प्रबल पवन से उद्धूत तिनकों की भांति इस भयंकर भवरूपी अशरण अरण्य में चक्कर लगा रहा है। मनुष्य जन्म की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। उसकी दुर्लभता का अबोध देने के लिए दस दृष्टान्त प्ररूपित हैं। ऐसा दुर्लभ मनुष्य जन्म, उत्तम कुल, उत्तम जाति और उत्तम देश—आर्यदेश उसे प्राप्त हुआ।

१४. तटद्रोः शाखाग्रं सरिति वहतां निःस्वकनृणां,
 सुसद्विध्यद्वर्त्तनं^१ जलधिपततां सत्प्रबहणम् ।
 महानन्देच्छूनां सकलसुविधासाधनमिदं,
 मनुष्यत्वं लब्ध्वा सफलयात भव्या ! जिनवृषात् ॥

१. क्षीबः—उन्मत्त (मत्ते शीण्डोत्कटक्षीबाः—अभि० ३।१००)

२. महार्थं माणिक्यम् ।

हे भव्य प्राणियो ! यह मनुष्य जन्म नदी के प्रवाह में बहते हुए प्राणी को प्राप्त तटीय वृक्ष की शाखा के समान, निर्धन को चिन्तामणि की प्राप्ति के समान, समुद्र में गिरे हुए, डुबते हुए को जहाज के समान है । अतः महान् आनन्द को प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति समस्त सुखों के साधनभूत इस मनुष्य जन्म को प्राप्त कर जैनधर्म का आचरण करते हुए इसे सफल बनाएं ।

१५. बही रम्या गम्या विषयिविषयाभोगमधुराः,
परं प्रान्तेऽनिष्टा हृतहृदयकिम्पाकफलवत् ।
अतस्त्याज्या भव्यैर्भूमितपथवद् भ्रान्तपथिकैः,
समाकृष्ट्या तेषां कथमपि न भाव्यं परवशैः ॥

ये इन्द्रिय-विषय बाह्यदृष्टि से सुन्दर और मोहक तथा भोगकाल में मधुर भले ही लगें, परन्तु अन्त में ये मौत के संवाहक किपाक फल के समान अनिष्ट होते हैं । जैसे पथ से भटका हुआ पथिक अपने भ्रान्तपथ को छोड़ देता है वैसे ही ये इन्द्रिय-विषय त्याज्य हैं । इनके आकर्षण के वशीभूत कभी नहीं होना चाहिए ।

१६. बहीरम्यैर्भोगैस्तरलतरला यूयमनिशं,
विषयन्तोऽपश्या अपि तदमितापञ्जटिलताम् ।
यथा रोलम्बेष्टोऽपरितनमनोज्ञत्वरसिकाः,
विलुब्धा रोलम्बा बहुशिततरं कण्टककुलम् ॥

इन बाह्य रमणीय भोगों से तुम रात-दिन चञ्चल होते हुए एवं इनकी अपरिमित आपदाओं की जटिलता को देखते हुए भी वैसे ही नहीं देख रहे हो जैसे गुलाब के फूल की उपरितन मनोज्ञता में रसिक भ्रमर उनमें छिपे हुए तीखे कांटों को नहीं देख पाते ।

१७. असारः संसारः प्रकटितविकारः पथि पथि,
महापङ्काकीर्णः प्रहिरिव सुरागावरणितः ।
अनादेर्भोहान्धा यद्विह पतिताः क्लेशबहुला-
स्तदुद्धारार्होऽयं मिलितनृभवोऽतः किमलसाः ॥

हे भव्यो ! प्रत्येक पथ में विकारग्रस्त यह असार संसार महान्दलदल से आकीर्ण तथा रंगीले चादर से ढंके हुए अन्धकूप के समान है । ऐसे संसार में अनादिकाल से पड़े हुए मोहान्ध मनुष्य अत्यन्त क्लेश पा रहे हैं । ऐसे दुःखद संसार से पार पाने के लिए यह मनुष्य जन्म मिला है, अतः क्यों अलसा रहे हो ?

१. गुलाबस्य जपायाः ।

२. सम्यग् रक्तावरणेन आच्छादितः ।

१८. चतस्रः संसृत्यां विततमतयो नारकमुखा,
नगर्यो जन्तूनामरतिरतिमाजामिव सदा ।
अमूषूद्भाषन्ते नृपतिपथवद् योनिनिवहाः,
मुखैर्लक्ष्या लक्षाः खलु चतुरशीतिर्बहुभिदा ॥

हे भव्यो ! दुःख-मुख में रक्त मनुष्यों के नरक आदि विस्तृत गति रूप चार नगर हैं और इनमें सहजता से पहिचाने जाने वाले चौरासी लाख योनि रूप मार्ग राजमार्ग की तरह दिखाई दे रहे हैं ।

१९. इमां मर्त्योद्भूतिं प्रवरनगरीं प्राप्य सुभगां,
कथञ्चिद् व्यामोहाद् भ्रमणवशतो मूढघिषणाः ।
अनाप्तेः सम्यक्त्वादिकवरपदार्थस्य विफलं,
विनङ्क्ष्यन्ति स्वायुः परिपण इव प्राणिनिकराः ॥

किसी प्रकार से सीभाग्यशाली मनुष्यभव रूप नगर को प्राप्त कर मूढमति वाले प्राणी व्यामोह से भ्रमण करते हुए सम्यक्त्व आदि श्रेष्ठ पदार्थों को न लेकर मूल धन के समान अपनी आयु को निष्फल ही खो रहे हैं ।

२०. गतायुःसर्वस्वा विवशतररङ्गा इव मुधा,
नयन्ते निष्कामा नरकनिगमं ते नियतितः ।
दशां शोच्यां याताः शरणरहिताः खिन्नमनसो,
स्त्रियन्ते सन्त्रस्ता असुखमनुभूयाऽधिकतरम् ॥

जैसे विवशता से रंक अपना सर्वस्व खो बैठता है, वैसे ही मनुष्य अपने आयु-सर्वस्व को खोकर बिना मन ही नियतिवश नरक की ओर चले जाते हैं । वहाँ उन खिन्न मन वाले शरण रहित मनुष्यों की शोचनीय दशा बन जाती है एवं विविध दुःखों का अधिक से अधिक अनुभव करते हुए वे सन्त्रस्त प्राणी बार-बार मरते हैं ।

२१. अतो जैनं धर्मं प्रवहणमिवादध्वमधुना,
जना यूयं तूर्णं सकलसुखतृष्णातरलिताः ।
अतः संसाराम्भोनिधिपरतटस्थां स्थिरसुखां,
जिहीष्वं राभस्यादतुलसुभमां मोक्षनगरीम् ॥

हे भव्यो ! यदि सम्पूर्ण सुखों के इच्छुक हो तो प्रवहरूप जैनधर्म को अब स्वीकार करो एवं इस संसार समुद्र के पार उस तट पर स्थित स्थिर सुखवाली अतुल सुषमायुक्त मोक्ष नगरी को उत्साह से प्राप्त करो ।

२२. पद्म्यो द्वे तस्याऽमृतवरपुरस्याऽभिहितवान्,
जिनेन्द्रः कारुण्यात् समविषमरूपे स्फुटतरे ।
सदाऽऽद्यां पञ्चोरुव्रतनियमितां वीतकलुषां,
द्वितीयां पञ्चाणुव्रतवरमयीं पश्चिमतमाम् ॥

जिनेन्द्रदेव ने भव्य प्राणियों पर करुणा कर मोक्ष नगर के दो मार्ग निर्दिष्ट किए हैं—सम और विषम । सम मार्ग है—निर्दोष पांच महाव्रतरूपे और विषम मार्ग है—पांच अणुव्रत रूप ।

२३. मनस्वी प्रौजस्वी यदि जिगमिषुर्मुक्तिनगरीं,
त्वरामिस्तद्बुद्ध्या सरलपथि पान्थो भवतराम् ।
न चेत्तादृक्शक्तिस्तदऽसरलमार्गानुगमको,
यतोऽशशब्दभावः क्षणिक इव चास्ते तव भवः ॥

हे भव्यो ! जो मनोबल से युक्त हैं, ओजस्वी हैं और जो शीघ्र ही मोक्ष के इच्छुक हैं वे प्रथम सम मार्ग—महाव्रतों के पथिक बनें । यदि वैसी शक्ति न हो तो दूसरे विषम मार्ग—अणुव्रतों के पथिक बनें । इससे तुम्हारा भव अशाश्वत हो जाएगा, बौद्ध धर्म के तत्त्वों के समान क्षणिक हो जायेगा ।

२४. नरा भव्याः सभ्या ! प्रकृतिरसतश्चेतनयुता,
बुरापेनाऽनेनोत्तममनुजजन्मेन' जगताम् ।
न कर्त्तव्यं पापाचरणमपि मा पोषयतक,
व्यसारं संसारं मधुरपयसा पन्नगमिव ॥

हे भव्य सभ्यो । प्रकृति से ही तुम चेतनावान हो, अतः दुष्प्राप्य उत्तम मनुष्य जन्म में पापाचरण मत करो एवं मधुर पय से सांप की तरह इस असार संसार का पोषण मत करो ।

२५. श्रियोऽशीला लीला लुलितलयलालित्यविलया,
तडित्तेजस्तुल्याऽरुणतरुणतातीव्रतरसा ।
नदीपूरप्रख्यं जगति जनताजीवनजलं,
तरध्वं तीर्थंशामिहितसुकृते जागृतजनाः ! ॥

हे भव्यो ! यह संसार की लक्ष्मी कुलटा है । जो लीला है वह थोड़ा सा मनोरञ्जन करके नष्ट होने वाली है । यह फली-फूली तरुणाई भी विद्युत् प्रकाश के समान है । जनता का जीवन-जल नदी के पूर के समान है । उसको तुम तर जाओ तथा जिनेश्वर देव द्वारा कथित धर्म के प्रति जाग उठो ।

२६. स्फुरद्भस्मास्तम्भानुगमनमनेकाधिविधुरं,
न धत्ते स्थेमानं वपुरवपुत्तुल्यं कथमपि ।
निदानं निर्वृत्याऽवितथमधुना निर्वृतिपुरः,
समादद्ध्वं सारं सुकृतमनुशिल्याऽस्य सततम् ॥

हे भव्यो ! यह शरीर अनेक आधि-व्याधि से पीड़ित तथा सुन्दर कदली स्तम्भ के समान निस्सार है । इसीलिए इस शरीर को निर्वृति मार्ग का सच्चा साधन बना कर निरंतर सुकृत करते हुए इसका सार निकालो ।

२७. कृतः पुष्टः पोष्यमधुरमधुरैर्ब्रव्यविसरं-
धनापायः कायस्तदपि खलवद् विकृतिकरः ।
विपक्षैः सम्मिल्यापदि स तनुमन्तं त्यजति हा,
ततः कोऽयं मोहस्तदुपरि निरर्थो भवमृतः ।

यह शरीर मधुर-मधुर पोषक द्रव्यों से पुष्ट किये जाने पर भी सघन दोषों वाला एवं दुष्ट की तरह विकार करने वाला है और विपत्ति में विपक्षियों (रोग आदि) के साथ मिलकर जीव को छोड़ देता है । यह कितना खेद का विषय है ! अतः हे भव्यो ! ऐसे शरीर पर यह कैसा निरर्थक मोह !

२८. प्रिया भोगा रोगा ह्यसुखशतमूलं सुखमिदं,
दुरन्ता दुःसङ्गाः प्रतिपदमनल्पास्तत इतः ।
दुरापाः सद्गोष्ठ्यः शिवपुरपथाकर्षणपरा,
असारः संसारस्तदिह निपुणं जागृत जनाः ! ॥

ये प्रिय भोग रोग हैं । यह भोगजन्य सुख भी सैकड़ों दुःखों का मूल है । चारों ओर अत्यधिक दुरन्त दुःसंग के अखाड़े हैं । मोक्षपथ के आकर्षक सत्संग भी महान् दुर्लभ हैं । अतः हे भव्यो ! यह संसार असार है, इसीलिए यहां सावधानी से जागते रहो ।

२९. यदि क्लान्ताः कामापशद'तरकासारसरणान्,
महाशाद'लिप्ता वनकरटिवन् मत्तमनसः ।
जिनेन्द्रैर्निदिष्टाऽमलसुकृतपीयूषसरिति,
सुखेनारं स्नात्वा शुचिशुचितराः स्युर्विविधधाः' ॥

१. अपशदं—निकृष्ट (खेट) पापमपशदं—अभि० ६।७९)

२. शादः—कर्म (जम्बाले... शादः—अभि० ४।१५६)

३. विवधः—भारः, विगतो विवध इति विविधः ।

जैसे वनहस्ती छोटे से तालाब में प्रवेश कर दुःख पाता है, वैसे ही हे श्रोताओ ! तुम मत्त होकर कामनाओं के अधम सरोवर में प्रवेश कर यदि क्लान्त हो गये हो एवं महा कर्दम से लिप्त हो गये हो तो जिनेश्वर प्रभु द्वारा निर्दिष्ट अमल सुकृतमय पीयूष सरिता में सुख से स्नान कर पवित्र से भी पवित्र एवं हलके बन जाओ ।

३०. गदव्यालैर्याविद् व्यथितमिदमंगं न जरसा,
न यावत् क्षीणायुर्न च गतबला हीन्निग्रयणाः ।
नरस्तावद् धर्मे कुरुत यतनं श्रीभगवतां,
समन्तात् सन्दीप्ते किमिह सवने कूपखननम् ॥

हे भव्यो ! यह शरीर जब तक रोग रूपी दुष्ट हाथी से तथा बुढ़ापे से व्यथित न हो, आयु क्षीण न हो, इन्द्रियां निर्बल न हों, तब तक श्री वीतराग के धर्म में प्रयत्नशील बनो । क्योंकि घर में चारों ओर अग्नि लग जाने के पश्चात् कूप खोदने से क्या प्रयोजन !

३१. करिष्येऽहं पश्चाज्जिनपसुकृतं चिन्तनमिदं,
न सम्यक् को विद्याभिजमरणसीमान्तममलम् ।
विधातव्यं यस्तद् द्रुततरमिदानीं हि पुरुषै-
विधेयं सन्धेयं ह्यसुषु निरितेषूद्भवति किम् ॥

‘मैं बाद में जिनधर्म की उपासना करूंगा’—यह चिन्तः अच्छा नहीं है क्योंकि स्वयं के मौत की सीमा को कौन जानता है ? जो कुछ करना है उसे शीघ्र ही अभी कर लेना चाहिए क्योंकि प्राण निकलने के बाद फिर क्या होना है ?

३२. प्रयाणोक्ताः प्राणा इव रणमुखे कातरनराः,
विपद्ग्रस्ता सम्पत् तदपि चपलेवातिचपला ।
कुटुम्बः सस्वार्थश्चटुपुरुषवन् मेदुरमनाः,
किमर्थं संसारे तदपि ननु मूर्च्छन्ति मनुजाः ॥

हे भव्यो ! जैसे रण के मोर्चे से कायर पुरुष पलायन करने के लिए तत्पर रहता है वैसे ही प्राणियों के प्राण भी पलायन करने के लिए तैयार रहते हैं । सम्पदाएं भी विपदाओं से ग्रस्त एवं बिजली की तरह चञ्चल हैं । सारा कुटुम्ब चापलूस की तरह स्वार्थी है । ऐसी स्थिति में भी मनुष्य संसार में क्यों मूर्च्छित हो रहे हैं ?

३३. पिता माता भ्राता कलितकुलकान्ताऽकलिसुतः,

किमेते मे तत्त्वादहमपि किमेषामनुगतः ।

समायाते काले विपदि यदि वा निष्ठितघने,

शरण्यः कः कस्य त्विहपरमवे कोऽनुगमकः ॥

इस संसार में माता, पिता, भ्राता, कुलीन कांता एवं विनयी पुत्र क्या मेरे हैं और क्या मैं भी उनका हूँ ? मृत्यु, विपदा तथा निर्धनता आने पर यहाँ कौन किसको शरण देने वाला है और परभव में कौन साथ जाने वाला है ?

३४. अहो कोऽहं को मे कुत इह समेतः क्व च गमी,

प्रकुर्वे किं चात्रोचितमनुचितं चेतनचिते ।

कियल्लाभालाभावितिमतिमता स्वापणिकवत्,

विचिन्त्यं चित्तान्तस्ततकरतले नाऽऽयतिगता ॥

हे भव्यो ! मैं कौन हूँ ? मेरा कौन है ? मैं यहाँ कहां से आया हूँ ? मैं कहां जाऊंगा ? मैं आत्मा की पुष्टि के लिए उचित कर रहा हूँ या अनुचित ? मैंने मनुष्य जन्म में कितना लाभ या अलाभ कमाया— इस प्रकार एक निपुण दुकानदार की भांति बुद्धिमान् मनुष्य को करतल में मृत्यु के आने से पूर्व सोचना चाहिए ।

३५. इयं बाह्या पुष्टिः श्वयथुरिव सर्वस्वहरणी,

सुखं बाह्यं कण्डूकरणमिव कण्डूयिन इदम् ।

अयं मिष्टो मोहाद् विषयिविषयानन्दनिवहो,

यथा सर्पक्ष्वेडाल्लगति कटुनिम्बोऽपि मधुरः ॥

यह बाह्य पुष्टि सोथ (सुजन) की तरह सर्वस्व हरण करने वाली है एवं बाह्य सुख भी खुजली से ग्रस्त व्यक्ति के खुजलाने के समान है । ये पञ्चेन्द्रियों के विषयों के आनन्द भी मोह के कारण वैसे मीठे लगते हैं जैसे सांप से डसे हुए मनुष्य को नीम मीठा लगता है ।

३६. प्रियः स्वार्थः सार्थस्त्रिजगति यथावद् भवभृतां,

परार्थोऽयं प्रायो न हि न हि तथा पश्यत दृशा ।

उपास्तेऽमाब्जोऽयं किल कमलपाणिं वसुकृते,

विनाऽमां तत्पाश्वर्षे क्षणमपि कृतार्थो व्रजति न ॥

तीनों लोक में मनुष्यों को धन एवं अपना स्वार्थ ही प्रिय है । अतः प्रायः वे औरों को नहीं देखते । जैसे अमावस्या का चन्द्र किरणों के लिए सूर्य के पास जाता है, पर स्वार्थ पूरा हो जाने पर वह अमावस के बिना सूर्य के पास क्षणभर के लिए भी नहीं जाता ।

१. अब्जः—चन्द्रमा ।

२. कमलपाणिः—सूर्य ।

३७. समुत्पन्ने कार्ये परतरं उपादीयत इह,
सृते कार्ये पुंसां सपदि परिमुच्येत सहसा ।
क्षणं प्रेम्णा कण्ठे सुपरिहितहारो दिवि मुदा,
महोभिर्व्यावृत्तेस्तदनुपरिहीयेत किमु न ॥

इस संसार में कोई कार्य उत्पन्न होने पर पराये को भी अपना बना लिया जाता है । कार्य हो जाने पर जल्दी ही उसे छोड़ दिया जाता है । जैसे महोत्सव में बड़े प्रेम से हार गले में पहना जाता है और उत्सव के पूर्ण हो जाने पर उसे उतार दिया जाता है ।

३८. हृषीका'प्येतान्युत्पथनयनशीलान्यबरत-
मतो धृत्वा हस्ते प्रशमदमरश्मीन् दृढतरान् ।
अवेयुर्यं दक्षा इव दमनतः शूलहयान्,
नरास्ते निविघ्नं विवधति सुखं निर्बृतिपुरे ॥

ये इन्द्रियां मनुष्य को निरन्तर उत्पथ में ले जाने वाली हैं । परन्तु जो दक्ष मनुष्य प्रशमन एवं दमन विषयनिवृत्ति रूप दृढ़ रश्मियों को हाथ में थामे अविनीत घोड़े की तरह उनका दमन कर लेते हैं वे निविघ्नता से मोक्ष सुखों को प्राप्त होते हैं ।

३९. अहो ! स्निग्धो मुग्धो विषमविषयाक्रान्तमनुजो,
यतः स्वस्वारूप्यं किमपि नहि वेत्तुं प्रभवति ।
वृथा क्लेशाक्रोशः क्षपयति सुजःमेदमफलं,
यथा श्वात्माकृत्या मुकुरनिलये संस्थितिमितः ॥

अहो ! विषम विषयों से आक्रांत यह आसक्त और मूर्ख मनुष्य अपने स्वरूप को भी जानने के लिए समर्थ नहीं है और यह अपने मनुष्य जन्म को नानाविध क्लेशों एवं आक्रोशों द्वारा वैसे ही व्यर्थ खो देता है जैसे कांच के घर में रहा हुआ कुत्ता अपनी ही आकृति से लड़-झगड़ कर प्राण गवां देता है ।

४०. सितं ह्यशापाशंजगदमितच्चिन्तैककरणैः,
कदा स्युस्ताः पूर्णा जलनिधितरङ्गा इव हताः ।
वितन्वन्तस्तास्ताः कतिपयजना नो प्रतिगता,
गमिष्यन्त्येवं किं नहि नहि च गच्छन्ति विवशाः ॥

१. क्षणः—उत्सव (महः क्षणोद्वोद्वर्षा—अभि० ६।१४४) ।

२. महः—उत्सव ।

३. हृषीकम्—इन्द्रिय (हृषीकमक्षं करणं स्रोतः—अभि० ६।१९) ।

यह जगत् अमित कामनाओं के आशा-पाश में बंधा हुआ है। ये कामनाएं उछलती हुई समुद्र की तरङ्गों की तरह कब पूर्ण होंगी, ऐसा चिंतन करते-करते कितने मनुष्य विवश होकर इस संसार से नहीं चले गये, नहीं जायेंगे एवं नहीं जा रहे हैं।

४१. अहो ! चिन्तादेव्या विततमिह साम्राज्यमसितं,
ततः कश्चिच्चिन्तारहित इव नाऽऽलोकनिगमे ।
बिलीना स्यादेका तदितरतरैकैकसबला,
न तच्चिन्ताप्रान्तः सुकृतमिव चिन्तामणिमृते ॥

हे भव्यो ! जगत् में चिन्तादेवी का कितना विशाल साम्राज्य जमा हुआ है जिससे कोई भी मनुष्य निश्चिन्त नहीं दिख पड़ता। एक चिन्ता पूर्ण होते ही उससे सबल दूसरी चिन्ताएं प्रगट होती रहती हैं। अतः इन चिन्ताओं का अन्त चिन्तामणिरत्न तुल्य जिनधर्म के बिना नहीं हो सकता।

४२. अनिष्टैः क्षेत्राद्यैः सततपरमाधार्मिकसुरै-
रनन्तभुततृष्णातपतुहिनसन्तापबहुलैः ।
मिथो भारासारैर्मथितमनसां नारकजुषां,
पराधीनानां तन्नरकनिलये क्वास्ति च सुखम् ॥

हे भव्यो ! नरक में अनिष्ट क्षेत्र आदि का तथा परमाधार्मिक देवों द्वारा दिए जाने वाले कष्ट निरन्तर होते रहते हैं। वहां अनन्त भूख, तृषा, आतप, शीत आदि सन्तापों की बहुलता है। नारक परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं, मारपीट करते रहते हैं। उन पराधीन नारकों को नरक में सुख कहाँ है ?

४३. पतच्छीतातापानिलजलधरासारविसरै-
र्बलाद् भारारोपैरतिवहनतोत्राविहननैः ।
पिपासाभुतक्षोभैर्विविधवधबन्धैरसुखिनां,
तिरश्चां त्रस्तानां क्वचन सबलेशं ह्यपि सुखम् ॥

वैसे ही शीत, ताप, हवा, वेगवान् वर्षा, जबरदस्ती भारारोपण, अतिवहन, चाबुकादिक के प्रहार एवं भूख-तृषा-भय एवं विविध वध बन्धनादि दुःखों से संतप्त पशुओं को लेशमात्र भी सुख कहाँ है ?

४४. महाम्लानाहारैर्गहनगरभावासवसन-
प्रसूत्याधिब्याधिप्रजरमरदारिद्र्यकरजैः ।
पराभूताकृताद्भुततरविपक्षाभिजनितैः,
क्व चासौख्यैः क्रीडीकृतनरवराणामपि सुखम् ॥

वैसे ही गर्भ में महाम्लान आहार, गर्भ में निवास, जन्म-जरा-मरण, आधि-व्याधि- दरिद्रता, राज्यकरों से उत्पन्न दुःख तथा पराभव के अभिप्राय और विचित्र प्रकार के विपक्षियों द्वारा उत्पादित दुःखों से पीड़ित मनुष्यों को भी सुख कहाँ है ?

४५. न रत्नानां नौन्यं मणिमयमहामन्बिरतति-
मनोभीष्टं कार्यं रुचिररुचिरारोचकश्चिः ।
तथाप्यन्योन्येष्वाच्यवनकलहामर्षवसतोऽ-
सुखैर्यद्देवानामपि किमु सुखं तात्त्विकतया ॥

देवलोक में रत्नों की कोई कमी नहीं है। वहाँ मणिमय विशाल भवनों की पंक्तियाँ ही पंक्तियाँ खड़ी हैं। देव मन-इच्छित कार्य करने में समर्थ हैं। उनकी अत्यन्त सुन्दर देदीप्यमान कान्ति है। फिर भी वे देव परस्पर ईर्ष्या, च्यवन, कलह, क्रोध के वशीभूत होकर दुःखी होते हैं। उन देवों को भी तात्त्विक दृष्टि से सुख कहाँ है ?

४६. तथाप्येते प्राणा बहुलकृतकिष्वा बहुमवाः,
प्रमादादौ सक्ता अरतिरतिसंसक्तमनसः ।
हठाद् भूयो भूयोऽसुखमयजगत्सम्मुखमहो !
प्रधावन्ते वश्यं नतमभिमुखं मेघसुमवत् ॥

फिर भी रति-अरति में संसक्त मन वाले एवं प्रमाद आदि में आसक्त प्राणी बहुत पापों द्वारा दीर्घ संसारी बन कर हठात् बार-बार दुःखमय जगत् के सम्मुख वैसे ही दौड़ते हैं जैसे निम्न स्थान के सम्मुख पानी ।

४७. भवे रङ्गे मञ्चे नट इव परामोदमधुरो,
वृथाशासन्तानः स्फुरदभिनयानन्दिनिपुणः ।
परावर्तीरूपादणुरिव नरीनर्तनपटु-
रयं प्राणी प्रीणः प्रणयति न धर्मं जिनपतेः ॥

हे भव्यो ! यह जीव वृथा आशाओं की परम्परा से इस भवरूप रंगमंच पर औरों को खुश करने के लिए हाव-भाव से आनन्दित करने वाले निपुण नट की भांति अभिनय करता है एवं वेश बदल-बदलकर परमाणु की तरह नाचता रहता है, पर जिनधर्म की उपासना नहीं करता ।

१. नतं—नीचे, निम्न ।

२. जलवत् ।

४८. पिता पुत्रः पुत्रो भवति च पितृवं हि विविधैः,
समस्तैः सम्बन्धैरसकृदभिसम्बन्धसहितः ।
प्रवृत्तोऽयं जीवस्तव्य किमुकैः करिह भवे,
ममत्वं वा मोहः क इह न निजः कोऽस्ति च परः ॥

हे भव्यो ! यह जीव पिता से पुत्र एवं पुत्र से पिता—ऐसे नाना प्रकार के सभी सम्बन्धों से अनन्त-अनन्त सम्बन्धों सहित प्रवृत्ति करता रहता है । ऐसी स्थिति में यहां किसके साथ मोह एवं ममत्व ? इस संसार में कौन अपना नहीं है और कौन पराया है ?

४९. प्रमादाः सोन्मादाः सुकृतघनचोरा इव मताः,
कषायाः सापाया विषमविषवृक्षा इव सदा ।
न भव्यैः संसेव्याः शिवपुरमुखाकाङ्क्षभिरहो,
उपादेयं रत्नत्रितयममलं निर्मलधिया ॥

हे भव्यो ! प्रमाद उन्माद है । वह सुकृतरूपी धन को चुराने वाले चोरों के समान माना गया है । तथा विषम विषवृक्ष के समान ये कषाय भी सदा सदोष हैं । अतः मोक्ष के इच्छुक व्यक्तियों को इनका उपयोग नहीं करना चाहिए । उन्हें निर्मल बुद्धि से पवित्र रत्नत्रयी की ही आराधना करनी चाहिए ।

५०. समोत्कृष्टं धर्मो जिननिगदितो मङ्गलमहो,
महानन्दानन्दार्पणनिपुण ऐन्द्राह्निप इव ।
पथादर्शी धर्मो भ्रमवसुमतां संसृतिवने,
निरालम्बालम्बोऽखिलजगति धर्मोम्बरमिव ॥

यह जिनधर्म सभी धर्मों में उत्कृष्ट, मंगलमय एवं कल्पवृक्ष की तरह मोक्ष सुखों को देने में निपुण है । यह संसार-वन में भ्रमण करते हुए मनुष्य को पथ दिखलाने वाला तथा संपूर्ण जगत् में निरालम्बों को आकाश की तरह आलम्बन देने वाला है ।

५१. गुणान् स्वच्छान् धर्मो गुरुरिव वरान् सङ्क्रमयति,
प्रतिष्ठासुत्कृष्टां प्रभुरिव ददात्येव सुतराम् ।
अयं धर्मः शर्माभ्युदयितमहाहर्म्यरचना,
पुनर्धर्मो वर्मातिशयरिपुशस्त्रापहरणे ॥

यह धर्म गुरु की भांति स्वच्छ गुणों को भरने वाला, स्वामी की भांति सदा प्रतिष्ठा देने वाला, सुख एवं अभ्युदयरूप महा हर्म्य की रचना करने वाला तथा शत्रुओं के शस्त्रों को व्यर्थ करने के लिए अशेष कवच के समान है ।

५२. जिनो धर्मो दुःखानुभवभवदावानलजलं,
चलच्चिन्ताचक्रे चतुरतरचिन्तामणिगणः ।
जिनो धर्मो रोगोरगविहगराजोऽक्षयकरो,
जिनो धर्मः सम्पत्सुरतरशुभावर्त्तजलजः ॥

हे भव्यो ! यह जिनधर्म दुःखानुभव से होने वाले दावानल के लिए मेघतुल्य, चलते हुए चिन्ताचक्र के लिए चिन्तामणि रत्न के समान, रोग-रूप सर्पसमूह के लिए गरुडतुल्य एवं सम्पदा के लिए कल्पवृक्ष एवं दक्षिणावर्त्त शंख के समान है ।

५३. जिनो धर्मो धर्मो जननजरजाड्याद्विविभिदे,
जिनो धर्मो मर्माभिदऽविदितकर्मापकरणाम् ।
जिनो धर्मः प्रोढादपि च परमप्रोढपददः,
पराहन्त्यं धर्मो वितरति न किं सिध्यति ततः ॥

यह जिनधर्म जन्म, जरा रूप हिमालय पर्वत को भेदन करने के लिए (हिम को पिघालने के लिए) आतप के समान, अज्ञात कर्मरूपी दुष्ट हाथी के मर्मस्थल का भेदन करने वाला एवं उच्चतम प्रोढपद को देने वाला है । यह परम अर्हत् पद का प्रदाता है । इस धर्म से क्या सिद्ध नहीं होता ?

५४. अतः सम्यक्तत्त्वेनैवभिरिह षड्द्रव्यसहितैः,
रुच्यो रुच्याऽऽरक्ष्याऽमरशिखरिचूलामिव वराम् ।
जिनेन्द्रोक्तं धर्मं सुरतरुमिवाराधयति यो-
ऽचिरान् मेध्यं मोक्षं विलसति स सच्चित्सुखमयम् ॥

नवतत्त्व एवं षड्द्रव्य सहित जिनोक्त धर्म में मेरुपर्वत की चूला के समान दृढ़ श्रद्धा रखनी चाहिए । सुरतरु के समान जिनधर्म की जो आराधना करता है, वह शीघ्र ही पवित्र एवं सच्चिदानन्दमय अक्षयसुखमय मोक्ष को पा लेता है ।

५५. नरत्वं निर्मल्यं मुकुरमणिवद् विष्टपतले,
निरर्थं नैपुण्यं कुपरिणतिधर्माचरणवत् ।
मुधा मेधावित्त्वं नियतिहठवत् तस्य सबलं,
न यो जैनं धर्मं रुचिररुचिभी राति रभसात् ॥

जो जिनधर्म पर परम श्रद्धाशील नहीं है, संसार में उसका मनुष्यत्व काचमणि के समान मूल्यहीन है और उसकी चातुरी दुष्ट अध्ववसाय से किए गए धर्माचरण के समान व्यर्थ है । उसका सबल पाण्डित्य भी नियति के हठ के समान निकम्मा है ।

५६. प्रकाशं ध्वान्तौघैरमृतमतिहालाहलदलै-
 धृतं मूत्रैश्चिन्तामणिमपशदः काचशकलैः ।
 सुमेरुचैश्चूला जलधिगतपातालकलशैः,
 समीकर्तुं चेष्टा ननु परमतैः श्रीजिनमतम् ॥

जैनधर्म को अन्यमतों के समान करने या बताने की जो चेष्टा है, वह प्रकाश को अन्धकार के समान, अमृत को जहर के समान, घी को मूत्र के समान, चिन्तामणिरत्न को कांच के तुच्छ टुकड़े के समान तथा सुमेरु की उच्चतम चूला को पाताल-कलशों के समान करने या बताने जैसी है ।

५७. त्रिधा शुद्धैः शालैः समवसरणं श्रीजिनपति-
 स्त्रिधा भव्यैश्छत्रैस्त्रिभुवनपतित्वाभिकथकैः ।
 त्रिधा शक्त्या सम्राट् त्रयपरिषदेन्द्रोतिरुचिर-
 स्त्रिभिर्धर्मैः सद्बुद्धमतचरणरत्नैरिह तथा ॥

जैसे तीन सुन्दर कोट से भगवान् का समवसरण, तीन लोक के प्रभुत्व का व्यापन करने वाले तीन मनोहारी छत्रों से जिनेश्वर देव, तीन शक्तियों से सम्राट् और तीन परिषदों से इन्द्र सुशोभित होता है वैसे ही सम्यक् दर्शन, सम्यग् ज्ञान एवं सम्यग् चारित्र्य—इस त्रिपदी से जिनधर्म शोभित होता है ।

५८. यतस्तत्त्वालोकः प्रभवति यतो रुध्यति मनो,
 यतो ह्यात्मोनत्यं सततमखिलैर्मध्यममलम् ।
 विरज्यन्ते रागा यत उदितसच्छ्रेयसि रति-
 विबोध्यं तज्ज्ञानं जिनवरमते संस्कृतिरते ॥

संस्कृति से युक्त जैन मत में वह ज्ञान जानने योग्य होता है जिससे तत्त्वों पर प्रकाश पड़ता हो, जिससे मन का निरोध होता हो, जिससे आत्मा की उन्नति होती हो, जिससे समस्त प्राणियों के साथ निरन्तर निर्मल मैत्री-भाव होता हो, जिससे राग द्वार होते हों और जिससे उत्कृष्ट श्रेय (मोक्ष) में अनुरक्ति होती हो ।

५९. क्वचित् किञ्चित् सत्यं जिनवदस्परत्रापि लसति,
 परं नो तत् तत्त्वात् प्रकृतिविकृतेर्बुण्यवशात् ।
 बहिर्बुद्ध्युत्प्लेप्यशठशठयोमिष्टलपने,
 महान् भेदः किं नोभयसदसदन्तःकरणतः ॥

हे भव्यो ! कहीं-कहीं जिनमत के सदृश अन्यान्य मतों में भी किञ्चित् सत्य पाया जाता है, पर तत्त्वदृष्टि से वह सत्य नहीं है। क्योंकि अन्यान्य मतों की प्रकृति विकारपूर्वक एवं दुर्णयपूर्वक होती है। जैसे बाह्य दृष्टि से सज्जन और दुर्जन व्यक्ति का मिष्टालाप सदृश होने पर भी क्या दोनों के सद्-असद् अन्तःकरण से वह महान् भेद वाला नहीं होता ?

६०. परः कश्चिद् ब्रह्मप्रभृतिधुरिधौरेयक इव,
ध्रुमत्येकान्तेऽन्यो नियतिमुखतो मोहमथितः ।
अनात्मैकानन्दी पर इह महानास्तिकमति-
जिनान्येषामित्थं वितथकुदृशाः सर्वविधयः ॥

इस संसार में कुछेक ब्रह्म आदि की धुरि पर धौरेय (बैल) की तरह घूमते हैं, कुछेक मोह से मथित नियति पर विश्वास करते हैं, कोई एकान्तवादी है और कोई महानास्तिकवादी अर्थात् अनात्मवादी है। इस प्रकार अन्य दर्शनों के सभी विधि-विधान मिथ्यादृष्टि पूर्वक ही हैं।

६१. महामोहान् मूलाद् वितथमतिभिभिन्नमतिभि-
र्बहिर्वृष्ट्या दूब्धान्यऽनपशदशास्त्राणि बहुशः ।
ततस्तान्यहंद्भिः सुकृतभुवि मिथ्याभृतपदै-
नियुक्तान्युक्तानि प्रकृतिगतदोषार्पितदृशा ॥

अन्यान्य दर्शनों के शास्त्र महामोहमूलक एवं मिथ्यादृष्टिपूर्वक रचे गए हैं। वे बाह्यदृष्टि से उत्तम लगते हैं। अहंत् ने उनके प्रकृतिगत दोषों पर दृष्टिपात कर धर्ममार्ग में उनके शास्त्रों को मिथ्याभृत कहा है।

६२. स्वरूपे हेतौ वा निवसिदुदये स्वास्वविधिषु,
विपर्यासोऽवरयं कथमपि कथं चापरमते ।
अतो बाह्याकारैर्जिनवरमताभासकमपि,
न सम्यक्तत्वात्तत् कथनरचनाशास्त्रमननम् ॥

जैनतर दर्शनों में यत्कथंचिद् विपर्यास प्राप्त होता ही है। तत्त्व के स्वरूप में या उसकी सिद्धि के हेतुओं में कहीं भेद और कहीं अभेद दृग्गोचर होता है। अपनी-अपनी विधियों में भी विसंगति प्रतीत होती है। वे मत बाह्य आकार-प्रकार से जिनमत का आभास देते हैं, पर सम्यक् तत्त्व पर आधारित न होने के कारण उन मतों का कथन, रचना और शास्त्र-मनन भी विपर्यास से मुक्त नहीं होता।

६३. यथायं ह्यारूढा जिनवरगिरो मौलिकतया,
तदीयाज्ञा तस्माच्छिरसिवहनीया बहुगुणा ।
अरागत्वाच्छङ्कापदमपि न तत्रास्ति तनुकं,
महानन्दानन्दस्तदनुसरणादाजंबगुणैः ॥

जिनवाणी मूल से ही यथार्थ पर आरूढ है । अतः प्रभु की बहुगुण युक्त आज्ञा को शिरोधार्य करनी चाहिए । वीतरागता के कारण उनकी वाणी में तनिक भी संशय नहीं होता । ऋजुतापूर्वक जिनवाणी का अनुसरण करने से मोक्षानन्द की प्राप्ति होती है ।

६४. अनन्तैर्धर्मैः संयुतमभिहितं तत्त्वमखिलाऽ,
भिधायि स्यान्मानं नय इह तदेकांशलपनः ।
स्वभिन्नांशोच्छेदि स्फुटतरमिदं दुर्णयवचः,
समुत्पादक्षीणस्थितिभुणमयं वस्तु युगपत् ॥

वीतराग ने प्ररूपित किया है कि सभी तत्त्व अनन्त धर्मात्मक हैं । जो शब्द सभी धर्मों का सम्पूर्ण ज्ञापक है, वह प्रमाणवाक्य है और जो एक धर्म का ज्ञापक है, वह नयवाक्य है । जो अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का उच्छेदन करने वाला है, वह दुर्णयवाक्य है । अर्हत् प्रवचन के अनुसार सभी पदार्थ युगपद् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक हैं ।

६५. यदेकः पर्यायः स्वत इह भवेद् द्रव्यनिबहे,
ह्यनन्ताः पर्यायाः सपदि परतः स्युः खलु तदा ।
स्वरूपादेकस्मिंस्तदिव पररूपादपि सदाऽ-
विरुद्धाः प्राप्यन्तेऽमितसदसदाद्या गुणगणाः ॥

जहां द्रव्य-समूह में स्वतः एक पर्याय व्यक्त होती है, तब वहां अनन्त पर-पर्यायों अव्यक्त रहती हैं । जिस द्रव्य में सत् आदि स्वगुण हैं वहां पररूप से असद् आदि अनन्त विरोधी गुण भी पाए जाते हैं ।

६६. मृषान्धश्रद्धान्धानुकरणतया नास्ति सुकृतं,
तथा किं त्रैलोक्ये कृतककुमणिः स्याद् वरमणिः ।
परीक्षाप्रावीण्यास्तदथ सुकृतं ग्राह्यमसकृतं,
कुपक्षापातैर्नो परिफलति पुण्यामरतरुः ॥

जैसे नकलीमणि कभी असली मणि नहीं बन सकता, वैसे ही मिथ्या-श्रद्धा, अन्धश्रद्धा और अंधानुकरण से कभी अधर्म धर्म नहीं बन सकता । अतः बार-बार परीक्षापूर्वक ही धर्म को ग्रहण करना चाहिए । केवल मिथ्या पक्षपात से धर्म का कल्पवृक्ष नहीं फल सकता ।

६७. सुपात्रेभ्यो देयं त्रिकरणसुयोगैर्वितरणं,
सदा शीलं पाल्यं समलहृतिलक्ष्मकललितम् ।
तपस्तप्यं शुद्धाध्यवसितिपुरस्तद्धिसुतपः,
शुभाभावा भाव्या भवति खलु भावानुगफलम् ॥

हे भव्यो ! विशुद्ध तीन करण और तीन योग से सुपात्र को दान देना चाहिए । सब दोषों से रहित लक्षणों वाले निर्दोष शील का पालन सदा करना चाहिए । शुद्ध अध्यवसाय पूर्वक तप तपना चाहिए क्योंकि वही सुतप है और सदा शुभ भावना करनी चाहिए क्योंकि भावानुसार ही फल मिलता है ।

६८. निशम्येतां सत्यां व्रतिपतिगिरं सभ्यभविनः,
समुल्लासैः पूर्णां ऋतनयसमाकृष्टमनसः ।
स्मिताक्षाः सलक्ष्याः प्रतिपलमतृप्ताः श्रवणतः,
श्रयन्ते तं भुङ्क्ता इव रससुगन्धं सुमगणम् ॥

वे सभ्य भव्यजन आचार्य भिक्षु की सत्यवाणी सुनकर उनके सत्य-ग्राही वचनों से आकृष्ट हुए, पूर्णरूप से उल्लसित हुए । जैसे भ्रमर सौरभयुक्त सुमनों पर मंडराते हैं वैसे ही वे प्रसन्न भव्यजन आचार्य भिक्षु की वाणी से तृप्ति का अनुभव न करते हुए निरंतर सलक्ष्य उनकी उपासना में निरत रहने लगे ।

६९. पुरा यावज्जीवं त्रिविधविधिवत्पञ्चक महा-
व्रतान्यच्छोद्देश्यैरुपदिशति तच्छक्तिरहितान् ।
ततस्तत्पञ्चाणुव्रतसगुणशिक्षाव्रततति,
विना सम्यक्त्वं तद् द्वयमपि यथार्थं नहि भवेत् ॥

स्वामीजी सर्वप्रथम धर्मानुरागियों को पांच महाव्रतों को यावज्जीवन तीन करण, तीन योग से स्वीकार करने की बात कहते । जो महाव्रतों को ग्रहण करने में असमर्थ होते उन्हें पांच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों— इस प्रकार बारह व्रतों को स्वीकार करने का उपदेश देते और वे यह भी कहते कि सम्यक्त्व के बिना ये दोनों यथार्थ नहीं बन सकते ।

७०. प्रबुध्यन्तेऽनेके निजहितविलुब्धा भविजना,
निशाध्वान्ताक्रान्ताम्बुजचयवदऽर्कैरिवतर्कैः ।
बहुभ्यो वर्षेभ्योऽमिलदमलसाफल्यमतुलं,
प्रजाताः सन्तोणुव्रतिन इह नाना पुरपुरे ॥

जैसे रात्री के अन्धकार से आक्रान्त कमल समूह सूर्य की किरणों से विकस्वर होता है वैसे ही अपने हित में लुब्ध अनेक भव्य प्राणी स्वामीजी के वचनों से प्रबुद्ध हुए। इस प्रकार अनेक वर्षों के सतत परिश्रम से आचार्य भिक्षु को असाधारण सफलता मिली और गांव-गांव में अनेक महाव्रती और अणुव्रती बने।

७१. ग्रामे ग्रामेऽनेकशः श्राद्धवर्गा,
ग्रामे ग्रामे श्राविकाः ज्ञाततत्त्वाः ।
ग्रामे ग्रामे भक्तिमन्तः प्रसिद्धाः,
पादे पादे भाग्यभाजां निधानम् ॥

गांव-गांव में आचार्य भिक्षु के अनेक श्रावक थे। गांव-गांव में अनेक तत्त्वज्ञ श्रावक-श्राविकाएं थीं तथा गांव-गांव में भक्ति करने वाले प्रसिद्ध भक्त थे। ठीक ही कहा है—भाग्यशाली के लिए पग-पग पर निधान होता है।

श्रीनाभेयजिनेन्द्रकारमकरोद्धर्मप्रतिष्ठां पुनर्,
यः सत्यग्रहणाग्रही सहनयैराचार्यभिक्षुर्महान् ।
तत्सिद्धान्तरतेन चारुचरिते श्रीनत्थमल्लखिणा,
वृत्ते भिक्षुमुनेश्चतुर्दशमितः सर्गो बभूवानसौ ॥

श्रीनत्थमल्लखिणा विरचिते श्रीभिक्षुमहाकाव्ये भिक्षुजनजन-
प्रतिबोधनसाफल्यनामा
चतुर्दशः सर्गः ।

पन्द्रहवां सर्ग

प्रतिपाद्य : आचार्य भिक्षु की विविध मान्यताओं को अभिव्यक्त करने वाले दृष्टान्तों का आकलन ।

श्लोक : १९७ ।

छन्द : शार्दूलविक्रीडित ।

वर्ण्यम्

आचार्य भिक्षु का विहार क्षेत्र धीरे-धीरे बढ़ने लगा । नाना प्रकार के लोग विविध जिज्ञासाएं लेकर आचार्य भिक्षु के पास आते और अनेक प्रश्न पूछते । आचार्य भिक्षु उन्हें अनेक दृष्टान्तों, घटनाओं के माध्यम से तत्त्व की अवगति देते । ये दृष्टान्त तत्त्व की सुदृढ़ पृष्ठभूमि प्रदान करते थे । इन दृष्टान्तों में तात्कालिक सभ्यता-संस्कृति के तत्त्व भी संश्लिष्ट हैं ।

‘भिक्षु दृष्टान्त’ नामक पुस्तक में स्वामीजी के ३१२ जीवन-प्रसंगों का संकलन है । मुनिश्री हेमराजजी स्वामी आचार्य भिक्षु के अत्यन्त प्रिय और मेधावी, चर्चावादी शिष्य थे । उन्होंने ये सारे प्रसंग श्रीमज्जयाचार्य को लिपिबद्ध करवाए । इसका प्रथम संस्करण सन् १९६० में तथा तृतीय संस्करण सन् १९९४ में प्रकाशित हुआ । आचार्य महाप्रज्ञजी ने लिखा—‘भिक्षु दृष्टान्त’ राजस्थानी भाषा का उत्कृष्ट ग्रन्थ है । डेढ़ शताब्दी पूर्व संस्मरण साहित्य की परम्परा बहुत क्षीण रही है । उस अवधि में लिखा गया यह संस्मरण ग्रन्थ भारतीय साहित्य में ही नहीं, अपितु विश्व साहित्य में भी बेजोड़ है । श्रीमज्जयाचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ का संकलन कर भाषा, दर्शन और आचारवाद की दृष्टि से एक अनुपम अवदान दिया है ।’

इसी ग्रन्थ से कुछेक दृष्टान्तों को इस सर्ग में प्रस्तुत किया है । आचार्य भिक्षु को प्रतिपादन शैली इतनी सहज-सरल होती थी कि प्रश्नकर्त्ता उस वक्तव्य को सही ढंग से समझ लेता था । आचार्य भिक्षु औत्पत्तिकी बुद्धि के धनी थे, यह तथ्य इन प्रस्तुत दृष्टान्तों के माध्यम से समझा जा सकता है ।

काव्यकार ने १९७ श्लोकों में अनेक दृष्टान्त सन्दृब्ध किये हैं । श्लोकों की अपनी मर्यादा है । उनमें पूरे दृष्टान्तों का समावेश संभव नहीं होता । अतः हमने श्लोक के हार्द की पूर्णरूपेण अवगति देने के लिए यत्र-तत्र पूरा कथानक उद्धृत किया है ।

पञ्चदशः सर्गः

१. श्रीमन्तः प्रतिपादिताः सुसरलाः सारल्यपाथोऽभिभिः,
सिद्धान्तप्रतिबोधनाय विबुधैराचारपारायणैः ।
श्रीमद्भिक्षुमुनीश्वरैः सुकृपया लोकप्रिया न्यायतो,
दृष्टान्तानभि सूचयामि सुतरां तान् साम्प्रतं साम्प्रतम् ॥

ऋजुता के सागर, आचार-परायण, महामनीषी मुनिपति श्रीमद् भिक्षु स्वामी ने कहा—सरल-सुबोध, न्याय सज्जत एवं लोकप्रिय दृष्टान्तों का निरूपण, यथार्थ सिद्धांतों को अभिव्यक्ति देने के लिए किया है। अब मैं उन युक्ति-संगत दृष्टान्तों को समुचित रूप से काव्यरूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

२. कश्चित् पृच्छक उक्त उक्तमुनिभिः पश्वप्रधातोऽधिकः,
क्षिप्तः कचर एव तच्छ्रवणतो रुष्टस्तदाऽजल्पि सः ।
त्वं चेद् गौरपयुक्तवादिभिरहो ज्ञानं हि घासो मम,
तत् श्रुत्वा मुदितो विवेकसहितः श्राद्धोऽभवत् स्वामिनाम् ॥

बूंदी नगर में सवाईराम ओस्तवाल स्वामीजी से तत्त्ववर्चा करते हुए बार-बार कहते—और बताइए, और बताइए।

तब भिक्षु ने कहा गाय और भैंस के आगे अधिक चारा डालने पर वे उसे इधर-उधर बिखेर देते हैं। उसका कचरा कर देते हैं।

वे नाराज होकर बोले—‘मुझे आपने पशु बना दिया?’

तब स्वामीजी ने कहा—‘तुम यदि पशु हो गये तो मेरा ज्ञान चारा हो गया।’

ऐसा कहने पर वे राजी हो गए और भिक्षु को गुरु बना लिया।

३. कश्चिद् व्यक्ति विकत्थनः^१ प्रतिहृतास्तेरापचाः प्राह तं,
योद्गोरेक इतस्पृहो निजगृहं प्रच्छंसितुं शक्यते ।
किंतु स्वात्मनिकेतनाऽवनमनास्तद्वत् कथं वर्तते,
एकैकं वचनं ब्रवीति परितः साधुः समीक्ष्यैव सः ॥

१. भिदु० १।

२. विकत्थनः—अपनी झूठी प्रशंसा करने वाला (सा तु मिथ्या विकत्थन—
अभि० २।१८२)।

किसी ने अपनी भूठी प्रशंसा करते हुए सवाईराम से कहा—हमने तेरापन्थी साधुओं को परास्त कर दिया ।

तब सवाईराम बोला—‘दो के मध्य झगड़ा होने पर एक आदमी अपने घर को कृष्णार्पण कर देता है । दूसरा कलह करने से डरता है, अपने घर की सुरक्षा करता है । इसी प्रकार तेरापन्थी साधु अपने साधुपन की सुरक्षा करते हैं । वे अंट-संट बोलने से भय खाते हैं । तुमने अपना घर कृष्णार्पण कर रखा है । तुम्हारे सामने अपने साधुपन की सुरक्षा का प्रश्न नहीं है । इसलिए जैसा मन में आता है, वैसा तुम बोलते हो ।’ यह कहकर उसने उसको निरुत्तर कर दिया ।’

४. ब्रव्याचार्यविक्षिताऽथ गृहिणी निष्काशिता सद्गुरुं,
हृदटात् याचितवांस्ततोऽन्यविर्पाणिं पाल्यां च कस्याथ स ।
प्रोक्तस्तेन भर्ता न पूर्वविपणिर्भग्नोतिबृष्टेरहो,
भिक्षुस्तं ह्युपकृत्करं विवितवान् कीदृक् क्षमासागरः ॥

पाली में भीखणजी स्वामी आज्ञा ले एक दुकान में ठहरे । एक जैनी ने उस दुकान वाले के घर जाकर उसकी पत्नी से कहा—‘ये कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा तक तुम्हारी दुकान नहीं छोड़ेंगे ।’

तब उस बहिन ने स्वामीजी से कहा—‘तुम्हें यहां रहने की मेरी आज्ञा नहीं है ।’

तब भिक्षु ने कहा—‘चातुर्मास में भी तुम कहोगी तब हम वहां से चले जायेंगे ।’

उस समय वह बहिन बोली—‘मुझे तुम्हारे जैसे ही कह गए हैं कि चातुर्मास शुरू होने पर वे यहां से नहीं जायेंगे । इसलिए मेरी आज्ञा नहीं है ।’

उसके मना करने के बाद आचार्य भिक्षु स्वयं गोचरी गये । उदय-पुरिया बाजार में एक दुकान की दूसरी मंजिल की याचना की । उसके प्राप्त हो जाने पर आप स्वयं वहां बैठ गए, साधुओं को भेज उपकरण मंगवा लिए । दिन में वे उस दूसरी मंजिल पर रहते और रात को नीचे दुकान में व्याख्यान देते । परिषद् काफी जुट जाती । बहुत लोगों ने सम्बोधि प्राप्त की । आचार्यजी ने शय्यातर (दुकान-मालिक) से बहुत कहा—तुमने इन्हें जगह क्यों दी ? ये अविनीत हैं, निह्व (मिथ्या प्ररूपणा करने वाले) हैं ।’

तब उसने कहा—‘कार्तिक पूर्णिमा तक तो मनाही नहीं कलंगा ।’

कुछ दिनों बाद बहुत वर्षा हुई । स्वामीजी जिस दुकान में पहले ठहरे

थे, उस दुकान का शहतीर टूट गया। सैकड़ों मन वजन नीचे गिरा। इस बात को सुन स्वामीजी ने कहा—‘जो हमें दुकान छुड़ाने में रहे, उन पर छयस्थ स्वभाव के कारण आक्रोश की लहर आने का प्रसंग था। पर उन्होंने हमारा उपकार ही किया। (यदि हम वहां रहते तो आज क्या होता ?)’ ऐसे थे स्वामीजी क्षमाशील।’

५. कश्चित् प्राह मुनेरनिष्टमशनं प्रामाद्यमेवाऽन्नतं,
स्वामी चाथ तमभ्यघान् मुहुरनिष्टं वा कृतं शेषितम् ।
तेनेष्टं हि निवेदितं ग्लपयता नो चेत् कथं दायिनां,
धर्मः स्यात्तदनिष्टपोषकतया सद्भिः समीक्ष्यं च तत् ॥

पीपाड़ में आचार्य रघुनाथजी के शिष्य जीवणजी ने आचार्य भिक्षु से कहा—‘साधु आहार करता है, वह ‘अन्नत’ और ‘प्रमाद’ है।’

तब स्वामीजी ने कहा—‘जो काम भगवान की आज्ञा में है, वह अच्छा है।’

पर जीवणजी ने यह बात मानी नहीं। फिर स्वामीजी ने पूछा—‘साधु आहार करता है वह काम अच्छा है या बुरा ?’

जीवणजी ने कहा—‘साधु आहार करता है, वह बुरा काम है। त्याग करता है, वह अच्छा काम है।’

गोचरी आदि के लिए जाते-आते समय रास्ते में वे मिलते, तब स्वामीजी पूछते—‘जीवणजी ! बुरा काम करके आए हो या जाकर करना है ?’

इस प्रकार बार-बार पूछने से जीवणजी सकपका गए और बोले—‘भीखणजी ! साधु आहार करता है, वह अच्छा ही काम है।’

६. पृष्टेनोक्तमधीशपूर्वमुद्ददा कार्प्यं कृतं तत्र किं,
लग्नं वै दशरूप्यकार्प्यस्य वदाऽऽयः किञ्च तावन्मितः ।
स्वाम्याख्यद् दशरूप्यकैर्गृहगतैः किं दुःखितं ते तदा-
ऽऽरम्भाद्यैः समयो मुधैव गमितः सद्धर्मतो वञ्चितः ॥

कंटालिया में भीखणजी स्वामी के मित्र का नाम था गुलोजी गादिया।

उससे स्वामीजी ने पूछा—‘गुला ! तुमने खेती की है ?’

‘हां, स्वामीनाथ ! की है।’

स्वामीजी ने पूछा—‘उपज कितनी हुई और खर्च कितना लगा ?’

गुलोजी बोले—‘स्वामीनाथ ! दस रुपये लगे हैं । कुछ हल जोतने के आड़े के, कुछ निदाई के और कुछ बीज के । कुल दस रुपए लगे ।’

स्वामीजी ने पूछा—‘वापस कितने आए ?’

तब उन्होंने ने कहा—‘स्वामीनाथ ! लगभग दस रुपयों का माल वापस आया—कुछ रुपयों के मूंग, कुछ चारा, कुछ बाजरी, सब दस रुपयों का माल वापस आया । जितना लगा, उतना आ गया । बेचारी खेती का कोई दोष नहीं ।’

तब स्वामीजी बोले—‘गुला ! ये दश रुपये कोठे के आले में पड़े रहते तो तुझे इतना पाप तो नहीं लगता । ऐसा आरम्भ क्यों किया ? तुम्हारा समय भी व्यर्थ गया और तुम धर्मध्यान से भी वंचित ही रहे ।’

७. श्रुत्वा निःसृतमेकमाशु कर्मणि स्वाम्याह खेदो न मे,
चण्डोति प्रकृतेर्गणस्वयमिनां संक्लेशकृत् सोऽभवत् ।
पक्षे कस्य गडावतीवविषमे प्राणापहारोत्सुके,
देवात् प्रस्फुटिते विनोषघमहो का नाम चिन्ता ततः ॥

देसूरी का ‘नाथो’ नाम का साधु था । उसने स्त्री, मां और पुत्री को छोड़ दीक्षा ली, पर उसकी प्रकृति कठोर थी । वह अच्छी तरह आज्ञा में नहीं चलता । वह लगभग तीन वर्ष गण में रहा, फिर उससे अलग हो गया । वह जिनके पास था, उन साधुओं ने स्वामीजी से कहा—‘नाथो गण से अलग हो गया ।’

तब स्वामीजी बोले—‘किसी के फोड़ा बहुत संक्लेशकारी और पीडाकारी था । वह प्राणापहारी और अत्यंत विषम भी था । वह पका और बिना क्षीय ही भाग्यवश फूट गया । अब उसकी चिन्ता कैसी ?’

‘ऐसे ही दुःखदायी के अलग हो जाने पर अप्रसन्नता नहीं होती ।’

८. श्राद्धाद्यो ददते न दानमणुकं दीनादिकेमभ्यस्ततो,
मिश्रः प्राह विनोदतोऽधिकवरं युष्मत्कृते वाचकम् ।
स्वाम्यासन् दश आपणा नव गता पृष्ठस्थ एकस्तदाऽ-
हं होवाऽऽयविभागवानिति न किं हृष्येन्न यूयं तथा ॥

कुछ लोग बोले—‘भीखणजी ! तुम्हारे श्रावक किसी को दान नहीं देते । ऐसी तुम्हारी मान्यता है ।’

तब स्वामीजी बोले—‘किसी शहर में दस दुकानें थीं । उसमें से नौ व्यापारी दुकानें बंद कर किसी शादी में चले गये । पीछे से कपड़ा खरीदने

वाले ग्राहक आए । तब जो एक व्यापारी शेष था वह राजी होता है या नाराज ?'

तब वे बोले—'राजी होता है ।'

तब स्वामीजी बोले—'तुम कहते हो भीखणजी के श्रावक दान नहीं देते तो जो दान लेने वाले हैं वे सब तुम्हारे ही पास आयेंगे । वह धर्म तुम्हीं को होगा । फिर तुम दुःखी क्यों होते हो और निंदा क्यों करते हो ?' तुमको तो हर्षित होना चाहिए ।' ऐसा कहकर उन्हें हतप्रभ कर दिया । वे वापस उत्तर नहीं दे सके ।'

९. दानेऽसंयतिनाऽमघप्रकयनाल्लुब्धाक इत्युक्तिकृत,
प्रावाच्याऽऽर्यवरेण पर्युषणके रुद्धं च तत् कैः कथम् ।
अद्यैव त्वहमुद्यतः शृणु नृणां सामायिकादौ च तत्,
प्रत्याख्यानकराषणेन किमु नो सन्तस्त्वबीयास्तथा ॥

कुछ लोग स्वामीजी को कहने लगे—'आपने दान दया का लोप कर दिया क्योंकि आप असंयतिदान में पाप कहते हैं ।'

तब स्वामीजी बोले—'पर्युषण में कोई याचक को अनाज नहीं देता, आटा नहीं देता । पर्युषण धर्म के दिन हैं । यदि अन्न-दान को धर्म मानो तो उन दिनों में दान देना बंद क्यों किया ? यह बात तो बहुत पुरानी है । उस समय तो हम थे ही नहीं । फिर यह स्थापना किसने की ? तुम्हारे संत भी सामायिक आदि में असंयति को दान देने का प्रत्याख्यान कराते हैं । तो वे भी क्या दान के लोपक नहीं हैं ?'

१०. श्राद्धानां प्रतिमाधृतां वितरणे किं स्यात्तदा पृच्छक,
आचार्यैरुदतारि हस्तिगिरयो दृश्या न तस्यैव किम् ।
कुन्धवाद्या नयनाध्वगाश्च भवितुं शक्या अतः शिक्ष्यतां,
ज्ञानं तात्त्विकमाद्यमाशु महती चर्चा ततः पृच्छयताम् ॥

कुछ श्रावक बोले—'प्रतिमाधारी श्रावक को शुद्ध दान देने से क्या होता है ?'

तब स्वामीजी बोले—'कोई किसी को सजीव जल पिलाता है और कंद-मूल खिलाता है, उसमें तुम क्या मानते हो ?'

तब वे बोले—'हमें तो प्रतिमाधारी श्रावक के बारे में ही बताएं, दूसरी बात तो हम नहीं समझते ।'

तब स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—'कोई बोला, मुझे चींटी और

कुंभुआ दिखाओ ।' तब उसने पूछा—'तुम्हे हाथी और पर्वत दिखाई देते हैं या नहीं ?'

तब वह बोला—'हाथी और पर्वत तो मुझे दिखाई नहीं देते ।' तब उसने कहा—'हाथी भी तुम्हें दिखाई नहीं देता, तो चींटी और कुंभुआ कैसे दिखाई देगा ?'

इसी प्रकार किसी को जीव खिलाने में पाप होता है, उसे भी तुम नहीं जानते, तो फिर प्रतिमाधारी को अन्नत सेवन कराने में पाप होता है, यह मान्यता तुम्हारे हृदय में कैसे पैठ पाएगी ? यह चर्चा तो बहुत सूक्ष्म है । पहले तार्किक ज्ञान करना चाहिए, फिर गहरी चर्चा की जा सकती है ।'

११. षट्कायाऽसुमतां च खादनतया किं स्यादद्यं चेत्तदा,
भारीमालमुनिं जगाद लिखतात् पानीयपानेऽपि तत् ।
उक्तं तन्मयका कवेति निजगोऽबिज्ञोऽववत्सं प्रति,
षट्कायेषु समागतं किमु न वा नीरं च भिक्षुर्जगौ ॥

पीपाड़ की घटना है । अन्य सम्प्रदाय का श्रावक 'मालजी' स्वामीजी से चर्चा कर रहा था ।

स्वामीजी ने पूछा—'मालजी ! छहकाय के जीवों को खाने से क्या होता है ?'

तब उसने कहा—'पाप होता है ।'

फिर स्वामीजी ने पूछा—'छहकाय के जीवों को खिलाने से क्या होता है ?'

उसने कहा—'पाप होता है ।'

तब स्वामीजी बोले—'भारमलजी ! स्याही तैयार कर लिख लो—मालजी पानी पिलाने में पाप कहता है ।'

तब मालजी तेजस्वर में बोलने लगा—'मैंने पानी पिलाने में पाप कब कहा ?'

तब स्वामीजी बोले—'पानी छह काय के भीतर है या बाहर ?'

तब वह बोला—'है, है और है । पर मत लिखना, मत लिखना ।'

इस प्रकार वह हतप्रभ होकर वहां से चला गया ।'

१२. विश्वे केऽपि नरा विवेकविकला अज्ञा निजोक्तेः स्वयं,
तस्माद् यत् प्रवदन्ति नैजवृषभं भाराववाहं कदा ।
पत्युस्ते भ्रियतां परन्तु न तके जानन्ति ऋज्वाशयाः,
सा गालिः प्रतियाति तत्पतितया मय्येव सारल्यतः ॥

इस दुनिया में कई एक ऐसे विवेक-विकल मनुष्य भी होते हैं जो अपनी भाषा के आप ही अजान होते हैं। उन्हें यह ध्यान नहीं होता कि वे क्या कह रहे हैं और क्या नहीं कह रहे हैं। जैसे भारवहन करने वाले बैल को, उसका मालिक बोलता रहता है—‘अरे ! थारो घणी मरै ।’ पर वह भोला मनुष्य यह नहीं समझता कि यह गाली तो सीधी उसे ही लग रही है, क्योंकि वही तो उस बैल का मालिक है और दूसरा कोई नहीं।

१३. दत्ते दीनजनाय पुण्यमिति चेत् पुण्यप्ररूपी मुनिः,
प्रोक्तः श्राद्धवरेण तर्हि मिलितं चाऽऽवां हि कुर्याव तत् ।
वस्त्रं तेऽन्नकणाश्च मे हि यदि वा पूषास्तवाऽस्मत्कणाः,
सोऽवक् नो मम कल्पतेऽहमथवा वर्त्तेऽत्र साधुत्वहा ॥

असंयति दान में पुण्य की प्ररूपणा करने वाले मुनि ने कहा कि हीन-दीन आदि को दान देने में पुण्य होता है। यह सुन किसी पुण्य-पाप विषयक गम्भीर ज्ञान के धारक श्रावक ने कहा कि यदि ऐसा है तो हम दोनों साम्प्रदायी में पुण्य करें, जिसमें वस्त्र तो आपका और धान्यकण मेरा। तब मुनि ने कहा—‘हमें वस्त्र देना नहीं कल्पता।’ श्रावक ने कहा—‘यदि वस्त्र देना आपको नहीं कल्पता तो न सही। ऐसा करें कि रोटियाँ आपकी और धान्यकण मेरे।’

ऐसा सुन मुनि ने कहा—‘हम साधुओं को तो ऐसा करना नहीं कल्पत। अगर हम ऐसा करते हैं तो अपने संयम का नाश करने वाले हो जाते हैं।’

१४. प्राहाऽणुव्रतभूततोऽतिचकितो ह्येतत्कथं शोभनं,
यैः साधुव्रतभङ्गता भवति तैः श्राद्धत्वपुष्टिः कथम् ।
आयुष्मांस्त्वमहं भ्रियेऽभिपतनादित्युक्तिवत् तच्च वा,
प्रौढीना गिरयो यतो हि गणना कर्तृर्गुणिकायाश्च का ॥

असंयतिदान से श्रावक धर्म अर्थात् अणुव्रत पुष्ट होता है, यह सुनकर अणुव्रती अत्यंत चकित रह गया। उसने कहा—यह कैसे हो सकता है? जिन कार्यों से साधुव्रतों का भंग होता है, उनसे श्रावकत्व की पुष्टि कैसे हो सकती है? जिस प्रलयकारी पवन से बड़े-बड़े पहाड़ भी उखड़ जाते हैं, उड़ जाते हैं तो भला रूई की ‘पूणी’ का तो कहना ही क्या?

(पूरा दृष्टांत इस प्रकार है) —

एक व्यक्ति वातरोग से पीड़ित था। वह एक व्यक्ति के पास पहुंचा। उसे अपनी व्यथा बताई। उसने कहा—यदि तुम वात-रोग से मुक्ति पाना चाहते हो तो सात मंजिले मकान से छलांग लगानी पड़ेगी। ऐसा करने पर रोगमुक्त हो जाओगे।'

उसने प्रत्युत्तर में कहा—'आप भी वायु के रोग से ग्रस्त हैं। आप स्वयं इस उपाय को काम में क्यों नहीं लेते ?'

उसने कहा—'मैं ऐसा करता हूं तो मर जाऊंगा।'

तब मैंने कहा—'जब आपकी यह स्थिति हो सकती है तो मेरी यह स्थिति क्यों नहीं होगी ?'

निगमन : असंयती को दान देने से हमारा साधुपन भग्न होता है, पर तुम दो, तुम्हें पुण्य होगा।' यह कथन का कैसा विपर्यास ! जिससे साधुपन भग्न होता है, उससे पुण्य कैसे होगा ?"

१५. यत्कार्यं विदधाति नो स्वयमहो सामान्यतो यो हि तद्,

अन्यान् कारयतः कथं न सहसा शङ्कावकाशो भवेत् ।

संयत्तिं परिवेष्टिते स्वमुद्भवे श्वेदस्य शङ्कान्विते,

भुक्तेऽन्ना भुगपन्नं संशयकथा नो चेत् कथं प्रत्ययः ॥

जिस कार्य को व्यक्ति स्वयं नहीं करता, उसी कार्य को दूसरों से करवाते समय वहां सहसा शंका क्यों नहीं होती ? असंयती को दान देने में पुण्य बतलाने वाले व्यक्ति स्वयं असंयती को दान क्यों नहीं देते ? यदि पुण्य होता हो तो, पहले स्वयं करें, फिर दूसरों से करवाएं।

दो मित्रों के मध्य जो मनमुटाव था वह मिटा तब एक मित्र ने अपने मित्र को भोजन के लिए निमंत्रित किया और भोजन में हलवा परोसा। मित्र ने कहा—आओ, साथ भोजन करें।' उसने आनाकानी की तब उसे शंका हुई कि हलवे में जहर तो नहीं मिला दिया है ? यदि वह मित्र साथ में भोजन करता है तो संशय नहीं उत्पन्न होता। अन्यथा विश्वास कैसे हो ?"

१६. ज्ञात्वा त्वाममुनिं ददाति विसर्गं किं तत्र सञ्जायते,

जगद्भोक्षतया सिता विहसिता किं नार्पयेन् माधुरीम् ।

ज्ञानं तस्य न शोभनं सुरचिताऽनिष्टाक्रिया स्यात् कथं,

पात्रे दत्तमनिन्द्यमुत्तमतमं सिद्धान्ततः सिद्ध्यति ॥

१. भिदृ० ७२।

२. वही, ७३।

एक व्यक्ति ने स्वामीजी से पूछा—मैं तुम्हें असाधु मानकर वस्त्र का दान देता हूँ। उससे मुझे क्या होगा ? स्वामीजी बोले—किसी ने अज्ञान में मिश्री खाई तो क्या वह मिठास नहीं देगी ? क्या खाने वाले का मुँह भीड़ नहीं होगा ? साधु को असाधु जानना ज्ञान की कमी है। उनके प्रति की गई सद्क्रिया अनिष्ट कैसे हो सकती है ? सिद्धांत के अनुसार सुपात्र को दाक देना श्रेष्ठ और अनिष्ट है।

१७. सतसद्भ्यो यदऽशुद्धदानबद्धने वित्तव्रतानां लयः,
श्राद्धेभ्यश्च तथापणे हि सुकृतं यैरुच्यते संस्फुटम् ।
तन्निवृत्तं चरमोचितं किमु ततः सद्भावनाभिः पुनः,
साधुभ्योऽपि गृहस्थिनो वरतराः सम्पादिता दानतः ॥

शुद्ध साधुओं को अशुद्ध दान देने पर, धन एवं श्रावक के व्रतों का भी नाश हो जाता है। वही अशुद्ध और अनेकषणीय वस्तु यदि श्रावक को दी जाती है तो उसमें धर्म-पुण्य है, ऐसा कुछेक व्यक्ति मानते हैं पर ऐसा मानना अत्यन्त आश्चर्यजनक है। ऐसा मान लेने पर दान-धर्म के संदर्भ में साधुओं से श्रावकों की श्रेष्ठता अपने आप स्पष्ट हो जाती है।

१८. दानत्यागकरापका हि मलिना दीनाविकेभ्यो ध्रुवं,
स्रष्टा एव तदंलिनामकजनाः श्रुत्वेत्यमाख्यद् गुरुः ।
तुभ्यं त्यागकरापकस्त्व गुरुः सामायिकादौ तत-
स्तत्पादप्रणिपाततस्त्वमपि भो ! स्रष्टः प्रभावी स्वयम् ॥

एक भाई ने स्वामी भीखणजी से कहा कि दान का त्याग कराने वाला पापी और उनके चरणों में वन्दन करने वाला निश्चित रूप से भ्रष्ट है। ऐसा सुनकर स्वामीजी ने कहा—अगर ऐसा है तब तो तुम्हें सामायिकादि में असंयति दान का त्याग करवाने वाले तुम्हारे कथन के अनुसार पापी और उनके चरणों में नमस्कार करने वाले तुम भ्रष्ट ठहरे।

१९. काचित् पूषसर्पिकाऽऽह सुगुहं हस्ताविधौतं विना,
स्थातुं न प्रभवामि नैजसदनानुष्ठानहर्त्रां कथम् ।
नो स्वीयां ह्रसे क्रियां त्वमपि किं साध्वेषणां मामकां,
प्रोज्ञामीति विभाष्य भिक्षुमुनिराद् प्रत्यागतो गौरवस्त ॥

एक बहिन स्वामी भीखनजी को गोचरी के लिए बार-बार प्रार्थना करती थी। एक दिन स्वयं स्वामीजी उसके घर गए। वह भिक्षा देने लगी। स्वामीजी ने पूछा—‘क्या तुम्हें हाथ धोने पड़ेंगे?’ वह बोली—‘मैं हाथ धोए बिना रह नहीं सकती।’ तब स्वामीजी ने उसे अनेक प्रश्न पूछे कि तुम हाथ कहां धोओगी? किस पानी से धोओगी? वह पानी कहां जाएगा? आदि-आदि। बहिन ने कहा—‘मैं अपने घर की क्रिया या अनुष्ठान को नहीं छोड़ूंगी। हाथ जहां, जैसे धोना है धोऊंगी।’ तब स्वामीजी बोले—‘जब तुम भी अपने घर की विधि को नहीं छोड़ना चाहती तो मैं अपनी साध्वोचित एषणा विधि (भिक्षा की विधि) को कैसे छोड़ सकता हूं।’ यों कहकर स्वामीजी गौरव का अनुभव करते हुए वहां से स्थान पर आ गए।^१

२०. धौतोत्सर्जनतो मिलेत् परभवे तद्वावनं नो ददे,
स्वाम्याख्यद् वद धेनवेऽर्पयसि किं सोचे तृणानि प्रभो !
सा किं यच्छति दुग्धमाह मुनिपस्तद्वत् सुपात्रार्पणे,
लाभो ह्युच्चतमस्त्वितौह विदिता विश्राणयेद्वावनम् ॥

एक जाटनी के घर में धोवन पानी था, पर वह साधुओं को दे नहीं रही थी। साधु खाली हाथ लौटे तब स्वामीजी स्वयं उसके घर गए और पानी देने के लिए कहा। वह बोली—‘महाराज ! जैसा दिया जाता है वैसा ही परभव में मिलता है। मैं आपको यहां धोवन पानी दूँ तो परभव में मुझे धोवन पानी ही मिलेगा। इसलिए मैं पानी नहीं दूंगी।’

स्वामीजी बोले—‘बहिन ! तू गाय को क्या खिलाती है?’

‘महाराज ! घास देती हूँ।’

‘गाय क्या देती है।’

‘वह दूध देती है।’

स्वामीजी बोले—घास के बदले गाय दूध देती है, वैसे ही सुपात्र को दान देने से उच्चतम लाभ मिलता है।’

वह बोली—‘ऐसा है, तब तो आप धोवन पानी ले जाएं।’ उसने धोवन पानी का दान दिया।^२

२१. मौनं साधविहायिते त्वितिवचो जल्पन्ति ये केचन,
ते मौनेन हि दर्शयन्ति निखिलं पृष्टा धवाख्या यथा ।
यावन्नन्त्यभिधा वरस्य वनिता नो नेति संवादिनी,
याते नास्मि दधाति जोषमनुयुग् जानाति गोत्रं तदा ॥

१. भिदु० ३२।

२. वही, ३४।

कुछेक व्यक्ति यह बात कहते हैं—हम सावद्य-दान के प्रसंग में मौन रहते हैं। परन्तु वे अपने मौन के द्वारा सब कुछ कह देते हैं। स्वामीजी ने कहा—उनका मौन उस स्त्री जैसा है। किसी ने एक स्त्री से पूछा—‘तुम्हारे पति का नाम क्या है?’ वह मौन रही। तब व्यक्ति ने पूछा—क्या उसका नाम पेमो है।

‘नहीं।’ ‘तो क्या नत्थू है?’ ‘नहीं।’ तो क्या ‘पाथू’ है? ‘नहीं’। पूछते-पूछते पति का मूल नाम आने पर वह मौन हो जाती है। तब समझ लिया जाता है कि इसके पति का यही नाम है।

इसी प्रकार यह पूछने पर कि क्या सावद्य-दान में पाप है? वे कहते हैं—‘किसने कहा पाप है?’ फिर पूछते हैं—क्या मिश्र है? ‘किसने कहा मिश्र है?’ तो क्या पुण्य है? इस प्रश्न पर वे मौन हो जाते हैं। तब जान लिया जाता है कि इनकी पुण्य की मान्यता है।’

२२. श्राद्धा वोऽपहरन्ति दत्तमपि तन् मिथ्या परं श्रूयते,
कीकी बादरसाधुकारतनया यः श्राविकाऽन्याऽऽस्यतात् ।
प्राप्ताऽऽज्येन समं जहार सहसा साध्व्यो हि घाटीं रूषा,
केनाऽऽविःकृतमेव वेदनतया जाता प्रसिद्धा ततः ॥

एक व्यक्ति ने भीखनजी से कहा—आपके श्रावक साधुओं को दान देकर कभी-कभी पुनः छीन लेते हैं।’ स्वामीजी बोले—यह तो मिथ्या है। परन्तु यह अवश्य सुना है कि बादरशाह की लड़की ‘कीकी’ बाई, जो स्थानकवासी संप्रदाय की श्राविका है, ने ऐसा किया था। एक बार साध्वियां गोचरी के लिए गईं। एक घर से उन्होंने घी लिया। फिर वे कीकी बाई के घर गईं। उसने इन्हें अपने संप्रदाय की साध्वियां समझकर ‘घाट’ (दलिया) का दान दिया। फिर जब उसे ज्ञात हुआ कि ये तो भीखनजी की साध्वियां हैं, तब रोष में आकर उसने घी सहित घाट उनके पात्र से छीन ली। पास खड़ी एक ब्रजवासिनी ने यह सारा देखा और यह बात अन्यत्र फैल गई।’

२३. भक्तानां परिभोजयामि सततं यल्लप्सिकां किं ततो,
यावद् यद्गुडमिश्रिता ननु तथा माधुर्यमीशोऽवदत् ।
त्वत्तीर्थत्रयमेव तावदृषिवाक् चातुर्गुणो मोदक-
स्तत्खण्डोऽपि करोति भुक्तमनुजं प्राङ्गादितं स्वादतः ॥

(क) एक बार गीबीराम नामक चारण भक्त स्वामीजी के पास आकर बोला—महाराज ! मैं भक्तों को सदा लापसी खिलाता हूं। इस कार्य में क्या होता है—धर्म या पुण्य ?' आचार्य भिक्षु बोले—'जितना गुड़ डाला जाएगा उतना ही मीठा होगा।' इस उत्तर से वह बहुत खुश हुआ। जिन विरोधियों ने उसे वितंडा करने भेजा था, वे अनमने हो गए।'

(ख) भीखनजी का धर्मसंघ चल रहा था। कई वर्षों तक संघ में साध्वियां नहीं हुईं। तब किसी ने कहा—'भीखनजी ! आपके तीन ही तीर्थ हैं—श्रावक, श्राविका और साधु।' स्वामीजी बोले—'लाडू खंडित है, पर है 'चोगुणी' का। यह अपने स्वाद से खाने वाले को अत्यधिक आह्लादित कर देता है।'

२४. पानेऽपां वधकस्य धार्मिकविशरचाघाभिधानादुभौ,
तुल्यौ तेऽभिमानेन तत्र मुनिराद् प्राख्यत्तथैवं हि चेत् ।
वेश्याया जलपामतः किमु भवेत् मातुश्च माषस्व सोऽ-
वोचत् पापमहो तदा तव मतात् साम्यं द्वयोरप्यभूत् ॥

स्वामीजी के पास एक व्यक्ति आकर बोला—'आप श्रावकों को देने में भी पाप कहते हैं और कसाई को देने में भी पाप कहते हैं। इस दृष्टि से आपने श्रावक और कसाई को समान गिन लिया।'

तब स्वामीजी बोले - 'ओटोजी ! तुम्हारी मां को लोटा भर कर सजीव पानी पिलाने से क्या होता है !' उसने कहा—'पाप होता है ?'

'अच्छा, वेश्या को सजीव पानी पिलाने से क्या होता है।' उसने कहा—'इसमें भी पाप होता है।'

तब स्वामीजी बोले—'अरे ओटोजी ! तुमने मां और वेश्या को समान गिन लिया ?' वह लज्जित-सा होकर चला गया।'

२५. एकाक्षरपरोपणैर्यदि वृषः पञ्चाक्षसंरक्षणे,
त्वन्नक्तं बलतोपहृत्य ददनेऽप्येवं न किं जायते ।
कृम्यादिप्रमयैरपीह खलु तत् पुण्याऽधिकत्वेन च,
नो चेत् तत्र तदेत्यमेव सकले किं नो समालोच्यते ।,

(क) किसी ने कहा—'एकेन्द्रिय जीव को मारकर पंचेन्द्रिय जीव का पोषण करने से लाभ होता है।' तब स्वामीजी बोले—'किसी ने तुम्हारा अंगोछा छीनकर ब्राह्मण को दे दिया। उसमें लाभ है या नहीं ?'

१. भिदू० २० ।

२. वही, २२ ।

३. वही, २९ ।

वह बोला—‘इसमें तो लाभ नहीं, क्योंकि स्वामी की अनुमति के बिना दिया है।’

स्वामीजी बोले—एकेन्द्रिय ने कब कहा कि मेरे प्राण लूटकर दूसरों का पोषण करना। इस न्याय से एकेन्द्रिय को मारने वाला उसके प्राणों की चोरी करता है, इसलिए उसमें लाभ नहीं होता।’

(ख) कुछ हिंसाधर्मी कहते हैं—‘एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा पञ्चेन्द्रिय जीव पुण्यवान् होते हैं। इसलिए एकेन्द्रिय जीव को मारकर पञ्चेन्द्रिय जीव की रक्षा करने में बहुत धर्म होता है।

स्वामीजी बोले—‘एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय का पुण्य अनंत गुणा होता है। कोई पञ्चेन्द्रिय जीव मर रहा हो, उसे कुछ कृमि आदि जीव खिलाकर कोई बचा ले तो उस बचाने वाले को धर्म हुआ या पाप?’

इस प्रकार पूछने पर वह उत्तर देने में असमर्थ हो गया।

स्वामीजी बोले—‘जैसे द्वीन्द्रिय जीवों को मार कर पञ्चेन्द्रिय को बचाने में धर्म नहीं है, वैसे ही एकेन्द्रिय को मार कर पञ्चेन्द्रिय को बचाने में भी धर्म नहीं है।’

२६. आमान्मः परिपानतो यदि भवेन् मिश्रश्च धर्मस्तावा,
किं नो तद्वरणेऽपि धार्मिकजनैरालोच्यतां धीधनैः ।
धान्यक्षेपणतः कपोतपुरतः स्याद् वा दया निर्मला,
तत् सर्पादिनिबर्हणेन पुरुषत्राणेऽपि किं स्यान्न सा ॥

किसी ने कहा कि सजीव पानी पिलाने में पुण्य अथवा पुण्य-पाप (मिश्र) धर्म होता है। स्वामीजी बोले—यदि ऐसा है तो पानी के जीवों की दया के लिए पानी पिलाने वाले से पानी छीनने में भी पुण्य अथवा मिश्रधर्म होगा। यह बुद्धिमान व्यक्तियों के लिए विचारणीय है।

किसी ने कहा—कबूतरों की दया के निमित्त उनके आगे धान्य डालना निर्मल दया है। यदि यह दया है तो मनुष्य आदि प्राणियों को बचाने के लिए सर्प आदि को मार डालना भी दया क्यों नहीं होगी? पुण्य या मिश्रधर्म क्यों नहीं होगा?

२७. भिक्षुर्दानदयाद्वयस्य नितरामुत्थापको निर्दय,
इत्थं केप्यविवेकिनो बहुतरं कुर्वन्ति कोलाहलम् ।
किन्वेतन्न विदन्ति ते न तु मिथः सावद्य तत् स्थापना-
दस्मत्स्वेव समेति तत् खलु तयोस्तथापकत्वं स्वयम् ॥

कुछ अविवेकी मनुष्य ऐसा कोलाहल करते हैं कि भीखणजी दान और दया—दोनों के उत्थापक हैं और निर्दयी हैं। परन्तु वे यह नहीं समझते कि सावद्य दान और सावद्य दया की स्थापना करने से वे स्वयं ही स्वयं के द्वारा अभिमत दया-दान के उत्थापक हो जाते हैं। अगर वे सावद्य दया की स्थापना करते हैं तो उनके सावद्य दान की मान्यता खंडित हो जाती है और यदि सावद्य दान की स्थापना करते हैं तो उनके सावद्य दया की मान्यता खंडित हो जाती है। (जैसे—एकेन्द्रिय आदि जीवों की दया पालने पर असंयमियों को दिया जाने वाला सावद्य दान रुक जाता है और सावद्य दान देने पर एकेन्द्रिय आदि जीवों की दया रुक जाती है। उदाहरणार्थ— एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को मूला, गाजर-कन्द, बाजरी, गेहूं व कच्चा पानी वगैर खिलाता-पिलाता है, दान देता है। अगर यहां एकेन्द्रिय जीवों की दया पाली जाने की बात स्वीकार करते हैं तो वहां सावद्य दान ठहर नहीं सकता और यदि इनका दान देने की स्थापना करते हैं तो इन एकेन्द्रिय जीवों की दया गायब हो जाती है।)

२८. जीवानां व्यपरोपणोद्यतनृणां शुद्धाशयाः स्युः कथं,
हस्तोदस्तकृपाणिकाप्रहरणैर्हन्तुर्मनः किं शुभम् ।
ब्रूयान् मे क्षुरिकापरीक्षणमिदं नो मारणस्य स्पृहा,
तत् किं सत्यमुदीर्य यद् विहननं स्यात् किं विना कामनाम् ॥

२९. पूर्वोदाहरणाज्जिनेन्द्रसमयेऽहिंसात्मके बीक्ष्यतां,
कार्यं हृद्द्वयमेव यत्र विशदं स्यात्तत्र धर्मोद्भवः ।
शुद्धिः कारणकार्ययोः शिवपुरप्रावेशिकी तत्त्वतो,
नैयूत्येऽन्यतमस्य तत्र सुकृतश्लेषोऽपि नो कर्हचित् ॥ (युग्मम्)

किसी ने कहा —‘अन्य जीवों की प्राण रक्षा के लिए जीवों की हिंसा में भी भावना शुद्ध है, इसलिए पुण्य होता है।’ स्वामीजी बोले—‘जीव-हिंसा के लिए उद्यत व्यक्ति का आशय पवित्र कैसे हो सकता है ? क्या कटारी से दूसरे पर प्रहार करने वाले का मन पवित्र हो सकता है ? पूछने पर वह कहता है— मैं तो अपनी कटारी का परीक्षण कर रहा हूं। मेरी मारने की इच्छा नहीं है। क्या उसका कथन सत्य हो सकता है ? क्या जीव-हिंसा बिना इच्छा के हो सकती है ?’

पूर्वोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्हत् प्रवचन के अनुसार अहिंसा के क्षेत्र में कार्य और भावना—दोनों की शुद्धि अपेक्षित है। वहीं धर्म की निष्पत्ति संभव है। यथार्थ में कार्य और कारण—दोनों की

शुद्धि होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। दोनों में से एक की अशुद्धि होने पर धर्म का लवलेश भी नहीं होता।^१

३०. प्रत्याख्यानमकारि सर्वतमसां श्राद्धेन केनापि चेत्,
तद्दाने किमहो जजल्प मुनिराद् धर्मो हि शर्मप्रदः ।
श्रुत्वाश्चर्यपरोऽनुयोगरचिता किन्वात्मभावारसा-
नाऽऽस्वादी समपातकस्य विरतिः साधुं विना नो भवेत् ।।

एक व्यक्ति ने स्वामीजी से पूछा—‘महाराज ! किसी श्रावक ने सर्व पापस्थानों का त्याग कर दिया। उसे आहार-पानी का दान देने में क्या होगा ?’ स्वामीजी बोले—‘उसे दान देने में मोक्षप्रदायी धर्म होगा।’ यह सुनकर प्रश्नकर्ता को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने कहा—‘आप तो श्रावक को दान देने में पाप मानते हैं, फिर धर्म कैसे कहा ?’ स्वामीजी बोले—‘तुम अपने प्रश्न की भाषा को देखो। जो समस्त पापों की विरति कर लेता है, वह साधु बन जाता है, श्रावक नहीं रहता। साधु को दान देने में धर्म ही है।’

३१. कश्चिद् दापितसद्ब्रतान्यपहरेत् तद्दापकः सद्गुरु-
स्तत्पापप्रविभागवान् भवति स प्रत्युत्तरेणो प्रभुः ।
लाभोऽलाद् वसनं मनोधिकतया विक्रीय विक्रायकः,
क्रेतुर्हानिफलाधिपो न स तथा साध्वाज्यहेतुर्बरः ॥

किसी ने स्वामीजी से पूछा—‘आप किसी को त्याग कराते हैं और वह त्याग को तोड़ देता है तो पाप आपको लगता है।’ स्वामीजी बोले—‘किसी साहूकार ने सौ रुपयों का कपड़ा बेचा। उसे काफी लाभ हुआ। खरीददार ने किसी दूसरे को वही कपड़ा दो सौ रुपयों में बेच डाला। यह सौ रुपयों का लाभ पहले वाले साहूकार को नहीं मिलेगा, वह तो उसी खरीददार को मिलेगा। यदि सारा कपड़ा जल गया तो नुकसान भी उसी को भुगतना पड़ेगा। इसी प्रकार हमने किसी को त्याग दिलाये, उसका लाभ हमें मिल चुका। त्याग लेने वाला यदि अपने लिए हुए त्याग को ठीक ढंग से पालेगा तो लाभ उसी को मिलेगा और यदि वह अपने त्याग को तोड़ेगा तो उसका पाप उसी को लगेगा।’

१. भिदू० १०१।

२. वही, २०१।

३. वही, १३६।

३२. केनाप्याव्यमदायि शुद्धमुनये भावावदानंमहा-
पुण्योपार्जनमात्मलामललितं नीतं कृताद्यभयम् ।
प्रामाद्याच्च पिपीलिका निपतिताः साधोर्मृतास्तत्र तत्,
पापांशीह घृतार्पको न तदिव ज्ञेयाः समे गोचराः ॥

किसी भक्त ने अत्यन्त विशुद्ध भावों से शुद्ध साधु को घी का दान दिया। उसने शुद्ध भावना के द्वारा महान् आत्मलाभ तथा अशुभ कर्मों की निर्जरा के साथ पुण्योपार्जन किया। मुनि ने प्रमादवश उस घृतपात्र को खुला छोड़ दिया। उसमें अनेक चींटियाँ मर गईं। उसके पाप का भागी साधु है, घृतदान देने वाला दाता नहीं। सभी विषयों में यही न्याय है।^१

३३. जानन्नो ह्यमुनीन् मुनीन् कथमिवाचष्टे मुनीन्द्रोऽवदत्,
लोके किं न निमन्त्रयन् विगणयेत् साधून्साधून्पि ।
स्वान्ते वेत्ति स साधूकारकरणैरेते ज्युता अप्रदाः,
किन्त्वेतद्वरवक्तुकोशलकला किं दुर्वचैः सौष्ठवम् ॥

किसी ने पूछा—‘भीखणजी ! आप अन्य संप्रदाय के साधुओं को साधु नहीं मानते, फिर भी ये अमुक संप्रदाय के साधु हैं, ये अमुक संप्रदाय के साधु हैं, ऐसा क्यों कहते हैं ?’ स्वामीजी बोले—किसी के घर उत्सव होने पर गांव में निमन्त्रण दिया जाता है। निमन्त्रण देने वाला सेवक साहूकार या असाहूकार का भेद न करते हुए एक ही शब्दावली का प्रयोग करता है कि आपको निमन्त्रण है अमुक साहूकार का। वह मन ही मन जानता है कि कर्ज में लिए हुए रुपये न चुकाने के कारण वह दिवालिया है, फिर भी उसे शाह या साहूकार ही कहता है। यह लोक व्यवहार है, वाक् चातुर्य है, बोलने की कला है। दुर्वचन या ओछी बोली बोलने से क्या लाभ ?^२

३४. द्वाविंशत्यनुगामिनः सममुनीन् ब्रूते कथं चाऽमुनीन्,
भिक्षुन्यायमदात् तदीयलिखिताद् गच्छात् परादागतम् ।
साधुं यूयमहो मिथो नवनवां दीक्षां प्रदद्युः समे,
युष्माकं मततः परस्परमतो जाता असन्तः स्वयम् ॥

पादु में भीखणजी स्वामी और हेमराजजी स्वामी गोचरी के लिए जा रहे थे। इतने में सामीदासजी के दो साधु मलिन वस्त्र पहने, कंधों पर पुस्तकों का जोड़ा उठाए हुए, विहार करते हुए ‘भीखणजी कहां है ? भीखणजी कहां है ?’ यह कहते हुए आए। स्वामीजी ने कहा—‘मेरा

१. भिदु० १३७ ।

२. वही, ९८ ।

नाम है भीखण ।' तब वे बोले—'आपको देखने की मन में थी ।' तब स्वामीजी ने कहा—'देखो ?' वे बोले—सब बात अच्छी की, पर एक बात अच्छी नहीं की ।' स्वामीजी ने पूछा—'क्या ?' तब उन्होंने कहा—'हम बाईस संप्रदायों के साधु हैं उन्हें आप असाधु बतलाते हैं ।' स्वामीजी ने पूछा—'तुम किनके साधु हो ?' तब उन्होंने कहा—'हम सामीदासजी के साधु हैं ।'

स्वामीजी ने कहा—तुम्हारे संप्रदाय में ऐसा लिखत (विधान) है कि इक्कीस संप्रदायों में से कोई साधु तुम्हारे संप्रदाय में आए तो नई दीक्षा देकर उसे संप्रदाय में मिलाएं । ऐसा लिखत है, क्या तुम जानते हो ?'

वे बोले—'हां ! हम जानते हैं ।' स्वामीजी ने कहा—'इक्कीस संप्रदाय को तो तुम लोगों ने ही असाधु स्थापित कर दिया । गृहस्थ को दीक्षा देकर अपने में मिलाते हो उसी प्रकार उन्हें भी दीक्षा देकर अपने में मिलाते हो । इससे इक्कीस संप्रदायों को तुमने गृहस्थ के बराबर समझ लिया । इस दृष्टि से इक्कीस संप्रदायों को तुमने ही असाधु स्थापित कर दिया ।'

३५. व्यंग्यात् कश्चन ना परस्परशिरःसंस्फोटनार्थं जगौ,
मिक्षो ! ते ह्यमुकोऽमुकोत्यवगुणान् निष्काशयत्याह तम् ।
साधोयोऽनुदिनं च तान् कतिपयाज्जिष्कासयामि स्वयं,
कांश्चिन्निर्गमयेच्च सोऽद्यमयकैवं भाव्यमेवाऽमलम् ॥

किसी व्यक्ति ने परस्पर भिड़ाने की दृष्टि से व्यंग करते हुए कहा—
'भीखणजी । अमुक अमुक व्यक्ति आप में अनेक दोष निकालते हैं ।' भीखणजी बोले—'दोष निकाल रहे हैं, डाल तो नहीं रहे हैं ? यह अच्छा है । प्रतिदिन मैं स्वयं कुछेक दोषों को निकालता हूं और कुछ वे विरोधी लोग निकालते हैं । मुझे तो अवगुणमुक्त होकर पवित्र होना ही है ।''

३६. झष्टाः केन चणाः सते बितरणात तीर्षेशगोत्री ततः,
तत् त्यागी बितरेच्च किं ननु यतो हिंसामृते नो वृषः ।
ऊढः कोऽप्यभवत् सुताश्च यमितास्तस्माज्जिज्जनाख्याजंको,
रामाकामहरस्तया किमु न धर्मो व्यवायात् तथा ॥

हिंसाधर्मी (दृष्टान्त देते हुए) कहते हैं—हिंसा के बिना धर्म नहीं होता। दो श्रावक थे। उनमें से एक ने अग्नि के आरंभ का त्याग किया और दूसरे ने नहीं किया। दोनों ने चने खरीदे। जिसे अग्नि के आरंभ का त्याग नहीं था, उसने चनों को भून कर भूंगड़े बना लिए और जिसने अग्नि के आरंभ का त्याग किया था वह कोरे चने चबा रहा था। इतने में एक मास के उपवास के पारणे के लिए मुनिराज उसके घर पधारे। जिसे त्याग नहीं था, उसने भूंगड़े देकर तीर्थंकरगोत्र का बंध कर लिया और जिसे त्याग था वह देखता रह गया। वह क्या दान देता? इसका फलितार्थ है कि हिंसा से धर्म होता है, हिंसा के बिना धर्म नहीं होता।'

तब प्रत्युत्तर में स्वामीजी बोले—'दो श्रावक थे। उनमें से एक ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया और दूसरे ने अब्रह्मचर्य का त्याग नहीं किया। उसने शादी की। उसके पांच पुत्र हुए। उन्होंने धर्म का तत्त्व समझा। उनमें से दो वैरागी बने। पिता ने उन दोनों को हर्षोल्लास के साथ दीक्षा की स्वीकृति दी। बहुत हर्षोल्लास आया, उससे उसने तीर्थंकर गोत्र का बंध कर लिया। तुम हिंसा में धर्म कहते हो तो तुम्हारे मतानुसार अब्रह्मचर्य में भी धर्म होगा। तुम्हारे मतानुसार हिंसा के बिना धर्म नहीं होता तो अब्रह्मचर्य के बिना भी धर्म नहीं होता।' इस प्रकार उत्तर सुनकर वह हतप्रभ हो उत्तर देने में असमर्थ हो गया।'

३७. पुण्यं मिश्रधर्मं च किं भवति यत् सावद्यदानेष्वाति,

शंका पुंश्रयचेतसि व्यपगतौ दीक्षार्थिनः सन्ति ते ।

किं मौनेन तदोपदेशसमये वाच्यं यथार्थं फलं,

मौनं त्वय्यमदोन्तरायपतनात् तद्वर्तमाने हि यत् ॥

कुछ कहते हैं—'सावद्य दान के विषय में भगवान् ने मौन रखने के लिए कहा है। इसलिए केवल वर्तमान काल में ही नहीं, सदैव मौन रखना चाहिए, पुण्य या पाप नहीं कहना चाहिए।' इस पर स्वामीजी ने दृष्टान्त दिया—'तीन व्यक्ति थे। एक व्यक्ति सावद्य दान देने में पुण्य मानता था, दूसरा मिश्र धर्म मानता था और तीसरा पाप मानता था। इन तीनों ने एक संकल्प किया—'यह संदेह मिट जाए तो हम दीक्षा ग्रहण कर लेंगे।' अब इस संदेह को दूर करने के लिए वे साधुओं के पास गए। साधु मौन ही रहे तो उनका संदेह कैसे मिटेगा? उपदेश-काल में जैसा फल होता है, उसको बताना चाहिए। वर्तमान काल में मौन रखने का तात्पर्य है कि उससे अंतराय का प्रसंग होता है। अतः वर्तमान में मौन उत्तम है, अन्य काल में नहीं।'।

१. भिदु० २१० ।

२. वही, २८५ ।

३८. श्रद्धायां तव कोपि भिक्षुमलपत् प्रोढः प्रपञ्चस्तमाऽऽ-
चष्टे किं नहि काचकामलिभिरालोक्येत सद्यं समम् ।
संयावोऽपि विषोपमो ज्वरिनरं किं नो प्रतीयेत वा,
नीरोगस्य शरीरिणः स हि पुनः पीयूषतुल्योऽनुलः ॥

किसी ने भिक्षु से कहा — आपकी श्रद्धा, कपट और दम्भपूर्ण है ।
भीखणजी बोले — क्या पीलिये के रोग से ग्रस्त व्यक्ति को सारे पीले-पीले ही
नहीं देखते ? क्या अतुलनीय तथा अमृततुल्य हलवा, ज्वरग्रस्त मनुष्य को
विषतुल्य नहीं लगता ? वही हलवा नीरोग व्यक्ति को पीयूषतुल्य लगता
है ।^१ (वैसे ही मान्यता तो तुम्हारी दोषपूर्ण है और तुम आरोप हम पर
लगाते हो ।)

३९. भिक्षो ! ऽसंयतिदानदानविषये पापं कथं प्रोच्यते,
श्रेष्ठी कोपि सनीविको व्रजति तत् पृष्ठे पतत् तत्करः ।
तं वीक्ष्याशु ससारभीरुधनिकश्चोरोप्यधावत् ततो,
धावन् सोऽय पपात तं च पतितं दृष्ट्वा प्रसन्नो धनी ॥

४०. भ्रान्तोऽस्थात् कुलिकोऽध्वगे तरुतले तावद् विभिक्षो धनी,
तं स्रस्तं सलिलाऽहिर्फेनवशतः सज्जीवकार द्रुतम् ।
उत्थाय प्रथमं लुलुण्ट धनिनं दस्युस्तदानीं पर-
स्तत्प्रत्यर्थिसहायकत्वविधिना बंधैव बैरित्रकः ॥

४१. शत्रूणां च सहायकोऽपि नियतं शत्रुः समैर्गण्यते,
इत्थं संसृतिजन्तवो हि सकलाः षट्कायजीवाऽरयः ।
यच्चाऽसंयतिजीवनं धनवधाऽऽरम्भाश्रितं प्रच्छक !
तेषां पोषणतः कथं हि सुकृतं साक्षादऽसाक्षादपि ॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

किसी ने पूछा — 'भीखणजी ! आप असंयती जीव को दान देने या
उसका पोषण करने में पाप क्यों बतलाते हैं ?' भीखणजी बोले — एक सेठ
रुपयों की नौली लेकर जा रहा था । चोर ने उसे देख लिया । वह सेठ के पीछे
पड़ गया । सेठ ने चोर को देखा और वह भयभीत होकर भागने लगा । चोर
भी सेठ के पीछे-पीछे दौड़ने लगा । दौड़ते-दौड़ते चोर के ठोकर लगी और वह
नीचे गिर पड़ा । चोर को भूमि पर पड़ा देख सेठ बहुत प्रसन्न हुआ और आगे
चलता हुआ थकावट के कारण एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने बैठ गया ।

पीछे से एक अन्य सेठ आ रहा था । उसने गिरे हुए व्यक्ति को
अफीम, पानो आदि पिलाकर तैयार कर दिया । तैयार होकर चोर उठा

और वेग से चलकर, वृक्ष के नीचे बैठे हुए उस नौली वाले सेठ को लूट लिया। सेठ ने मन ही मन सोचा, जिसने इस चोर को सहयोग दिया है वह मेरा परम शत्रु है। शत्रु का सहायक भी निश्चितरूप से शत्रु ही गिना जाता है।

इस प्रकार असंयती प्राणी का जीवन धन, वध और आरंभ के अश्रित होता है। इसीलिए हे प्रच्छक ! संसार के सभी प्राणी षट्जीव-निकाय के शत्रु हैं। उनका साक्षात् या असाक्षात् पोषण धर्म कैसे हो सकता है।

४२. क्षान्तिःप्राक् विजयेन भिक्षुमुनिना निक्षेपचर्चा कृता,

रुष्टः प्राह पराजितो मुनिमदः श्यालस्य शीर्षं ध्रुवम् ।

छेत्स्ये तं मुदितोऽवदन् मम समा नार्यो भगिन्यः स्वतः,

श्यालः स्यात् परमुत्तमाङ्गलवनाऽऽकारोऽस्ति किं मे वद ॥

एक बार संवेगी मुनि क्षातिविजयजी ने आचार्य भिक्षु से कहा—
‘मैं आपसे निक्षेप विषय पर चर्चा करना चाहता हूँ।’ स्वामीजी ने चर्चा प्रारंभ की। भाव निक्षेप पर दोनों एकमत थे। नाम निक्षेप और स्थापना निक्षेप के विषय में चर्चाएं चलीं। एक अन्य प्रसंग में मुनिजी रुष्ट होकर भिक्षु से बोले—साले का शिर काट डालूंगा। तब भिक्षु ने मुस्कराते हुए कहा, संसार की समस्त स्त्रियां मेरी बहिनें हैं, अतः आपने विवाह किया है तो मैं आपका साला हूँ। परंतु एक बात स्पष्ट करें कि क्या दीक्षा लेते समय आपने मेरे शिरच्छेद का आगार रखा था ?

(पूरा घटना प्रसंग इस प्रकार है) —

एक बार स्वामीजी विहार करते करते काफरला गांव (मारवाड़) में पधारे। क्षातिविजयजी भी पीपाड़ के अनेक श्रावकों के साथ मन्दिर की प्रतिष्ठा के लिए वहां पधारे। उन्हें अनेक लोगों ने कहा—‘आप भीखणजी से चर्चा करें।’ एक दिन कुम्हारों के मोहल्ले में स्वामीजी जा रहे थे। सामने से वे भी आ गए। उन्होंने स्वामीजी से पूछा—‘तुम्हारा नाम क्या है ?’

स्वामीजी बोले—‘मेरा नाम भीखण।’

‘जो तेरापन्थी भीखणजी हैं, वे तुम ही हो ?’

‘हां, मैं वही हूँ।’

‘तुमसे निक्षेपों की चर्चा करनी है।’

स्वामीजी बोले—निक्षेप कितने हैं ?

वे बोले—निक्षेप चार हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

स्वामीजी ने पूछा—इनमें वंदना-भक्ति किन निक्षेपों की करनी चाहिए ?

क्षांतिविजयजी बोले—चारों ही निक्षेपों की वंदना-भक्ति करनी चाहिए ।

स्वामीजी बोले—एक भाव निक्षेप की हम भी वंदना-पूजा करते हैं । शेष तीन निक्षेपों की चर्चा रही । इनमें पहला नाम निक्षेप है । किसी कुम्हार का नाम भगवान रख दिया । उसे तुम वंदना करते हो या नहीं ?

वे बोले—उसको क्या वन्दना करें । उसमें प्रभु के गुण नहीं हैं ।

स्वामीजी बोले—गुणवाले को तो हम भी वंदना करते हैं ।

फिर स्वामीजी ने स्थापना निक्षेप के विषय में चर्चा शुरू की । उनको पूछा—रत्नों की प्रतिमा हो तो उसको वंदना करते हो या नहीं ।

वे बोले—वंदना करते हैं ।

फिर पूछा—सोने की प्रतिमा हो तो ?

वे बोले—वंदना करते हैं ।

चांदी की प्रतिमा हो तो ?

वंदना करते हैं ।

सर्वधातु की प्रतिमा हो तो ?

वंदना करते हैं ।

पाषाण की प्रतिमा हो तो ?

वंदना करते हैं ।

गोबर की प्रतिमा हो तो वंदना करते हैं या नहीं ? तब क्षांतिविजयजी क्रोध में आकर बोले—‘तुमसे निक्षेपों की चर्चा नहीं करेंगे । तुम तो प्रभु की आशातना करते हो, वह हमें अच्छी नहीं लगती ? यह कह वे वहां से चले गये । स्वामीजी भी अपने स्थान पर आ गए ।

एक दूसरे प्रसंग में क्षांतिविजयजी के साथ अंग-विषयक चर्चा हुई । आचारांग सूत्र की बात करते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा—

आचारांग सूत्र में ऐसा कहा है—‘धर्म के निमित्त जीवों को मारने में दोष नहीं है, यह अनार्य वचन है ।’ यह पाठ स्वामीजी ने दिखाया । तब क्षांतिविजयजी बोले—‘यह पाठ अशुद्ध है ।’ उन्होंने अपने उपाश्रय से अपनी प्रति मंगाई ।

स्वामीजी ने कहा—पढ़ो । उन्होंने परिषद् के बीच पढ़ने से आना-कानी की । उनके हाथ कांपने लगे ।

तब स्वामीजी बोले—तुम्हारा हाथ क्यों कांप रहा है ? चार कारणों से हाथ कांपता है—(क) कंपन वायु से, (ख) क्रोधवश, (ग) चर्चा में पराजित हो जाने पर तथा (घ) मैथुन के आवेश में ।

तब वे क्रोध के आवेश में बोले— 'साले का सिर काट डालूँ ।'

तब स्वामीजी बोले— 'जगत् की सभी स्त्रियां मेरी मां और बहिन के समान हैं । और यदि तुम्हारे घर में कोई स्त्री हो, तो वह मेरी बहिन होगी । यदि इस दृष्टि से 'साला' कहा है तो ठीक है और यदि तुम्हारे घर में स्त्री न हो और मुझे साला कहते हो, तो तुम्हें झूठ लगता है । दूसरी बात है— तुमने साधुपन स्वीकार किया तब छह काय के जीवों को मारने का त्याग किया था । तुम मुझे साधु भले ही मत मानो, पर कम से कम मैं त्रसकाय में तो हूँ । मेरा सिर काटने को कहा तो क्या साधुपन स्वीकार करते समय मुझे मारने की छूट रखी थी ?' यह सुन वे निरुत्तर हो गए ।'

४३. पृच्छेद् मुनिभिक्षुरित्यभिदधौ भोता सचित्रं गतः,

प्रत्युचे किमु भिक्षुरेव स भवान् ज्ञातो महाउम्बरी ।

किन्त्वाटोपलवोऽपि नो तव विभो ! वृष्टस्तमाह प्रभु-

स्तस्मादेव मुनित्वमिदमखिले पूजा प्रतिष्ठा च मे ॥

स्वामीजी पुर और भीलवाड़ा के बीच में थे । वहां बूँडार से आया हुआ एक आदमी मिला । उसने पूछा— 'आपका नाम क्या है ?'

'मेरा नाम भीखण है ।'

'ओह ! भीखणजी की महिमा तो बहुत सुनी है । फिर आप अकेले ही वृक्ष के नीचे कैसे बैठे हैं ? हमने तो जान रखा था कि आपके साथ बहुत आडंबर होगा, घोड़े, हाथी, पालकी आदि बहुत ठाटबाट होगा ।'

स्वामीजी बोले— हम ऐसा आडंबर नहीं रखते तभी हमारी महिमा है, पूजा-प्रतिष्ठा है ।'

४४. जग्गूगान्धिवरेण तेऽतिविमला श्रद्धा गृहीता ततः,

सर्वे खेदवहाः परं यवमुको घस्तेऽतिदुःखं ततः ।

स्वाम्युचे पतिपञ्चताश्रयतः साङ्गाः समे दुःखिताः,

लम्बां कञ्चुकिं तु धारयति तत्कान्तैव विज्ञायताम् ॥

संवत् १८४५ में पीपाड़ चातुर्मास में बहुत लोगों ने स्वामीजी के विचारों को स्वीकार किया । जग्गू गांधी ने स्वामीजी के विचारों को स्वीकार किया, तब वेषधारियों के श्रावकों को बहुत अखरा । उन लोगों ने कहा— भीखणजी । जग्गू ने आपके विचारों को स्वीकार किया, वह दूसरों को भी अखरा, किन्तु खेतसी लूणावत को बहुत अखरा । वह बहुत चिन्ता करता है ।'

तब स्वामीजी ने कहा—‘कोई परदेश में मर गया, उसकी खबर आने पर चिंता तो बहुत लोग करते हैं पर लंवी कैंचुली तो एक उसकी पत्नी ही पहनती है ।’

४५. चित्तं वस्तु च पात्रमित्यऽविकलं त्रिभ्यः शुभेभ्यो हि यत् ।

तद्दानं सुकृतं दयाऽपि च तथा न्यूनं न तद् व्यत्यये ।

खण्डाऽऽज्योत्तमपिष्टकाऽभवनतो गोमूत्रविद्भूसुता-

भोपाद् यद्यदसत्त्वतः^१ किमु कदा सञ्जायते सीरकः ॥

दानधर्म और दयाधर्म के स्वरूप को बतलाते हुए स्वामीजी ने कहा—चित्त, वस्तु और पात्र—तीनों के अविकल शुभ योग से ही दानधर्म व दयाधर्म की निष्पत्ति हो सकती है । तीनों में से एक के अभाव में अथवा उसके स्थान में किसी दूसरे विलोम पदार्थ के प्रक्षेप से निष्पत्ति संभव नहीं है । जैसे—हलुए की निष्पत्ति के तीन घटक होते हैं—चीनी, घी और आटा । मान लें घृत व आटा है पर चीनी नहीं है तो क्या चीनी के स्थान में धूल मिला देने से हलुआ बन सकता है ? ऐसे ही कहीं पर चीनी व आटा है पर घृत नहीं है, तो क्या घृत के स्थान पर गोमूत्र के योग से हलुआ बन सकता है ? ऐसे ही क्या आटे के स्थान पर गोबर डालने से भी हलुआ बन सकता है ? नहीं । चीनी, घृत और आटे के अविकल योग से ही हलुआ बन सकता है, अन्यथा नहीं । ठीक ऐसे ही चित्त, वस्तु और पात्र—इन तीनों के अविकल शुभ योग से ही दानधर्म की निष्पत्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं ।

४६. मंत्री भिक्षुमवोचत प्रमुखितः प्रश्नोत्तरेभ्यो वरं,

गेही स्याद्यदि वा तवा तु कतिचित् साम्राज्यसञ्चालकः ।

किं तेनाह मुनिर्ययात्मपतनं बुद्धिस्तु शस्या हि सा,

यज्जनेन्द्रमतानुशीलनपरा स्वात्मार्यसंसाधिनी ॥

स्वामीजी ने सिरियारी में चतुर्मास किया । जोधपुर नरेश विजयसिंहजी नाथद्वारा जा रहे थे । वर्षा के कारण सिरियारी में ठहरे । उनके कुछ उच्च अधिकारी वहां स्वामीजी के दर्शन करने आए और प्रश्न पूछने लगे । पहले मुर्गी हुई या अंडा ? पहले धान हुआ या अहरन ? पहले बाप हुआ या बेटा ? इत्यादि अनेक प्रश्नों के युक्तिसंगत उत्तर स्वामीजी ने दिए । तब वे अधिकारी प्रसन्न होकर बोले — ‘ये प्रश्न हमने बहुत स्थानों पर पूछे, पर ऐसे

१. भिदू० १७

२. यद् यद् असत्त्वतः—क्रमशः तत् तत् स्थाने—यथा खंडस्य स्थाने भूसुता, घृतस्थाने गोमूत्रं, पिष्टकस्य स्थाने गोविद् ।

उत्तर किसी ने नहीं दिए। आपकी बुद्धि तो ऐसी है कि आप गृहस्थ होते और किसी राजा के मन्त्री होते तो अनेक देशों का राज्य-संचालन करते।

तब स्वामीजी बोले—‘राज्य-संचालन की बुद्धि से क्या, जो आत्म-पतन की ओर ले जाती है? वही बुद्धि अच्छी है जो जिन धर्म की उपासना करती है और अपने आत्मार्थ को सिद्ध करती है।’

४७. व्याख्यानान् मुविता मुनेः सुमनसः प्राहुः परे धामत,
आयाताऽतिनिशा मुधेव यतिनां बातुं न तत् कल्पते ।
क्लिष्टानां महती नृणां लगति सा स्तोकापि तद्व्यत्यया-
वानन्दोदितगेहिनां मुनिपतिर्व्याख्यातवान् सुन्दरम् ॥

पीपाड़ में स्वामीजी का चातुर्मास था। आपका व्याख्यान सुनकर सज्जन व्यक्ति अत्यधिक प्रसन्न होते थे और विद्वेषी लोग अप्रसन्न होकर कहते—रात प्रहर से अधिक बीत गई है। साधु को प्रहर रात्री के पश्चात् जोर से बोलना नहीं कल्पता। स्वामीजी ने इसे एक दृष्टांत से समझाया—दुःखी को छोटी रात भी बड़ी लगती है और उत्सव आदि की आनन्दमयी रात्रियां छोटी लगती हैं। इसी प्रकार जिन्हें व्याख्यान अच्छा नहीं लगता, उन्हें रात बहुत बड़ी लगती है।^१

४८. व्याख्यानेऽभिनिवेशतः कतिपयाः कोलाहलं कुर्वन्ते,
स्वाम्युचे शुभसल्लरीरणरणः श्वानो न बुक्कन्ति किम् ।
इत्थं नृत्यकृतामरुद्धमनसामर्हत्समक्षेन कि,
देवा नर्तनतत्परास्तदिव मेऽप्रेऽमी च रद्धास्ततः ॥

(क) पीपाड़ के चातुर्मास में कुछ लोग आग्रहवश व्याख्यान नहीं सुनते, दूर बैठे कोलाहल करते। तब किसी ने कहा—‘भीखणजी! आप तो व्याख्यान देते हैं और ये निंदा करते हैं।’

तब स्वामीजी ने कहा—‘भांभ के बजने पर कुत्ते का स्वभाव रोने का होता है, पर वह यह नहीं समझता कि यह भांभ विवाह की है या शवयात्रा की। वैसे ही ये लोग व्याख्यान की ज्ञानवर्धक बातों को स्वीकार करने के बदले निन्दा करते हैं। इनका निन्दा करने का स्वभाव है।’

(ख) पर्युषण के दिनों में बावेचा लोगों ने इन्द्रध्वज की यात्रा निकाली। उन्होंने स्वामीजी के सामने बहुत समय तक खड़े रहकर गाय, बजाया और तानें मिलाई। तब कुछ श्रावक बावेचा लोगों से भगड़ा करने

१. भिदु० ११२।

२. वही, १८।

३. वही, १९।

लगे । स्वामीजी ने कहा—भगड़ा मत करो । इन्हें रोको मत, क्योंकि ये प्रतिमा को भगवान मानते हैं । ये या तो भगवान के समक्ष गाना-बजाना करते हैं या भगवान के साधुओं के समक्ष ।

तब बावेचा लोग बोले—भीखणजी हर बात को सम्यग्दृष्टि से ग्रहण कर लेते हैं । ऐसा कहते हुए वे आगे बढ़ गए ।^१

४९. नगनाऽननराः कतीह सुभिषग् ! ब्रूते गताक्षं तवा-

क्ष्युन्मेषं विदधे निभालय ततस्त्वं चैव तद्वद् वयम् ।

चिह्नज्ञानविधापकाः सदसतोः साधूनसाधूंस्ततः,

त्वं भो ! विद्धि तथा स्वयं नु कमहं संतं ह्यसंतं वदे ॥

किसी ने भिक्षु से पूछा—‘इतने संप्रदाय हैं । इनमें साधु कौन और असाधु कौन ?’

स्वामीजी बोले—‘किसी को आंखों से दिखाई नहीं देता था । उसने वैद्य से पूछा—शहर में नंगे कितने हैं और वस्त्र पहने कितने हैं ?’

वैद्य बोला—‘आंखों में दवा डालकर तुम्हारी दृष्टि में लौटा दूंगा, फिर तुम्ही देख लेना कितने नंगे हैं और कितने वस्त्र पहने हैं ।’

भिक्षु बोले—इसी प्रकार पहचान तो हम बतला देते हैं, फिर साधु कौन और असाधु कौन इसका निर्णय तुम स्वयं कर लेना । किसी का भी नाम लेकर असाधु कहने से वह भगड़ा करने लग जाता है । इसे ध्यान में रखकर साधु-असाधु के लक्षण तो हम बता देंगे, उनका मूल्यांकन तुम कर लेना ।^१

५०. निन्दामेव करोति भिक्षुरिह नस्तानाह कश्चित् पिता,

पुत्रं शिक्षयते निजापणगतः सत्साधुकार्यं त्वया ।

रक्ष्यं पृच्छति किं ह्यारक्षणतयाऽवक् स प्रतीपस्ततः

श्रुत्वा तादृगवक् परो ननु ममाऽसौ निन्दकस्ते तथा ॥

‘साधु का आचार बताया जाता है, उसे कुछ शिथिल आचार वाले निंदा मानते हैं’—इस पर स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—एक साहूकार ने अपने बेटे को शिक्षा देते हुए कहा—‘जिससे उधार ले, उसकी राशि लौटा देनी चाहिए । न लौटाने वाले को लोग दिवालिया कहते हैं ।’ उसका पड़ोसी दिवालिया था । वह यह सुनकर जलभून जाता है । वह कहता है—यह बेटे को शिक्षा नहीं दे रहा है, मेरी छाती को जला रहा है । इसी प्रकार कोई साधु का आचार बतलाता है, उसे सुनकर वेषधारी साधु जलभून जाता है और कहता है—यह मेरी निंदा कर रहा है ।^१

१. भिदु० ९५ ।

२. वही, ९९ ।

३. वही, ६० ।

५१. कः साधुः प्रतिवक्तयुपासधनदः सत्साधुकारस्तथा,

नीताभ्युभयतपालकः ससमितित्रिगुप्तिभिः स व्रती ।

नो वेषक्रमनामगच्छपटुतावक्तृत्वविद्याबल-

प्रख्यातिप्रतिभाप्रकाशपदमृत्सल्लेखकत्वादिकैः ॥

एक बार फिर किसी ने पूछा — इन (अमुक अमुक संप्रदायों) में साधु कौन और असाधु कौन ?

तब स्वामीजी बोले — किसी ने पूछा, शहर में साहूकार कौन और दिवालिया कौन ?

एक समझदार आदमी ने उत्तर दिया — ऋण लेकर लौटा देता है, वह साहूकार और ऋण को नहीं लौटाता तथा मांगने पर भगड़ा करता है, वह दिवालिया ।

इसी प्रकार पांच महाव्रतों को स्वीकार कर पांच समिति तथा तीन गुप्तियुक्त उसकी सम्यक् पालना करता है वह साधु और जो उनकी सम्यक् पालना नहीं करता वह असाधु है ।

केवल वेशभूषा, क्रांति, नाम, गच्छ, दक्षता, वक्तृत्वशक्ति, विद्या-विकास, प्रसिद्धि, प्रतिभा-प्रकाश, उपाधि तथा लेखन-निपुणता आदि बाह्य विशेषताओं मात्र से कोई साधु नहीं होता ।

५२. व्याख्यानं मुनिपस्य तात्त्विकतरं श्रोतुं समागच्छतो,

रोद्धन् भीजिनपालवज्जिनऋषिश्चद्वेयहेतूनदात् ।

भिक्षोर्दुष्टकथी द्विषां हि शिरसा वन्द्यो यथा भोजको,

वेधी पत्थरनाथनामकयकः पूर्वज्ञसारोऽभवत् ॥

(क) आचार्य भिक्षु के व्याख्यान तत्त्वज्ञान से ओतप्रोत होते थे । उन व्याख्यानों को सुनने के लिए आने वाले लोगों को अन्य लोग रोकते थे । उनको प्रतिबोध देने के लिए स्वामीजी जिनपाल और जिनरक्षित का उदाहरण प्रस्तुत करते थे । (एक बार जिनपाल और जिनरक्षित एक देवी के चंगुल में फंस गए । प्रसंगवश देवी ने बाहर जाते समय यह निर्देश दिया कि तीन दिशाओं में यथेष्ट घूमना, पर चौथी दिशा में मत जाना, क्योंकि वहां दृष्टिविष सर्प रहता है । यह बनावटी बात बताकर निषेध किया, क्योंकि वहां जाने पर देवी की सारी लीला सामने आ जाती । यही स्थिति तात्त्विक व्याख्यान सुनने का निषेध करने वालों की है ।)

(ख) आचार्य भिक्षु के कुछ विरोधी लोग ऐसे भी थे कि भीखणजी को दुष्ट बताने वाला उनका शिरमोड़ तथा वन्दनीय बन जाता था । इसको

लक्ष्य कर स्वामीजी ने कहा—कोई भोजक साधु का वेश बनाकर आया। लोगों ने पूछा—‘आप कहां से आ रहे हैं?’ ‘जंगल से।’ ‘आप किस टोले के हैं?’ ‘डूंगरनाथजी के टोले के।’ ‘आपका नाम क्या है?’ ‘मेरा नाम पत्थरनाथ है।’ ‘आप क्या जानते हैं?’ ‘मैं इतना जानता हूं कि बाईस अच्छे और तेरह छोटे।’ ‘ओह! आपने सब कुछ जान लिया। यह तो पूर्वो का सारभूत तत्त्व है।’ यों कहकर लोगों ने पत्थरनाथ को शिर झुका वन्दन किया।^१

५३. दम्भाद् वर्धयितुं स्वनाममहिमानं कोऽपि षष्ठव्रती,
प्राहोपोषितकं निदाघसमये धन्यस्त्वमीदृक्करः।
सोऽवग् बोऽस्ति च षष्ठभक्तकमतो मत्तोऽपि धन्यो भवा-
नित्यं कैतवतः प्रशंसयतकि स्वं तं च धिग् धिग् ध्रुवम् ॥

(अपनी महिमा बढ़ाने के लिए जो छलकपटपूर्वक बोलते हैं, उनकी पहिचान के लिए स्वामीजी ने यह दृष्टान्त दिया)—किसी ने बेला (दो दिन का तप) किया। वह अपने बेले की महिमा बढ़ाने के लिए उपवास करने वाले का गुणानुवाद करते हुए बोला ‘तू धन्य है! इस भयंकर गर्मी की मौसम में भी तूने उपवास किया है।’ तब उपवास करने वाला बोला—‘मैंने तो उपवास ही किया है, पर तुमने बेला किया है, तुम धन्य हो।’ इस प्रकार छलनापूर्ण वचन के द्वारा अपनी प्रशंसा कराने वाले को धिक्कार है।^२

५४. भिन्नाचारविचारसंस्कृतिवतां सद्बृत्तसद्भिः सदा,
किं शक्येत समन्वयो हि भवितुं स्याच्चेन्न कल्याणकृत्।
युष्माकं कुलजातिवंशमहतां लोकेऽप्यनाबाधतो,
नीचैर्जातिजुगुप्सितादिककुलैरैक्यं च शक्यं न यैः ॥

किसी व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा—आप साधु सभी एक क्यों नहीं हो जाते? भीखणजी बोले—‘सच्चरित्र वाले मुनियों का उनसे भिन्न आचार-विचार तथा संस्कृति वाले मुनियों का समन्वय कैसे हो सकता है? ऐसा हो भी जाए तो वह कल्याणकारी नहीं होता। तुम लोक में उत्तम वंश, कुल-जाति के महाजन लोग निम्न जाति तथा जुगुप्सित कुलों के साथ बिना रोक-टोक एक क्यों नहीं हो जाते? क्या ऐसी एकता संभव है?’^३

१. भिदू० १५१।

२. वही, २४६।

३. वही, २०६।

५५. व्याजह्ने तव हे मुने! ऽतिकठिना वाचां प्रयोगाः पुनः,
दृष्टान्ता अपि तं जजल्प मुनिराद् गम्भीरवाताऽऽमये ।
सूच्यङ्कैः किमु तत्र लोहफलकैर्जयित तच्छ्रान्तिता,
मिथ्यात्वं बहुमिभितं मृदुमयैर्नो ज्येति वाक्यैरिदम् ॥

एक श्रावक ने भीखणजी से कहा—‘आप दूसरों को समझाने के लिए
परुष भाषा और कठोर दृष्टान्तों का प्रयोग करते हैं। क्या यह उचित है।’

स्वामीजी बोले—किसी भाई के गंभीर बात का भयंकर रोग हो
गया। वह उस रोग को मिटाने के लिए सूईयों को गर्म कर दागता है, डाम
लगाता है पर रोग नहीं मिटता। उस रोग को मिटाने के लिए लोह की
छड़ी से दागना पड़ता है। वैसे ही मिथ्यात्व का महारोग मृदु वाक्यों या
दृष्टान्तों से नहीं मिटता। वह शांत होता है कड़े दृष्टान्तों और कठोर
वाणी से।’

५६. संबुद्धा अपि ये वदन्ति सरला भद्रा तु पृष्ट्वेतरेतान्,
लास्यामो यदि ते प्रसन्नमनसा वक्ष्यन्ति भिक्षुर्जगौ ।
सञ्जाते विशदेऽक्षिणी सुमिषजे तत् पारितोषादिकं,
दाता पञ्चजना यदा हि कथका नो चेन्न तत् किं वरम् ॥

कछेक ऋजु व्यक्ति भिक्षु से तत्त्व समझ लेने पर भी कहते—‘हम
श्रद्धा के विषय में दूसरों से पूछेंगे। वे यदि प्रसन्न होकर समर्थन देंगे तब हम
आपकी श्रद्धा स्वीकार करेंगे।’ उन व्यक्तियों को लक्ष्य कर स्वामीजी
बोले—‘एक वैद्य ने किसी आदमी की आंखों की शल्य-चिकित्सा की। आंख
के ठीक होने पर वैद्य ने पुरस्कार मांगा तब उसने कहा—मैं पंचों को
पूछूंगा। यदि वे कहेंगे कि तुम्हें दीखने लग गया है, तब मैं पुरस्कार दूंगा,
अन्यथा नहीं। क्या यह उचित है?’

५७. मुग्धा केऽपि वदन्ति भिक्षुगणिनं श्रष्टव्रता अप्यहो !,
मत्तस्तु प्रवरा इमे हि यतयो लोचादिकष्टक्षमाः ।
तान् प्रत्याह महाधमर्णं मनुजः किं साधुकारोत्तमः,
क्वात्ताणुव्रतपालकाः क्व च धृतैर्ध्वस्ता महासद्व्रतैः ॥

१. भिदु० ६९ ।

२. वही, ८० ।

३. अधमर्णः—ऋणी, कर्जदार ।

कुछेक भोले लोग स्वामीजी से कहते—ये साधु अपने त्रुतों से भ्रष्ट हैं, फिर भी ये हमारे से तो अच्छे ही हैं, क्योंकि ये लोच आदि बहुविध कष्ट सहन करते हैं। उनको स्वामीजी कहते—अपना कर्जा न चुकाने वाला क्या कभी अच्छा साहूकार हो सकता है ? कहां तो स्वीकृत अणुव्रतों की परिपालना करने वाला श्रावक और कहां स्वीकृत महाव्रतों को तोड़ने वाला मुनि ! उस मुनि से तो वह श्रावक ही श्रेष्ठ है ।^१

५८. तुल्याः सन्त इमे श्लथत्वरमणाः श्राद्धास्तथोत्साहकाः,

कर्तारः परिवेषकाश्च सकला भोक्तार एवान्धकाः ।

अङ्गाराशनमम्बुवाधितनिशा कृष्णं ह्यमत्रं तदा,

कालं कङ्कटकं हि वर्यमिह किं सर्वं हि कृष्णायते ॥

जिनका आचार त्रुटिपूर्ण है और मान्यता भी त्रुटिपूर्ण है, वैसे मुनि तथा उनको प्रोत्साहन देने वाले श्रावक—दोनों समान हैं। वे साधु-श्रावक कैसे हो सकते हैं ?

स्वामीजी बोले—कोयलों की 'राब' बनाई। उसे काले बर्तन में पकाया। अभ्राच्छादित अभावस की काली रात। अन्धे ही खाने वाले और अन्धे ही परोसने वाले। वे खाते हैं और एक-दूसरे को सावधान करने के लिए कहते हैं—'खबरदार ! कोई काली चीज खाने में न आ जाए। काली चीज को टाल देना।' पर कोन क्या टाले ? सब कुछ काला ही काला है। इसी प्रकार जिनकी मान्यता और आचार की कोई यथार्थता नहीं है, वे साधु और श्रावक कैसे होंगे ?^२

५९. भिल्लाः स्वावसथे समुज्ज्वलगृहाऽभावाद् वरागन्तुक-

दौविध्याद् विधवां विधाय गरुडीं सद्ब्राह्मणीं कृत्रिमाम् ।

तां पाकाय ररक्षुस्तमविधेरेकान्तपाकालये,

यत् किञ्चित् समिताज्यदालिमरिचाद्यैः सर्वसामग्र्यतः ॥

६०. भुक्तेः कंश्च चतुर्महाजनजनैः सा श्लाघिता संजगौ,

स्याद् वा चर्मप्रभेदिका यदि बहुस्वादूभवेत् किं ततः ।

दन्तैः कच्चरिका हता इति रवैः स्थालीं क्षिपन्तस्तथा,

प्रोक्ता मा त्वियमस्ति दूम इति नुर्वाग् याचिता नः कृते ॥

१. भिदू० ६७।

२. वही, १७३।

३. नुः इति नरस्य।

६१. तच्छाकव्यं पुनर्मृशं प्रकुपिताः सर्वेऽपि ते ह्यध्वगा,
 व्याचक्षुस्त्वयका वयं कथमहो संश्रिताः का वद ।
 सा भीता निजरूपमाह निखिलं तद्वक्त्रं ये वेविणी,
 भव्यान् संशयितुं समुद्यततरा छ्रष्टाः स्वयं सद्गुणैः ॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

किसी ने पूछा—भीखणजी ! ये भी धोवन का पानी और गर्म पानी पीते हैं, साधु का वेष रखते हैं, लोच कराते हैं, फिर ये साधु क्यों नहीं ? तब स्वामीजी बोले—ये बनी-बनाई ब्राह्मणी के साथी हैं। उन्होंने पूछा—वह बनी-बनाई ब्राह्मणी कैसे ?

स्वामीजी बोले—मेर जाति (भिल्ल जाति) के लोगों का एक गांव था। वहाँ कोई उच्च जाति का घर नहीं था। जो भी महाजन वहाँ आता है, वह दुःख पाता है। उन महाजनों ने 'मेरो' से कहा—यहाँ कोई उच्च जाति का घर नहीं है। हम तुम्हें ऋण देते हैं। उच्च जाति के घर के बिना भोजन-पानी की कठिनाई होती है।

तब 'मेर' लोगों ने शहर में जाकर महाजनों से कहा—'आप हमारे गांव में बस जाएं। हम आपका सम्मान करेंगे, सुरक्षा करेंगे।' पर वहाँ कोई आया नहीं।

उस समय एक ठेठ जाति के लोगों का गुरु मर गया था। उसकी पत्नी को मेरों ने ब्राह्मणी बनाया। उसे ब्राह्मणी जैसे कपड़े पहना दिए। उसके लिए स्थान बनाया और तुलसी का पौधा रोपा। स्थान की चूने से पुताई की। मेरणियों ने उस घर को ब्राह्मणी के घर जैसा बना दिया। उसके घर में दो रुपये के गेहूं, अठन्नी के मूंग और एक रुपये का घी रख दिया। उसे कहा—'जो महाजन आए, उससे पैसे ले, रोटियां बना, उसे खिलाया कर।' अब उस गांव में कोई महाजन आता तो मेर लोग उसे उस ब्राह्मणी का घर बतला देते।

एक बार चार व्यापारी बहुत दूर से चलते, थके-मांदे वहाँ आए। उन्होंने मेरों से कहा—कोई उच्च जाति का घर हो तो बताओ। तब उन्होंने ब्राह्मणी का घर बता दिया। व्यापारी आकर बोले—'बहिन ! हमें भोजन करना है।' तब उसने गेहूं की मोटी-मोटी रोटियां बना, गाय के घी से चुपड़ा। दाल बनाई, उसमें काचरी डाली। वे व्यापारी खाते समय भोजन की बहुत प्रशंसा करते हुए कहने लगे—'हमने अनेक गांवों में भोजन किया है, पर ऐसा स्वादिष्ट भोजन कहीं भी नहीं किया। दाल कैसी स्वादिष्ट बनी है ! उसमें काचरी डालने से उसका स्वाद दुगुना हो गया है।'।

तब वह ब्राह्मणी बोली—‘भाई ! काचरी के स्वाद का तो तब पता चलता जब मैं उसे चाकू से छीलती ।’

वे बोले—‘छुरी नहीं थी तो काचरी को किससे छीला ?’

वह बोली—‘दांतों से छील-छील कर दाल में डाली है ।’

तब व्यापारी बोले—‘अरे पापिनी ! तुमने हमको भ्रष्ट कर दिया ।’ वे थाली को उठा कर पटकने लगे । तब वह बोली—‘रे भाई ! थाली को तोड़ मत देना । मैं उसे डोम से मांग कर लाई हूँ ।’

व्यापारी बोले—‘तुम किस जाति की हो ?’

वह बोली—‘मैं बनी बनाई ब्राह्मणी हूँ । मैं जाति से तो डेढ़ हूँ । ‘मेरे’ लोगों ने मुझे ब्राह्मणी बनाया ।’ उसने आदि से अन्त तक पूरी बात सुनाई ।

भीखणजी स्वामी बोले—इसी प्रकार ये धोवन पानी और गरम पानी पीते अवश्य हैं पर वे स्वयं सद्गुणों से भ्रष्ट हैं तब भव्य मनुष्यों को भी पवच्युत कर रहे हैं । ये बनी बनाई ब्राह्मणी के साथी हैं ।’

६२. श्रीऋषाभ्यनि सर्वपाप्यनुगुणान् पूज्य प्रतिष्ठा मता,
तेऽन्ये निगुणपूजका विनमतात् धन्यान एवाऽखिलाः ।
नैक्यं च्युतसद्गुणं न लभते साधुत्वस्तेभास्वयं,
प्राप्ता किं न विडम्बना परकृता सा कृत्रिमा ब्राह्मणी ॥

जैन परम्परा में गुणों के पीछे पूजा और प्रतिष्ठा मानी गई है । जैन परम्परा से भिन्न सभी मत-मतान्तरों में निर्गुण की पूजा-प्रतिष्ठा होती है । जो सद्चारित्र से च्युत हो गए हैं उनमें साधुता शोभा नहीं पाती । क्या वह साधुता उस बनी बनाई कृत्रिम ब्राह्मणी की भांति विडम्बना को प्राप्त नहीं होती ? अवश्य होती है ।

६३. ज्ञाताऽज्ञाततया बहिस्तनविधा जाता ह्युपतास्तु ते,
शोभ्याः संस्कृतिभिः परं प्रकृतितोऽमुदाः कथं शुद्धिगाः ।
विप्राः स्युर्विशदा दयं त्विह परं गाजीसमुल्लाखिदाः,
किं शुद्धयन्ति समूलतोऽतिविकृता अप्राप्ततत्त्वास्तथा ॥

ज्ञात या अज्ञात रूप से बाहर से आई हुई अशुद्धि संस्कारित विधि से मिटाई जा सकती है । परन्तु जो प्रकृति से ही अशुद्ध हों, वे विशुद्ध ब्राह्मण कैसे हो सकते हैं ? हम तो मूलतः विशुद्ध हैं परन्तु तुम्हारे द्वारा प्रदत्त भोजन खाने से अपवित्र हो गए । परन्तु गाजीखां, मुल्लाखां की भांति जो मूलतः

अशुद्ध हैं, अपवित्र हैं, उनकी शुद्धि कैसे हो सकती है ? इसी प्रकार जिन्हें सही तत्त्व प्राप्त नहीं है तथा जो सम्यक्त्व से विकल हैं, उनकी कैसी शुद्धि ? पूरा कथानक इस प्रकार है—

एक ब्राह्मण अपनी पत्नी के साथ परदेश गया । वहाँ ब्राह्मण ने बहुत धन कमाया । कुछ समय बाद ब्राह्मण मर गया । तब ब्राह्मणी एक पठान के घर में चली गई । उसके दो पुत्र हुए । एक का नाम रखा गाजीखाँ और दूसरे का नाम रखा मुल्लाखाँ । कुछ समय बाद वह पठान भी मर गया । तब ब्राह्मणी धन और पुत्रों को ले अपने देश लौट आई । उसके धन को देखकर सगे-सम्बन्धी इकट्ठे हुए । ब्राह्मणी ने अपने लड़कों को यज्ञोपवीत दिलाने के लिए भोज का आयोजन किया और बहुत ब्राह्मणों को भोजन करवाया । यज्ञोपवीत के समय उसने अपने पुत्रों को पुकारा—‘आओ बेटे गाजीखाँ ! आओ बेटे मुल्लाखाँ !’

ये नाम सुनकर ब्राह्मण क्रुपित होकर बोले—अरे ! ये क्या नाम ? ब्राह्मणों के नाम ऐसे नहीं होते । गाजीखाँ, मुल्लाखाँ तो मुसलमानों के नाम हैं । वे रोष में आकर बोले—सच बता, ये किसके पुत्र हैं ? यदि सच नहीं बताया तो तुम्हें मारेंगे और हम भी मरेंगे । तब वह बोली—मारो मत ! मैं सच-सच बता देती हूँ । तब उसने सारी बात उन्हें बता दी और कहा—ये पठान से उत्पन्न हुए हैं । तब ब्राह्मण बोले—हे पापिनी ! तुमने हमें भ्रष्ट कर दिया । अब हम गंगाजी में नहा, उसकी मिट्टी का लेप कर शुद्ध होंगे । तब वह बोली—‘भाई ! इन दोनों बच्चों को भी साथ ले जाओ और शुद्ध कर दो । लौटने पर मैं तुम सबको ब्रह्मभोज दूंगी ।’ तब ब्राह्मण बोले—‘ये तो पठान से उत्पन्न होने के कारण मूलतः अशुद्ध हैं । ये शुद्ध कैसे होंगे ? हम तो मूलतः शुद्ध हैं । तुम्हारा अन्न खाया इसीलिए तीर्थयात्रा कर शुद्ध होंगे । पर ये मूलतः अशुद्ध हैं, फिर इनकी शुद्धि कैसी ?’

भीखणजी स्वामी ने कहा—किसी साधु को दोष लगता है तो वह प्रायश्चित्त कर शुद्ध हो जाता है । पर जो मूल से ही मिथ्यादृष्टि हों, जिनकी श्रद्धा विपरीत हो वे गाजीखाँ और मुल्लाखाँ के साथी हैं । वे शुद्ध कैसे होंगे ?’

६४. भोज्यैः स्वर्णसमर्पणैश्च कुहकैरन्ध्रप्रभक्ताः समं,
नीता प्राहितलोष्टवः स्वभिहितास्त्याग्या न कैस्त्याजिताः ।
ते दूर्गं प्रति योजिता जहति नो निघ्नन्ति तैर्वारकान्,
वुस्तर्कान् कुमतापितान् कति तथा मुञ्चन्ति नो बोधिताः ॥

कुछ व्यक्ति कुमतियों के द्वारा इस तरह से बहका दिए जाते हैं कि वे समझाए जाने पर भी अपने कदाग्रह को छोड़कर सन्मार्ग में नहीं आते। इस पर स्वामीजी ने अन्धे भक्तों के पत्थरों का दृष्टांत दिया—

किसी मठ में दस-बारह सूरदासजी महाराज रहते थे। भक्तों की भेंट में आए हुए पैसों के द्वारा बाबों ने मोहरें इकट्ठी कर लीं। किसी के पास २०, किसी के पास ३०, ४०, ५०—ऐसे मोहरें इकट्ठी हो गईं। प्रतिदिन मोहरें गिनते हुए बाबों को किन्हीं ठगों ने देख लिया और उन्हें हड़पने के लिए उनके मुंह में पानी भर आया। उन्होंने तीर्थयात्रियों का सांग बनाया। चार-पांच गाड़ियां तथा पूजा-पाठ की सामग्री व्यवस्थित रूप से साथ में ली एवं सूरदास महाराज वाले मठ में विश्राम लिया। संतों के दर्शन किए एवं अपने यहां महाप्रसाद लेने का आग्रह किया। भक्तों के मनुहार पर बाबों ने स्वीकृति दे दी। खीर-जलेबी का भोजन परोसा गया। भोजनोपरांत सब बाबों को एक-एक मोहर दक्षिणा में भेंट की गई एवं निवेदन किया गया कि हम सब लोग तीर्थयात्रा करने के लिए जा रहे हैं, यदि आप लोगों की भी तीर्थयात्रा करने की इच्छा हो तो हमारे साथ चलें। हमारे साथ में भोजन आदि की भी समुचित व्यवस्था है अतः आपको किसी भी प्रकार का कोई कष्ट नहीं होगा और आप लोगों के साथ में हौने से संत-दर्शन तो होते ही रहेंगे और साथ-साथ निरन्तर संत-समागम का सुअवसर भी प्राप्त होता रहेगा।

भक्तों की इस विनम्र प्रार्थना से सूरदास बाबों का दिल द्रवित हो गया। तीर्थों की पावन यात्रा, मधुर व स्वादु भोजन एवं भोजनोपरान्त निरन्तर दक्षिणा। सारे बाबा लोग तैयार हो गए और साथ में मोहरों वाली नौलियां भी ले लीं। ठगों ने जब देखा कि मोहरें बाबों के साथ में हैं तो उनके दिल खुशी से उछलने लगे और वे बाबों को साथ ले वहां से रवाना हो गए। बीस-तीस कोस की मंजिल तय हो जाने के बाद एक पहाड़ की चढ़ाई सामने आ गई। ठग भक्तों ने कहा—‘सूरदासजी महाराज ! यहां से दो रास्ते हैं—एक घुमावदार रास्ता है और दूसरा ऊंची चढ़ाई वाला सीधा। गाड़ियां, सारा सामान एवं सशस्त्र पहरेदार तो घुमाव वाले मार्ग से जायेंगे और खाली आदमी सीधे रास्ते से जायेंगे। अतः आपको भी सीधे रास्ते से चलना पड़ेगा। बस, बात इतनी-सी है कि जोखिम की चीज आप पास में बिल्कुल मत रखना। क्योंकि पहाड़ी मार्ग में चोर-लुटेरों का भय तो बना ही रहता है। ऐसा सुन बाबों ने कुछ चिन्तन-मनन के बाद अपनी सारी नौलियां वगैरह गाड़ियों में रख दी एवं आश्वस्त होकर पहाड़ी मार्ग में चलने लगे। कुछ दूर चलने पर ठग-भक्तों ने कहा—सूरदासजी महाराज ! आगे मार्ग में आपको गुमराह करने वाले घूतें लोग बहुत मिलेंगे, उनकी आप एक भी मत

सुनना और इस पगडंडी को मत छोड़ना । वे धूर्त आपको धोखा देने के लिए कहेंगे, सूरदासजी महाराज ! यह मार्ग नहीं, उत्पथ है । आगे बड़ी-बड़ी खाइयाँ हैं, आप गिर जायेंगे । इस प्रकार की इन बातों पर आप बिल्कुल भी ध्यान न देते हुए आगे बढ़ते रहना एवं ऐसे दुष्टों को मारने के लिए आप अपनी भोली में ये पत्थर रखना व बोलने वाले की आवाज के अनुसार पत्थर फेंकते रहना । यों कहकर कुछ दूर तक ठग-भक्त साथ में रहे फिर उत्सर्ग आदि के मिस से इधर-उधर होकर नौ-दो ग्यारह हो गए । अन्धे बाबा एक के पीछे एक चलने लगे । ज्यों-ज्यों आगे बढ़े संकड़ी पगडंडी व उबड़-खाबड़ मार्ग आता गया । पर भक्तों की वाणी पर विश्वस्त बाबों को इस दुर्गम पथ का कोई भी विचार नहीं आया । उन पहाड़ों में ईंधन आदि लेने के लिए आए हुए लकड़हारों ने आवाज लगाई — 'सूरदासजी महाराज ! आगे मत आइये ! आगे रास्ता नहीं है, आगे बड़ी-बड़ी खाइयाँ हैं । आप गिर जायेंगे व मर जायेंगे ।' पर बाबों ने इस तरह की आवाज लगाने वालों को, ठग भक्तों के बतलाए गए संकेतों के अनुसार, लुटेरे समझ भोली में डाले हुए पत्थरों से उन पर वार करना प्रारम्भ कर दिया । बाबों के इस विलोभ व्यवहार को देख उन लकड़हारों ने बोलना बंद कर दिया एवं उपेक्षा भाव बरतने लगे । अन्त में बाबे भटक गए और एक-एक कर खाइयों में गिरकर मर गए ।

इसी प्रकार सम्यक् ज्ञानचक्षु रहित लोगों को उन्मार्गानुयायी अपने कुतर्क इस प्रकार पकड़ा देते हैं कि वे समझाये जाने पर भी नहीं समझते ।

६५. गन्ध्यां भ्रान्तमुनेनिघापनतया धर्मस्तदा गर्दभा-

रोहैरप्यनगारिणां समुच्चितात् तुल्यं भवेत् तद् द्रव्यम् ।

त्यागं कारवतु ह्यसंयमवतां दानस्य भिक्षुस्तक-

मप्राप्नोत् किमस्तद्विद्याऽशुभघिया वाऽऽकर्ण्य स ब्रीडवान् ॥

(क) किसी ने पूछा—जंगल में कोई साधु थक गया । सहज भाव से कोई बैलगाड़ी आ रही थी । उस बैलगाड़ी पर साधु को बिठाकर गांव में लाया गया, उससे क्या हुआ ?

स्वामीजी बोले—बैलगाड़ी नहीं, किन्तु सवारी के गधे आ रहे थे । उन पर बिठा साधु को गांव में लाया गया, तब उसको क्या हुआ ?

तब वह बोला—गधे की बात क्यों करते हैं ?

तब स्वामीजी बोले—तुम बैलगाड़ी में बिठाकर लाने में धर्म कहते

हो तो गधे पर बिठाकर लाने में भी धर्म होगा। साधु तो उन दोनों की ही सवारी नहीं कर सकता।'

(ख) किसी ने कहा—'महाराज ! मुझे असंयती को दान देने का त्याग कराओ।'

स्वामीजी बोले—'तुमने मेरे वचनों पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि की है इसलिए शुभ भावना से त्याग कर रहे हो या मुझे वदनाम करने के लिए असद्वृद्धि से त्याग कर रहे हो ?'

यह सुनकर वह लज्जित होकर चला गया।'

६६. वेषी कोऽपि जजल्प मह्यमधुना चर्चा भवान् पृच्छतु,
तं पप्रच्छ मुनीश्वरो वब तवा सञ्ज्ञी ह्यसञ्ज्ञी त्वक्म् ।
सञ्ज्ञी केन नयेन इत्यनुयुजाऽसञ्ज्ञीत्यवक् को नय-
स्तन्नो द्वावपि केन इत्युचिततो मुनिं च दत्त्वा गतः ॥

उदयपुर में स्वामीजी के पास एक साधु आया और बोला—'मुझे आप प्रश्न पूछें।'

स्वामीजी बोले—'तुम हमारे स्थान पर आए हो, फिर क्या प्रश्न पूछें ?'

वह बोला—'कुछ तो पूछें।' स्वामीजी ने पूछा—'तुम संज्ञी हो या असंज्ञी ?' 'मैं संज्ञी हूँ।' 'तुम संज्ञी हो, इसका न्याय (प्रमाण) बताओ।' 'नहीं, नहीं, मैंने गलत कह दिया, उसके लिए 'मिच्छामि दुक्कडं'। मैं असंज्ञी हूँ।' स्वामीजी ने फिर पूछा—'तुम असंज्ञी हो उसका न्याय बताओ।' वह बोला—'मिच्छामि दुक्कडं'। मैं न संज्ञी हूँ, न असंज्ञी हूँ।' स्वामीजी ने फिर पूछा—'संज्ञी-असंज्ञी दोनों नहीं हो, यह किस न्याय से ? तब वह रोष में आकर जाते-जाते स्वामीजी की छाती पर मुक्के का प्रहार कर चला गया।'

६७. 'लोया' इत्यभिधं जहार भषणश्चैकं तदेकं तवा,
तत् पृष्ठे प्रति धावतः प्रपतनान्नाष्टं करस्थं च्युतेः ।
एकं वह्निर्दूचीषमेकमहरन् मार्जारं एकं पुन-
रेवं चैकमहाव्रते विगलिते पञ्चापि तद्वत् तथा ॥

१. भिद्य० १५३।

२. वही, ११८।

३. वही, ४७।

किसी ने पूछा—भीखणजी ! आप कहते हैं, एक महाव्रत के खण्डित हो जाने पर पांचों ही महाव्रत खण्डित हो जाते हैं, यह कैसे ? भिक्षु ने कहा—एक भिक्षाचर को शहर में घूमते हुए पांच रोटी का आटा मिला । वह रोटी बनाने लगा । एक रोटी सेंक कर उसने चूल्हे के पीछे रखी, एक रोटी तवे पर थी, एक रोटी अंगारों पर सेंक रहा था, एक रोटी का लोंदा हाथ में था, एक रोटी का लोंदा कंठी में था । उस समय एक कुत्ता आया । वह कंठी में पड़े हुए एक रोटी के आटे के लोंदे को ले गया । उस कुत्ते के पीछे वह भिखारी दौड़ा । वह लड़खड़ा कर नीचे गिर गया । उसके हाथ में आटे का लोंदा था, वह धूल में मिल गया । वापस आकर देखा, तो जो रोटी चूल्हे के पीछे रखी थी, वह बिल्ली ले गई, जो तवे पर थी वह तवे पर ही जल गई तथा जो अंगारों पर थी, वह अंगारों पर ही जल गई । इस प्रकार एक महाव्रत के खण्डित होने पर पांचों ही महाव्रत खण्डित हो जाते हैं ।^१

६८. आस्तां रक्षणमङ्गिनां यदि वधस्त्वसो न तत् स्याद् वरं,

साहोदानवयानिरूपणतया हिंसाप्रवृद्धिर्यतः ।

रात्रौ चौर्यकरः कथं स विवसेष्वारक्षिकां मार्गये-

ज्जह्याच्चौर्यमिदं तदातिकुशलं चास्तां तवारक्षिका ॥

प्राणियों की रक्षा करना तो दूर रहा, तुम प्राणियों का वध करना छोड़ दो, यही श्रेष्ठ है । तुम सावद्य दान-दया का निरूपण करते हो, उससे हिंसा बढ़ती है ।

एक चौकीदार चौकीदारी छोड़ रात में चोरियाँ करने लगा । वह लोगों को कहता—मुझे चौकीदारी के पैसे दो । लोगों ने कहा—तुम्हारी चौकीदारी रहने दो, कम-से-कम तुम चोरी करना छोड़ दो । यही अच्छा है ।^१

६९. पृष्टाः प्राहुरिहास्ति मौनमथवा तन्मौनमेवेङ्गितं,

नो चेत् तत्प्रतिषेधपापवचनं ब्रूयुनं किं स्पष्टतः ।

तौष्ण्यं तु न्यगऽमत्रकाऽपसरणाऽनुष्ठानमाधाय यत्,

पार्थक्येन विराजमानवदऽहो ! ते भ्रान्ति तादृग्विधौ ॥

सचित्त आदि का दान देने में पुण्य या मिश्र की मान्यता वाले जो मुनि हैं, उन्हें यदि पूछा जाए कि सचित्त आदि देने में क्या होता है तो वे कहते हैं कि इस सम्बन्ध में हमारे मौन है । वास्तव में उनका यह मौन

१. भिदु० ४१ ।

२. वही, ६५ ।

षट्काय के जीवों की हिंसा का संकेत है। यदि उनका यह मौन सचित्त आदि देने का संकेत नहीं है तो उसका वर्तमानेतरकाल में प्रतिषेधात्मक 'पाप' शब्द का स्पष्ट रूप से उच्चारण क्यों नहीं करते ? अहो ! यह आश्चर्य की बात है कि इस प्रकार से उनका यह मौन नीचे के बर्तन को खींच कर अलग हो जाने वाले की तरह ही है, जो कि पुण्य या मिश्र का संकेत भी दे दे और अपने को उससे अलग भी प्रमाणित कर दे।

७०. पाशं गेहिगलस्य मुञ्चति न यः पापी स तं स्वाम्यवक्,
त्वं च त्वद्गुरुरेति कोऽपनयते सोप्याह नो मद्गुरुः ।
त्वद्वाग्भिः किमु ते गुरुर्वद तथा रद्धोऽभवत् पृच्छको,
यत्कार्यं ह्यनुमोक्षमेव न सतां निर्मीयते तत्कथम् ॥

स्वामीजी के पास भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोग चर्चा के मिस आते रहते थे। कई जिज्ञासा लिए हुए, कई उन्हें नीचा दिखाने के लिए, कई राग-द्वेष के वशीभूत होकर आते थे। प्रतिभा के धनी स्वामीजी उन्हें अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि से ऐसा युक्ति-पुरस्सर प्रत्युत्तर देते कि फिर उन्हें आगे कुछ बोलने का अवकाश भी नहीं मिल पाता।

पाली में स्वामीजी के पास एक भाई आया और द्वेषाभिभूत होकर अंट-संट बोलते हुए कहने लगा—आपके श्रावक ऐसे दुष्ट हैं कि किसी के गले में फांसी लगी हुई हो तो उसके गले से फांसी नहीं निकालते। तब स्वामीजी बोले—भाई ! किसी ने हरे वृक्ष पर फांसी ले ली। उधर से दो व्यक्ति जा रहे थे। दोनों ने उसको देखा। उनमें से एक ने तत्काल उसकी फांसी निकाली और एक ने उपेक्षा की। अब तुम बतलाओ, फांसी निकालने वाला कैसा और न निकालने वाला कैसा ? तब वह बोला—‘फांसी निकालने वाला महाउत्तम पुरुष, मोक्षगामी, देवलोकगामी, दयावंत आदि-आदि और नहीं निकालने वाला महापापी, महादुष्टी एवं नरक में जाने वाला आदि-आदि।’ तब स्वामीजी ने फरमाया—संयोगवश मान लो तुम और तुम्हारे गुरु—दोनों कहीं जा रहे थे। उसी मार्ग में किसी ने हरे पेड़ पर फांसी ले रखी हो, तो बतलाओ, उस हरे पेड़ पर फांसी पर लटके व्यक्ति की फांसी कौन निकालेगा ?’ तब उसने कहा—‘महाराज ! फांसी तो मैं ही निकालूंगा।’ स्वामीजी ने पुनः पूछा—‘तुम्हारे गुरु निकालते हैं या नहीं ?’ तब वह बोला—‘वे कैसे निकालेंगे ? वे तो साधु हैं।’ तब स्वामीजी ने फरमाया—मोक्ष और देवलोक जाने वाले तो तुम ठहरे और तुम्हारी मान्यता के अनुसार नरक जाने वाले तुम्हारे गुरु ठहरे। यह सुन इस प्रश्न का अपने पास में कोई समाधान न देख, वह व्यक्ति मन ही मन लज्जित होता हुआ चुप हो गया।

भिक्षु ने कहा—‘मुनि जिसका अनुमोदन भी नहीं कर सकता, वह उस कार्य को कैसे करेगा ?’

७१. किं मेऽभूदऽजरक्षणां मुनिभिरङ्गुर्यौ यदुर्ध्वोक्ते,
कोप्युत्तारयते ऋणं तदपरः कुर्याच्च तातो हि कम् ।
सन्ध्याच्चेद्वृणकारकं तदिव यन्निरवद्यकास्यतो,
निघ्नन् सम्प्रतिषिध्यते समयतो यद्वक्षणे रागता ॥

किसी ने पूछा—भीखणजी ! किसी मनुष्य ने मरते हुए बकरे को बचाया, उसमें क्या हुआ ? तब स्वामीजी बोले—ज्ञान से समझा-बुझाकर हिंसक को हिंसा से बचाने में धर्म होता है। स्वामीजी ने दो अंगुलियों को ऊपर कर कहा—कल्पना करो, एक अंगुली राजपूत है और दूसरी अंगुली बकरा। राजपूत मारने वाला है और बकरा मरने वाला है। इन दोनों में कौन डूबता है ? मरने वाला डूबता है या मारने वाला ? नरक-निगोद में कौन जाएगा ?

वह बोला—मारने वाला डूबेगा।

स्वामीजी बोले—‘साधु डूबने वाले को तारते हैं। राजपूत को समझाते हैं—बकरे को मारने से तुम्हें संसार समुद्र में गोता लगाना पड़ेगा। इस प्रकार उसे ज्ञान से समझा-बुझाकर हिंसा से बचाना मोक्ष का मार्ग है। परन्तु साधु बकरे के जीने की इच्छा नहीं करता।’

जैसे एक साहूकार के दो लड़के हैं। एक लड़का ऋण लेता है और दूसरा उस ऋण को चुकाता है। पिता किसे रोकेगा। वह ऋण लेने वाले को रोकेगा। ऋण उतारने वाले को नहीं रोकेगा। इसी प्रकार साधु पिता के समान हैं। राजपूत और बकरा—ये दोनों पुत्र के समान हैं। इन दोनों में कर्मरूपी ऋण को कौन सिर पर चढ़ाता है और कर्मरूपी ऋण को कौन चुकाता है ? राजपूत तो कर्मरूपी ऋण सिर पर चढ़ाता है और बकरा अपने किए हुए कर्मों को भोग अपना ऋण चुकाता है। साधु राजपूत को कहते हैं—तुम कर्मरूपी ऋण को सिर पर मत चढ़ाओ। कर्म का बन्ध करने पर तुम्हें संसार समुद्र में बहुत गोता लगाना पड़ेगा। इस प्रकार राजपूत को समझा-बुझाकर उसे हिंसा से बचाते हैं। जो निरवद्य अनुकंपा से प्रेरित होकर जीवों की हिंसा से उपरत होता है, वह धर्म है। जो जीवों की रक्षा करता है वह रागभाव है।’

७२. किं ब्रव्यादहिमोक्षणे बहुवधो वाच्यं कथं मोचितो,
गत्वाऽरं स बिलेषु चोन्दुरघसेस्तत्प्राप्त्यऽभावाच्च किम् ।
प्रौड्डीनो बलिमुक् तयापि गुलिकाक्षेपी न किं हिंसक-
स्तद्वन् भूषकसङ्गतितं हि विधेमोर्चो तु तद्दोषभाक् ॥

किसी व्यक्ति ने पूछा—घन देकर किसी ने सर्प को मुक्त कराया । उसमें क्या होगा ? भिक्षु ने कहा—‘बहुत हिंसा ।’ ‘कैसे ?’ सर्प मुक्त होकर सीधा बिल में घुसेगा और वहाँ स्थित चूहे को खाएगा, वह हिंसा है । फिर प्रश्न हुआ—यदि बिल में चूहा न हो तो क्या परिणाम होगा ? स्वामीजी ने एक दृष्टांत दिया—किसी ने कौए पर गोली चलाई । कौआ उड़ गया, मरा नहीं । परन्तु क्या गोली चलाने वाला हिंसा का दोषी नहीं होगा ? इसी प्रकार बिल में चूहा न मिला, यह चूहे के भाग्य की बात है । किन्तु सर्प को मुक्त कराने वाला तो हिंसा का भागी ही है ।^१

७३. भ्रातृानां वसुवद् व्रतं त्वविरती रत्नामरीवत्पृथक्,
तेषामव्रतपोषणेन सुकृतं लिप्सुः स तत्त्वान्धिलः ।
एकाऽऽराभतया विमूढमनसा धत्तूरसंसेचनात्,
साक्षादाभ्रफलेच्छुकस्त्रिभुवने व्यर्थप्रयासाकुलः ॥

श्रावक के व्रत रत्नों की उपमा से उपमित हैं तथा अव्रत रयणादेवी (रत्नादेवी) की उपमा से । दोनों पृथक्-पृथक् हैं । श्रावक के जीवन में व्रत-अव्रत दोनों होने के कारण वह व्रताव्रती कहलाता है । व्रत का पोषण एकांततः धर्म है एवं अव्रत का पोषण उससे विपरीत । पर जो व्यक्ति श्रावक के अव्रत का पोषण कर धर्म से लाभान्वित होना चाहता है वह तत्त्वज्ञान से शून्य है एवं लोक में व्यर्थ परिश्रम का भार ढोने वाले उस व्यक्ति के समान हैं, जो कि एक ही बगीचे में लगे आम और धतूरे के पेड़ों से विमुरघ होकर आम के बदले धतूरे के पेड़ को सींचकर उससे आम्रफल पाने की आशा करता है ।^१

७४. कश्चिच्चापणिकां समर्प्य तनयं ग्रामं गतोऽथाङ्गज-
स्तम्बाखूधूतमिश्रकः समभवत् प्रौढिप्रवर्शोत्सुकः ।
मोक्षाऽमोक्षपथद्वयं समतुलं निर्मात्यऽविज्ञस्तथा,
जिह्वाऽक्षयौघघट्टिलोमकतया संयोजको वाऽबुधः ॥

(क) धर्म और अधर्म का मेल कभी नहीं हो सकता । जो व्यक्ति एक ही क्रिया से धर्म और अधर्म दोनों की निष्पत्ति मानते हैं, वे संसार एवं मोक्ष के मार्ग को एक करने वाले हैं, पर ऐसा हो नहीं सकता । ऐसा करने से दोनों ही चीजें विकृत बन जाती हैं । स्वामीजी ने दृष्टांत देते हुए कहा— किसी सेठ के घृत व सूँघने की तम्बाकू का व्यापार था । एक बार किसी कार्यवश सेठ को बाहर जाने का प्रसंग बन पड़ा । अपने लड़के के सामने बाहर जाने की बात रखते हुए दुकान की चिंता व्यक्त की । पुत्र ने कहा— 'चिंता की कोई बात नहीं । दुकान का सारा काम मैं संभाल लूँगा । आप मुझे चीजों के भाव बतला दीजिए ।' सेठ ने कहा— 'घी का भाव भी २॥ सेर का है और तम्बाकू का भाव भी २॥ सेर का है । दोनों एक ही भाव के हैं । यों भाव बतलाकर तथा एक पात्र के खाली हुए बिना दूसरे को खोलने का निषेध कर कार्य विशेष के लिए सेठ कहीं बाहर चला गया । लड़का प्रातःकाल दुकान पर गया । दुकान में बैठने की संकड़ाई देख उसने सोचा — घृत का भी वही भाव है जो कि तम्बाकू का है तो फिर दो बर्तनों में दो चीजें अलग-अलग क्यों रखी जाएं और क्यों दुकान में इतनी जगह रोकੀ जाए । अगर इन दोनों को इकट्ठा कर दिया जाए तो दुकान में संकीर्णता न रहेगी और साथ-साथ में ग्राहक को भी एक वस्तु के बदले दो वस्तुएं एक साथ मिलने से खुशी होगी ।' ऐसा सोच आधे भरे हुए घृत और तम्बाकू के दो बर्तनों को एक में मिलाकर एक बर्तन की जगह खाली कर ली । अपनी बुद्धि की मन ही मन सराहना करने लगा । थोड़ी देर के बाद घृत लेने एक ग्राहक आया । सेठ के पुत्र ने तम्बाकू मिश्रित घृत दिखाया ।

ग्राहक बोला—यह काला काला क्या है ? सेठ का पुत्र बोला— आपको एक चीज की जगह दो चीजें मिल रही हैं । तम्बाकू और घृत । ग्राहक बोला—क्या तुम मूर्ख नहीं हो ? ऐसा करने से घृत व तम्बाकू दोनों ही बिगड़ गये हैं । यों कहकर ग्राहक सौदा लिए बिना चला गया । इतने में ही एक ग्राहक तम्बाकू लेने आया । सेठ के पुत्र ने उसे घृत मिश्रित तम्बाकू दिखाई । वह भी उसकी बुद्धि पर तरस खाता हुआ चला गया । ऐसे दिन भर ग्राहकों के साथ तकरार होती रही । सेठ का पुत्र झुंझला कर घर आ गया । दो दिन बाद सेठ आया । पुत्र से सारी बात जानी । उसकी बुद्धि पर हंसते हुए सेठ बोला—इस मिलाये हुए घी-तम्बाकू को अकुरड़ी पर डाल आओ । इन दोनों चीजों का मेल नहीं हो सकता ।'

इसी प्रकार संसार एवं मोक्ष का मार्ग भी पूर्व और पश्चिम की तरह एक नहीं हो सकता । मोक्ष एवं संसार के मार्ग को एक करने वाले घृत व तम्बाकू को मिश्रित करने वाले सेठ के पुत्र के समान अविवक्षित हैं, मूर्ख हैं ।'

(ख) किसी व्यक्ति के जीभ और आंख में भयंकर पीड़ा होने लगी । वह वैद्य के पास गया । वैद्य ने दोनों बीमारियों के लिए पृथक्-पृथक् दवा-इयां दीं और उसे समझा दिया । परन्तु प्रमाद और विस्मृति के कारण उसने जीभ की दवाई आंख में और आंख की दवाई जीभ पर डाली । परिणाम स्वरूप उसकी आंखें और जीभ—दोनों बिगड़ गईं । इसी प्रकार जो संयम और असंयम, व्रत और अव्रत तथा संसार और मोक्ष के मार्ग को पहचान नहीं पाते उन्हें कष्ट उठाना पड़ता है ।

७५. दत्ताः केन चणा दयाव्रंमनसा पिष्टाः कयाचिच्च ते,
तत्पूपा रचिताः कयापि रवणाद्वरुणैर्भुक्तास्ततः ।
लग्ना तृद् परिपायितं सुसलिलं केनापि तेषूच्यतां,
सम्यक्साधनसाध्यचित्तनतया को धर्मधुर्योऽधिकः ॥

एक बूढ़ा भिखारी भीख मांगता हुआ घूम रहा था । एक दयालु सेठ ने उसे सेर भर चने दिए । दूसरी बहिन ने उन चनों को पीसकर आटा बना दिया । तीसरी बहिन ने उस आटे की रोटियां बना कर बूढ़े को दे दीं । बूढ़े ने सारी रोटियां खा लीं । कुछ समय पश्चात् उसे तीव्र प्यास लगी । चौथी बहिन ने उसे ठंडा-मीठा सजीव जल पिलाया । इस प्रकार चारों ने उस बूढ़े भिखारी को सहयोग दिया । प्रश्न है साध्य-साधन के चितन के अनुसार चारों में अधिक धर्म का भागी कौन बना ? 'यह सावद्य दान है । इसमें धर्म का प्रश्न ही नहीं है ।

७६. पञ्चानां च शतं शतं मणमितं नृणां चणास्तेऽक्षता,
दत्ता दीनजनाय केन दयया केनापि ते सेकिमाः ।
केनैतत्पृथुकीकृता घृतमुखैः पूषीकृताः केनचित्,
त्यक्ता एकविंश प्रभोरनुमतेराराधकस्तेषु कः ॥

पांच व्यक्तियों ने साभेदारी में चनों की खेती की । पांच सौ मन चने पैदा हुए । पांचों ने इस खेती की उपज का दान कर धर्म करना चाहा । उनमें से एक व्यक्ति ने सौ मन चने भिखारियों को बांट दिए । दूसरे व्यक्ति ने सौ मन चनों के भूंगड़े बनाकर बांट दिए । तीसरे व्यक्ति ने सौ मन चनों की घूघरी बनाकर गरीबों को खिलाई । चौथे ने सौ मन चनों की रोटियां बनवाईं और साथ में कढ़ी बनाकर खिलाई । पांचवें व्यक्ति ने सौ मन चनों का विसर्जन कर उन्हें छूने का भी त्याग कर दिया ।

जो सावद्य दान में पुण्य-धर्म बतलाते हैं, उन्हें पूछना चाहिए कि इनमें अधिक धर्म किसे हुआ ? धर्म का आराधक कौन बना ?'

७७. पापं पेषकपाचकाऽऽवकजलाभ्याद्यर्पकाणां तदा,
ह्यामन्व्योत्तमभोजकस्य सुकृतं स्याद्वा कथं शोच्यताम् ।
तत् कृत्स्नाङ्गधृतां स एव दुरिताऽऽविष्कारको मुख्यतो,
यस्मात् पापपरम्पराप्रचलनं कस्तत्र धर्मोद्भवः ।

किसी भाई ने अपने साधर्मिक भाइयों को अपने यहां भोजन करने का, दया पालने का निमंत्रण दिया और घर आकर भोज्य सामग्री की तैयारी करा कर भोजनार्थ आए हुए व्यक्तियों को, भोजन कराता है। अब इस प्रकार के भोज में अन्न पीसने वाले को, पकाने वाले को व खाना खाने वाले को पाप लगता है, ऐसा माना जाता है। सिर्फ न्योता देकर जीमाने वाले को धर्म है, यह कैसे हो सकता है ? यह गम्भीरता से चिंतनीय है। इन सारे पेषण, पाचन और भक्षण आदि पापों का आविष्कारक तो मुख्य रूप से न्योता देकर जीमाने वाला ही है। क्योंकि उसी से सारी पेषण आदि पाप-प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है। जिससे पाप-परम्परा का प्रचलन होता है, वहां धर्म की उत्पत्ति कैसे ?

७८. चौरं हिंसकमापणस्थमुनिराद् कौशीलिकं चोपकृतं,
संसाराणंबतारणैकमनसा धर्मोपदेशं ददौ ।
तत्राऽजस्य धनस्य रक्षणतया स्यात् सौकृतं चेत् तदा,
स्त्रीमृत्योरपि पातकं न हि कथं न्यायकता सर्वंगा ॥

७९. मा मा मारय चोरयोपभजतान् मा मा मृगाक्षी सन-
वित्युक्त्या हि न सौकृतं परमिहोद्देश्यं समालोच्यताम् ।
तद्वक्तृत्वमजादिकाय यदि चेद् रागादिमन्त्रो शुभं,
तेषामात्मशुभाय तद् यदि तदा तीर्थङ्करैः सम्मतम् ॥ (युग्मम्)

साधुओं ने चोर, कषायी और व्यभिचारी पुरुष को, चोरी, हिंसा और व्यभिचार न करने का उपदेश दिया। उपदेश का लक्ष्य सिर्फ चोर, हिंसक और व्यभिचारी की आत्मा को तारने तथा उन्हें चोरी, जीव-हिंसा और व्यभिचार के पाप से बचाने का था। संतों के उपदेश से प्रभावित हो-चोरी व जीव-हिंसा का त्याग करने पर धन व बकरे बचे एवं परस्त्री का

त्याग करने पर अपने प्रेमी के न आने के कारण उस स्त्री ने आत्म-हत्या कर ली। अब चिंतन का विषय यह है कि धन और बकरी के बचने में धर्म मानकर उसका सम्बन्ध अगर त्याग कराने वाले उपदेशक संतों के साथ जोड़ा जायेगा, तो उस स्त्री के मरने का सम्बन्ध भी उपदेशक संतों के साथ अपने आप ही जुड़ जायेगा। स्थिति सर्वत्र समान है। जीव हिंसा मत करो। चोरी मत करो। परस्त्रीगमन मत करो—इतना कहना मात्र ही धर्म नहीं है। परन्तु इस कथन के पीछे जो उद्देश्य है उसका चिंतन आवश्यक है। यदि उद्देश्य बकरी आदि के रक्षण का हो, तो वह राग आदि से संवलित होने के कारण शुभ नहीं है और यदि वही उपदेश वधक, चोर और पारदारिक की आत्मा के उद्धार के लिए हो तो वह शुभ है और वही तीर्थंकर द्वारा सम्मत है।^१

८०. आज्ञाबाह्यवृषप्ररूपकजनाः पृच्छयाः शिरस्कस्य वः,
कः कर्त्ता समगात् कुतः कतिपयैरित्यादिकं वाच्यताम् ।
अहंछिष्टितिरस्कृतं हि सुकृतं निर्मूलकं तस्य च,
व्युत्पत्त्या रहितस्य वै कथमुपादेयत्वमागच्छति ।

कुछ लोग कहते हैं—भगवान् की आज्ञा के बाहर भी धर्म होता है। तब स्वामीजी बोले—आज्ञा में धर्म है—यह तो भगवान् के द्वारा प्रतिपादित है। आज्ञा के बाहर धर्म है—यह किसके द्वारा प्रतिपादित है? जैसे किसी ने पूछा—तुम्हारे सिर पर पगड़ी है, वह कहां से आई? तब जो साहूकार होता है वह तो उसकी उत्पत्ति का मूल स्रोत बता देता है। वह साक्षी करा देता है। अमुक बजार से खरीदी, अमुक रंगरेज के पास मैंने रंगाई। पर जो व्यक्ति पगड़ी चुराकर लाया हो, वह उसका मूल स्रोत नहीं बता सकता। वह थोड़े में अटक जाता है। इसी प्रकार जो आज्ञा के बाहर धर्म बतलाता है वह निर्मूल है। उसका कोई आधार नहीं है। ऐसी स्थिति में वह कथन कैसे उपादेय हो सकता है?^२

८१. बाहिन्युत्तरणे वृषो यदि तथा पुष्पावरोहे न किं,
मन्याऽभाबतया तथा वितनुमो मार्गोऽपवादे वयम् ।
योष्माकं कुसुमावरोहणमिवं व्युत्सर्गमार्गेण च,
शुष्काणां हरणाद् यदाऽमकलिकोपादानतो ह्यन्तरम् ॥

१. भिदृ० १४८ ।

२. वही, १३१ ।

स्वामीजी से एक व्यक्ति ने पूछा—नदी पार करने में यदि धर्म है तो मूर्ति के सामने फूल चढ़ाने में धर्म क्यों नहीं होगा ? तब स्वामीजी ने प्रत्युत्तर देते हुए कहा—‘हम नदी में तभी उतरते हैं जब गंतव्य तक पहुंचने का दूसरा मार्ग न हो। मार्ग होने पर हम नदी-संतरण नहीं करते। नदी-संतरण अपवाद मार्ग है। तुम्हारे जो फूल चढ़ाने की पद्धति है वह उत्सर्ग विधि है। तुम सूखे और मुरझाए फूलों को छोड़कर प्रतिमा के समक्ष कच्ची कलिकाओं को चढ़ाना पसन्द करते हो। इसलिए नदी पार करने के साथ फूल चढ़ाने की तुलना नहीं हो सकती।’

८२. साधुत्वं समयेऽद्य पूर्णमृषिभिर्नो पाल्यतेऽत्रोच्यते,
तुर्याकिं कथमष्टमं यदऽभवत् तत् कीदृशं साम्प्रतम् ।
दुर्दिष्टाबलगात्रतः किमु कणाद्याहारतस्तद् भवेन्,
नो चेत् तन्नु महाव्रताऽवनमिदं स्यात् खण्डशस्तत् कथम् ॥

कुछ लोग कहते हैं—इस पांचवें अर में श्रामण्य का पूरा पालन नहीं किया जा सकता है। उनको स्वामीजी ने पूछा—चौथे अर में तेल कितने दिनों का होता था ? वे बोले—तीन दिन का। इस पांचवें अर में तेल कितने दिनों का होता है ? वे बोले—तीन दिन का। तब स्वामीजी ने पूछा—इस कलिकाल में शारीरिक संहनन की कमजोरी के कारण क्या एक दाना खाकर तेले की तपस्या की जा सकती है ? नहीं की जा सकती। तो फिर पंचमकाल का बहाना लेकर महाव्रतों का खंडश पालन कैसे किया जा सकता है ?^१

८३. भ्रष्टः साधुतया तथाऽपि रुचिरो धौताम्बुपानादिकं-
लंक्षानामधमर्णको यदि पणात् पण्यं प्रगृह्णाति च ।
किं तैस्तस्य महाधमर्ण्यमिह तन्नश्येन्नितान्तं पुन-
र्यायात् तां किमु साधुकारपदतां नो चेद् व्रतावस्तथा ॥

किसी ने कहा—‘कोई साधु साधुपन से भ्रष्ट हो गया है, फिर भी वह हम गृहस्थों से तो अच्छा ही है, क्योंकि अब भी वह धोवन पानी पीता है, लोच आदि कराता है, पैदल चलता है।’ इस बात पर स्वामीजी ने कहा—एक व्यक्ति ने लाखों रुपयों का दिवाला निकाल दिया, पर वह अब बाजार से नगद पैसा देकर सोदा खरीदता है। वह इस सोदे का साहूकार हो सकता है। क्या उसकी इस साहुकारिता मात्र से लाख रुपयों का दिवा-

१. भिदृ० ९:७ ।

२. वही, ६६ ।

लियापन मिट सकता है ? क्या वह इस प्रक्रिया से पुनः साहुकार की पदवी पा सकता है ? कभी नहीं ।

नियमों से भ्रष्ट मुनि गृहस्थ से अच्छा कैसे हो सकता है ? गृहस्थ स्वीकृत अणुव्रतों की अनुपालना भलीभांति करता है । व्रतों की पालना करने वाले से व्रतभ्रष्ट कभी अच्छा नहीं हो सकता ।

८४. नो सम्यक् प्रतिपालयेयुरनिशं ये साधवः साधुतां,
संज्ञात् केवलवेषभूषणभरास्ते कूटनाणोपमाः ।
ताम्रोत्थः पणकोऽपि राजत इह श्रेष्ठः सदा रूप्यकः,
किन्तु क्वापि कदापि सुष्ठु भुवने नो कूटकार्षापणः ॥

जो मुनि अपनी साधुता का परिपालन नितान्त सम्यक् रूप से नहीं करते वे केवल वेश और भूषा का भार ढोते हैं तथा वे हैं छोटे सिक्के के सदृश । तांबे का सिक्का अच्छा है, चांदी का रुपया भी श्रेष्ठ है परन्तु कभी भी, कहीं भी छोटा कार्षापण अच्छा नहीं माना जा सकता । पूरा विवरण इस प्रकार है —

“एक साहुकार की दुकान में सबेरे कोई तांबे का पैसा लेकर आया और कहा—शाहजी ! पैसे का गुड़ है ? तब दुकानदार ने उस पैसे को नमस्कार कर उसे ले लिया । उसने सोचा—सबेरे-सबेरे तांबे के सिक्के से व्यवसाय का प्रारम्भ हुआ है । दूसरे दिन वह रुपया लेकर आया और कहा—शाहजी ! रुपये की रेजगी है ? तब दुकानदार ने रुपये को नमस्कार कर उसे ले लिया । रेजगी गिन उसे दे दी । सेठ मन में प्रसन्न हुआ—आज चांदी के सिक्के का दर्शन हुआ ।”

तीसरे दिन वह छोटा रुपया लेकर आया और बोला—शाहजी ! रुपये की रेजगी है ? तब वह दुकानदार प्रसन्न होकर बोला—मेरी दुकान पर कल वाला ही ग्राहक आया है । उसने रुपया हाथ में लेकर देखा, तो वह छोटा था । भीतर तांबा और ऊपर चांदी । वह उस रुपये को फेंककर बोला—सबेरे-सबेरे नकली रुपये का दर्शन हुआ ।

ग्राहक बोला—शाहजी । आप नाराज क्यों हुए ? परसों मैं पैसा लाया था, तब आपने ताम्बे के सिक्के को नमस्कार किया था । कल मैं रुपया लाया था, तब आपने चांदी के सिक्के को नमस्कार किया था । इसमें तो तांबा और चांदी—दोनों हैं, इसलिए इसे आप दो बार नमस्कार करें ।

सेठ बोला—परसों तो अकेला तांबा था, वह ठीक है । कल अकेली चांदी थी, वह और अधिक ठीक है । वे दोनों अलग-अलग थे । इसलिए नकली नहीं थे । पर इसमें भीतर तांबा और ऊपर चांदी का भोल है, इसलिए यह छोटा है । यह किसी काम का नहीं ।

इस दृष्टान्त के अनुसार पैसे के समान गृहस्थ श्रावक होता है, रुपये के समान साधु होता है और नकली रुपये के समान वेषधारी होता है। जिसका बाहरी वेष तो साधु का और भीतरी लक्षण गृहस्थ का वह छोटे सिक्के जैसा होता है—वह न गृहस्थ में और न साधु में, किन्तु वर्णशंकर जैसा होता है। वह बंदना के योग्य नहीं होता। श्रावक प्रशंसा के योग्य और आराधक होता है। साधु भी प्रशंसा के योग्य और आराधक होता है। पर छोटे सिक्के के साथी वेषधारी आराधक नहीं होते।'

८५. यत् पृच्छामि तदुत्तरेदऽविकलं तत् पृच्छधते स्वामिभि-

रुक्तो वस्तुमधीश्वरो नहि तथा ज्ञानं ह्यनन्तं प्रभोः ।

मव्योऽहं यदि वा परोऽहमिति चेत् पृच्छेस्तदा किं ब्रूवे,

तत् सर्वज्ञमृते क्षमो न वदितुं श्रुत्वा स्मितः सोऽनमत् ॥

प्रस्तुत श्लोक का विस्तृत अर्थ इस प्रकार है—

आचार्य भिक्षु एक विशिष्ट वादलब्धिधारक प्रतिभा के धनी पुरुषार्थी महापुरुष थे। शास्त्रार्थ करने की उनकी एक अनूठी सूक्ष्म भी थी। चर्चा वार्ता के प्रसंगों पर अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि के कारण प्रतिस्पर्धा करने वाले व्यक्तियों के लिए वे अजेय से बने हुए थे। यही कारण था कि प्रतिपक्षी लोग आपके साथ शास्त्रार्थ करने में सकुचाते थे। एक व्यक्ति को अपने शास्त्रीयज्ञान व वाद-विवाद की निष्णातता पर बड़ा नाज था। किसी ने उसे ताना मारते हुए कहा कि औरों के साथ शास्त्रार्थ कर उन्हें परास्त करने में क्या रखा है, जब तक कि भीखणजी को निरस्त न किया जाए। इस तरह ईर्ष्यालु प्रतिपक्षियों से प्रोत्साहित हो वह भीखणजी से शास्त्रार्थ करने की सोचने लगा। उसने अपने मन में गहरे चिन्तन-मनन के पश्चात् एक ऐसा प्रश्न संजोया और सोचा कि इस प्रश्न का समाधान भीखणजी निश्चित ही नहीं दे सकेंगे, अतः किसी तरह से शब्द-जाल में बांध कर उन्हें यही प्रश्न क्यों न पूछा जाये? ऐसा सोचकर वह स्वामी भीखणजी के पास आया और बोला कि मैं कुछ जिज्ञासा लेकर आया हूं। स्वामीजी ने फरमाया—पूछो। तब उसने कहा कि स्वामिन् ! मेरा प्रश्न तब ही हो सकता है जब आप यह कह दें कि तुम्हारे हर प्रश्न का उत्तर मैं दूंगा। क्योंकि आप शास्त्रीय ज्ञान के अगाध समुद्र हैं, आपसे कोई बात छिपी हुई नहीं है। प्रशंसा के प्रवाह में नहीं बहने वाले स्वामीजी ने फरमाया कि देखो, भगवान् का ज्ञान अनन्त है, छद्मस्थ हर प्रश्न का उत्तर दे सके यह सम्भव नहीं, अतः जो मेरे ज्ञान का विषय होगा, मैं उसका

प्रत्युत्तर देने का प्रयत्न अवश्य करूंगा। परन्तु प्रश्नकर्ता भी अपने आग्रह पर अड़ा रहा। स्वामीजी ने कहा—मान लो, तुम यही प्रश्न पूछ बैठो कि “मैं भव्य हूँ या अभव्य” तो इस प्रश्न का उत्तर तो सर्वज्ञ के सिवाय कोई दे ही नहीं सकता। तब मैं कैसे कह सकता हूँ कि मैं तुम्हारे हर प्रश्न का उत्तर दे दूंगा। इस तरह अपने मन में सोचे हुए इस गुप्त प्रश्न की बात स्वामीजी के मुखारविन्द से सुनते ही वह चकित सा रह गया एवं तत्काल स्वामीजी के चरणों में गिर पड़ा और बोला कि मैं इस वाक् छल के द्वारा आपको परास्त करना चाहता था, पर आपने तो मेरे मन की बात ही ताड़ली, यह एक विचित्र बात है। मैंने सोचा था कि अपनी शास्त्रार्थ निपुणता की प्रशंसा में फूलकर यदि वे हर प्रश्न का उत्तर देना मंजूर कर लेंगे तो, मेरा पहला प्रश्न यही होगा कि बताइये “मैं भव्य हूँ या अभव्य ? यदि वे कहेंगे कि इसका समाधान तो मेरे पास नहीं है तो मैं उन्हें यह कह कर तिरस्कृत कर दूंगा कि पहले हर प्रश्न का उत्तर देने की डींगें मारी ही क्यों ? अथवा भव्य अभव्य में से एक कहेंगे तो उन्हें यह कह निरस्त कर दूंगा कि भव्याभव्य का निर्णय तो सर्वज्ञ के सिवाय कोई कर ही नहीं सकता तो फिर आप आगम विरुद्ध ऐसा कैसे कह सकते हैं। ऐसा कहकर पराजित कर दूंगा। पर आपने तो मेरे मनोगत भावों को पहले ही जान लिया। धन्य हैं आप—यह कहकर नमन करता हुआ वह चला गया।

८६. केनेनात् परिमोचितः स्वविभवादेको हि चौरस्तवा,
लोका मोचकमास्तुवन्ति च नवस्तेनोपसंहारतः।
तत् कौतुम्बिकपीडितप्रतिहतास्ते ह्येव तन्निन्दकाः,
स प्रावात्यमितोऽमिताऽसुखगतो लोकोपकारस्त्वयम् ॥

किसी राजा ने दस चोर पकड़े। उन्हें मारने का आदेश दिया। तब एक साहूकार ने प्रार्थना की—महाराज ! यदि आप चोरों को मुक्त कर दें तो मैं प्रत्येक चोर के बदले में पांच सौ-पांच सौ रुपये दूंगा।

राजा ने कहा—चोर बहुत दुष्ट हैं। वे छोड़ने के योग्य नहीं हैं। साहूकार ने फिर कहा—यदि आप सबको मुक्त न करें तो नौ चोरों को तो छोड़ दें।

राजा ने उसकी बात नहीं मानी। इसी प्रकार साहूकार ने बहुत प्रार्थना की। तब पांच सौ रुपये लेकर एक चोर को छोड़ दिया। नगरी के लोग साहूकार को धन्य-धन्य कहने लगे। उसका गुणानुवाद किया—इसने चोर को छोड़ाकर बहुत उपकार किया है। चोर भी बहुत प्रसन्न हुआ।

उसने सोचा—साहूकार ने मेरे पर बहुत उपकार किया है। अब चोर ने अपने घर जाकर चोरों के सगे संबंधियों को सारे समाचार सुनाए। वे सारी बातें सुन बहुत रुष्ट हुए। वह चोर उन्हें साथ ले आया। शहर के दरवाजे पर एक पत्र टांग दिया। उसमें लिखा था—नौ चोरों को मारा गया है, उनका प्रतिशोध लेने के लिए नौ के ग्यारह गुना—९९ व्यक्तियों को मारने के बाद समझौता कर लूंगा। साहूकार को नहीं मारूंगा। साहूकार के बेटे, पोते और सगे सम्बन्धियों को भी नहीं मारूंगा। इस सूचना के बाद वह मनुष्यों को मारने लगा। किसी के बेटे को मारा, किसी के भाई को मारा, किसी के पिता को मारा। नगर में हाहाकार हो गया। नगरी के लोग साहूकार की निन्दा करने लगे। उसके घर जाकर रोने लगे—रे पापी ! यदि तुम्हारे घर में धन अधिक था तो उसे तुमने कुएं में क्यों नहीं डाला ? तुमने चोर को छोड़ा हमारे परिवार के लोगों को मरवा दिया। साहूकार उद्विग्न हो गया। वह शहर को छोड़ दूसरे गांव में जाकर बस गया। बहुत दुःखी हुआ। जो लोग उसके गुण गाते थे वे ही उसके अवगुण गाने लगे।

संसार का उपकार ऐसा होता है। मोक्ष का उपकार करने वाला महान् होता है। उसमें कोई खतरा नहीं है।'

८७. कान्ते कालकटाक्षितेऽतिरुदतीं लोकाः प्रशंसन्ति तां,
प्रत्याख्यानवशात् परामरुदतीं निन्दन्ति तत्त्वच्युताः ।
तस्माल्लोकशुभाऽशुभाभिहिततो रम्यं ह्यरम्यं नहि,
रम्याऽरम्यविनिर्णयो भवति बं श्रीवीतरागोक्तितः ॥

संसार और मोक्ष के मार्ग की भिन्नता का बोध देने के लिए स्वामीजी ने कहा—एक साहूकार के दो स्त्रियां थीं। एक ने रोने का त्याग कर दिया। वह धर्म के रहस्य को जानती थी। दूसरी धर्म के मर्म को नहीं समझती थी। कुछ समय बाद उनका पति परदेश में काल कर गया। जो स्त्री धर्म के मर्म को नहीं समझती थी, वह पति के देहावसान का सामाचार सुन कर रोती है, विलाप करती है और जो स्त्री धर्म के मर्म को समझती है, वह आंसू नहीं बहाती, किन्तु समता धार कर बैठी है। अनेक स्त्री-पुरुष इकट्ठे हुए। वे सब रोने वाली की प्रशंसा करते हैं—'यह धन्य है, पतिव्रता है।' जो नहीं रोती उसकी निन्दा करते हैं—'यह पापिनी तो चाहती थी कि पति मर जाए। इसकी आंखों में आंसू भी नहीं हैं।'

इसलिए लोगों द्वारा किसी प्रवृत्ति को शुभ या अशुभ कह देने मात्र

ये वह रम्य या अरम्य नहीं बन जाती। रम्य अथवा अरम्य का निर्णय वीतराग के कथन के आधार पर होता है।^१

८८. वीप्ताग्निशमनेऽल्पपापमधिका स्यान्निर्जरा चेत्तदा,
सिंहव्यालदवाग्निदायकबभ्रुमृद्विहसकादीनपि ।
हन्यात्तत्परिवध्यमानकरुणावांस्तत्प्रकारेण हि,
स्यात्तत्रापि तथैव किं यदि भवेद् विश्वे महाविप्लवः ॥

कुछेक व्यक्तियों की यह धारणा है कि जलती हुई अग्नि बुझाने में अल्प जीवों की हिंसा व अनेक जीवों की सुरक्षा होती है, अतः अल्पपाप बहुनिर्जरा होती है। अल्प जीवों की हिंसा व बहु जीवों की सुरक्षा जहां होती है वहां अल्पपाप बहुनिर्जरा होती है—इस सिद्धान्त को मानने वालों को इन निम्नोक्त सभी प्रसंगों में भी 'अल्पपाप बहुनिर्जरा' मानने के लिए विवश होना पड़ेगा। जैसे सिंह, व्याघ्र, वन में अग्नि लगाने वाले, सेनापति तथा सभी प्रकार के हिंसक जीवों को मारने में भी थोड़े जीवों की हिंसा व इनसे मारे जाने वाले अनेकों की सुरक्षा को दृष्टिगत रखते हुए अल्पपाप बहुनिर्जरा माननी होगी। इसी प्रकार सिंह, व्याल आदि पर दया लाकर, जिनके द्वारा ये मारे जा रहे हैं, उनको मारने में भी जलती हुई अग्नि के विध्यापन की तरह ही अल्पपाप बहुनिर्जरा माननी पड़ेगी। अगर ऐसी ही क्रियान्विति होती रहे तो दुनिया में महाविप्लव की स्थिति संभव है।

८९. मार्जारान् यदि मूषकाऽवनतया धर्मादिकं स्यात् तदा,
मूलादेः परिरक्षणोऽपि च तथा धेन्वादिकैः किं नहि ।
लोकानां प्रियगोचरेषु सुकृतं तत् प्रातिकुल्येन किं,
पर्याप्तं जनरञ्जनेन जगतां तत्स्वावधानं वरम् ॥

बिल्ली चूहे पर झपट रही है। उसे डरा कर चूहे को बचाना धर्म-पुण्य होता है तब अन्यान्य स्थानों में भी वैसा मानना पड़ेगा। इसको स्पष्ट करने के लिए आचार्य भिक्षु ने सात दृष्टान्त दिए—

(१) एक स्थान पर सड़े-गले धान्यों का ढेर है। बकरे वहां उस धान्य को खाने आ रहे हैं। यदि बकरों को हटा दिया जाए तो धान्य के जीव तथा तदाश्रित अन्य जीवों का बचाव हो सकता है।

(२) एक गाड़ी मूला, गाजर आदि से भरी है। एक सांड उनको खाने आता है। उसको रोकने से वनस्पति के जीव बच सकते हैं।

(३) चूहे को खाने के लिए आने वाली बिल्ली को रोकने से चूहा बच सकता है।

(४) गुड़, चीनी पर मक्खियां आती हैं। उन मक्खियों को खाने के लिए अन्य जीव आता है। उसे रोकने से मक्खियां बच जाती हैं।

(५) एक बर्तन में कई दिनों का अनछाना पानी पड़ा है। उसे पीने के लिए आने वाली गाय को रोकने से पानी तथा तदाश्रित जीव बच सकते हैं।

(६) पानी से भरे तालाब में पानी के जीवों के अतिरिक्त अन्यान्य अनेक त्रस जीव होते हैं। उस तालाब में आने वाली गायों, भैंसों को रोकने से अनेक जीव बच जाते हैं।

(७) उकरडी पर अनेक पक्षी जीवों को चुगने आते हैं। उन्हें रोकने से उन जीवों का बचाव हो जाता है।

इन सात उदाहरणों में से किसी एक-दो पर जीवरक्षा का प्रयत्न करना तथा शेष पर नहीं, यह यथार्थ की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। इस तरह लोकप्रिय विषयों में धर्म या पुण्य कह देना व अन्यत्र अपनी मान्यता के अनुसार जीव रक्षा होते हुए भी लोकप्रिय न होने के कारण, धर्म या पुण्य न कहकर चुप्पी साध लेना कहां का न्याय है? इस तरह के जनरञ्जन को छोड़ यथार्थ को स्वीकार कर सभी काय के जीवों को अभय दान देना ही श्रेष्ठतर है।

९०. अम्भः पानतया वृषो यदि तदा मद्यादिपानादपि,
सर्वत्राङ्गभृतां समानविधिना रक्षा समीक्षा समा।
रक्षायां बढताद् वृषं च यदि वा सत्साधनासंश्रयं,
द्वैविध्यादविधोत्पथं च हरता घष्टापथो गृह्यताम् ॥

सभी प्राणियों की समान विधि से रक्षा और रक्षा का चिन्तन उत्तम है, ऐसा सिद्धान्त मान्य होने पर भी एक स्थिति में पुण्य मानना और एक स्थिति में न मानना युक्तिसंगत नहीं। जैसे—प्यास से व्याकुल व्यक्ति को कच्चा पानी पिलाकर बचाने में पुण्य मानना और मद्य आदि के बिना न रह सकने वाले व्याकुल व्यक्ति को मद्य आदि से बचाने में धर्म-पुण्य न मानना। जबकि जीव रक्षा का दृष्टिकोण दोनों जगह समान है। यदि यह कहा जाए कि जीव रक्षा तो समान है, पर मद्य आदि पान कराने का साधन सत् साधन नहीं है। अतः ऐसे साधन से धर्म-पुण्य नहीं हो सकता। यह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि पानी पिलाने में भी तो यही बात है। पानी के जीवों की हिंसा तथा असंयम का पोषण, इस तरह हिंसा एवं असंयम का पोषण करने वाला साधन भी सत्साधन कैसे कहा जा सकता है? अतः इस द्विविधाजनक उन्मार्ग को छोड़कर शुद्ध साध्य-साधन वाले राजमार्ग को अपनाना चाहिए।

९१. नामान्तर्यवशान्न दोषविगमः सत्कर्मकरणाच्च स,
नाम्ना स्थानकमस्तु वान्यदपि किं सर्वं समं सत्कृतम् ।
रामद्वारमुपाश्रयो वृषगृहं हर्म्यं च सौधादिकं,
सर्वाण्येव गृहाणि तेषु विधिवत् सर्वत्र संज्ञान्तरम् ॥

नामान्तर कर देने मात्र से कोई सदोष वस्तु निर्दोष बन जाए, यह संभव नहीं है। दोष का निवारण तो सत्क्रिया से ही हो सकता है। साधुओं के लिए निर्मित स्थान चाहे स्थानक कहलाये या अन्य नाम से पहचाने जाएं वे हैं सभी समान। स्वामीजी ने कहा—

जिस प्रकार यति के उपाश्रय, मथेरन (महात्मा) के पोशाल (पाठ-शाला), फकीर के तकिया, भक्तों के अस्थल, फुटकर भक्तों के मढी, कनफड़ों के आसन, संन्यासी के मठ, रामस्नेहियों के रामद्वारा, जिसे कहीं-कहीं राम-मोहल्ला कहा जाता है, गृहस्थ के घर, सेठ के हवेली, गांव के ठाकुर के कोटड़ी या रावला, राजा के महल या दरबार, साधुओं के स्थानक—इन सब में नाम का अन्तर है, वास्तव में तो सबके सब घर हैं।^१

९२. नौका काष्ठमयीव रन्ध्ररहिता स्वाचारवान् सद्गुरुः,
सच्छिद्रेव कुशीलताद्युपगुणी नैपथ्यमात्रान्वितः ।
पाषाणीव जिनेन्द्रदर्शनपरः पाषण्डिको मूलतः,
श्रेयो मध्यतुला शिखेव सुगुरुः सद्देवधर्मैकिकः ॥

(क) गुरु की पहचान के लिए स्वामीजी ने नौका का दृष्टान्त दिया—

(१) निश्छिद्र काठ की नौका के समान सु-आचारवान् सद्गुरु होता है।

(२) सच्छिद्र नौका के समान वेशधारी कुशील गुरु होते हैं।

(३) पत्थर की नौका के समान वे साधु हैं जो मूलतः जिनेन्द्रमत को मानने वाले हैं, पर हैं पाषण्डी।

(ख) जैसे तराजू की डांडी में तीन छिद्र होते हैं—एक मध्य में तथा दो दोनों पाश्वों में। यदि मध्य का छिद्र ठीक है तो दोनों पाश्वों के छिद्र ठीक रहेंगे, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार देव-गुरु और धर्म इस त्रिपदी में गुरु का स्थान मध्यवर्ती है। यदि गुरु सुगुरु होंगे तो देव और धर्म का यथार्थ स्वरूप बतलायेंगे। अतः धर्म की यथार्थ पहचान के लिए यथार्थ गुरु ही अपेक्षित हैं।^२

१. मिदू०, २०८।

२. वही, २९३।

१३. नीरे क्षिप्तपणो निमज्जति यथा भारेण नैजेन सं-

प्राप्तः सोऽपि विशालपात्रलघुतामुन्मज्जति क्षिप्रतः ।

अहःकर्मगुरुत्वतो ब्रुडति यो जीवो भवाब्धौ तथा,

धर्मात् कर्मलघुत्वतस्तरति तं शीघ्रं स एव स्वयम् ॥

किसी ने पूछा—जीव तैरता क्यों है ? डूबता क्यों है ? स्वामीजी बोले—तांबे का पैसा पानी में डालने पर अपने ही भार के कारण डूब जाता है । उसी पैसे को तपाकर, कूटपीटकर कटोरी बना लेने पर वह पानी में नहीं डूबता । उस कटोरी में पैसा रख देने पर भी वह कटोरी पानी में नहीं डूबती । इसी प्रकार जीव अपने ही पापकर्मों के भार से संसार-समुद्र में डूबता है और तप-संयम आदि धर्म के द्वारा हल्का होकर भाव-समुद्र को शीघ्र तर जाता है ।

१४. ब्रह्मा कोऽपि बलादिह सती प्रौढघोषिता डिण्डिमं-

स्तापाद्यान् व्यपनाशयिष्यति च किं सम्प्रार्थ्यमानापि सा ।

आकल्पं किल केवलं परिदधत् साधोः स्वकुक्षिम्भरिः,

श्रामण्यं परियालयिष्यति कथं बाह्यार्थलिप्साकुलः ॥

पति मर गया । उसकी अरथी के साथ जीवित पत्नी को बांधकर श्मशान में ले गए और चिता में उसे जला दी । 'यह सती हो गई है । यह ताप आदि को नष्ट करने वाली है'—ऐसी सर्वत्र घोषणा कर दी गई । क्या प्रार्थना करने पर भी वह सती ताप आदि का नाश कर सकती है ? कभी नहीं । जो व्यक्ति केवल अपना पेट भरने के लिए साधु का वेश पहनता है, वह बाह्य अर्थ का लोलुप व्यक्ति श्रामण्य का पालन कैसे करेगा ?

१५. प्राचीनाः प्रशठाः समेऽपि किमहो कोटीशलक्षेश्वराः,

यद्देवालयकारकाः प्रतिवचस्त्वं चेद् धनाढ्यो भवेः ।

किं तत् कारयिता न वा लपति सोऽवश्यं न बोधो मनाक्,

तद्वत् ते धनिकाः परं न विदुरा ज्ञं ह्यन्यदन्यद्वनम् ॥

किसी ने आचार्य भिक्षु से कहा—आप मंदिर का निबंध करते हैं । प्राचीन काल में करोड़पति और लखपतियों ने अनेक मंदिरों का निर्माण कराया था । क्या वे सभी मूर्ख थे ? स्वामीजी बोले—'यदि तुम धनवान् हो जाओ तो मंदिर का निर्माण कराओगे या नहीं ?' उसने कहा—'अवश्य कराऊंगा ।' स्वामीजी ने फिर पूछा—'अच्छा, बताओ तुम्हारे में गुणस्थान

१. भिदू १४३ ।

२. वही, ३०२ ।

३. ज्ञं इति ज्ञानम् ।

कौनसा है ? उपयोग तथा योग कितने हैं ? लेश्या कितनी हैं ?' वह बोला—'स्वामीजी ! यह तो मैं नहीं जानता ।' तब आचार्य भिक्षु बोले—'ऐसे ही वे प्राचीनकाल के धनी हुए होंगे । उनमें भी तत्त्वज्ञान नहीं था । ज्ञान और धन एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं ।'

१६. सन्देशानयिना प्रियो यदभवत् पत्युः प्रियायास्तथा,
प्रेयोसो वयमर्हतां शुभगिरां संभावणात् सन्नृणाम् ॥
शाकिन्योऽभिजनाश्च बिभ्यतितरां सम्मान्त्रिकेभ्यो यथा,
मत्तोऽपि श्लथिता द्विषन्ति यदि वा तत् पृष्ठगा नेतरे ॥

(क) [केलवा में परिषद् जुड़ी हुई थी । वहां के जागीरदार ठाकर मोखमसिहजी ने स्वामीजी से पूछा—'गांव-गांव की आपके पास प्रार्थनाएं आती हैं । अनेक पुरुष और स्त्रियां—सभी आपको चाहते हैं॥ वे आपको देखकर बहुत प्रसन्न होते हैं उन्हें आप बहुत प्रिय लगते हैं । इसका क्या कारण है ? आपमें ऐसा कौनसा गुण है ?'] तब स्वामीजी बोले—'कोई साहूकार परदेश गया हुआ था । उसने अपने घर सन्देशवाहक को भेजा और खर्चों के लिए रुपये-पैसे भी भेजे । सेठानी सन्देशवाहक को देखकर बहुत राजी हुई, क्योंकि उसने पति के सारे समाचार सुनाए थे । इसी प्रकार हम अर्हत् भगवान् की पवित्र वाणी लोगों को सुनाते हैं, इसीलिए हम लोगों के लिए प्रिय हैं ।'

(ख) किसी ने कहा—'भीखनजी ! जहां आप जाते हैं वहां लोग आपका विरोध करते हैं । ऐसा क्यों ?' भीखनजी बोले—जब कोई मांत्रिक गांव में आता है तब डाकिनियां और उनके ज्ञातीजन अत्यंत भयभीत हो जाते हैं, वैसे ही मेरे से वे ही लोग डरते हैं जो शिथिलाचारी हैं तथा जो शिथिलाचारियों के अनुयायी हैं । दूसरे लोग तो प्रसन्न होते हैं ।'

१७. कश्चिद् व्याहरते मुनि तव मुखप्रोद्बोधक्षणान्निश्चयाद्,
यायात्रा नरकं तमाह च कुतस्त्वद् वक्तुः सोऽवदत् ।
स्वर्गं स्वाम्यलपत् तदा दिविगमो चाहं त्वदास्ये क्षणात्,
त्वं याता निरयं मदीयमुखतः श्रुत्वा त्रपिष्णुर्गतः ॥

१. भिदृ०, ३९ ।

२. सन्देशमानेत् शीलं यस्य, स सन्देशानयी, सन्देशानयी च ना च इति सन्देशानयिना—सन्देशवाहक पुरुष ।

३. भिदृ० ८७ ।

४. वही, २९९ ।

भीखनजी जा रहे थे । एक व्यक्ति ने नाम पूछा । भीखन नाम सुनते ही वह बोला—ओह ! अनर्थ हो गया । आज मैंने तुम्हारा मुंह देख लिया । जो मनुष्य तुम्हारा मुंह देखता है, वह नरक में जाता है ।' स्वामीजी ने मुस्करा कर पूछा—'तुम्हारा मुंह देखने वाला कहां जाता है ?' वह बोला—'स्वर्ग में जाता है ।' तब स्वामीजी बोले—हम तो ऐसा नहीं मानते, किन्तु तुम्हारे कथनानुसार मैं स्वर्ग में जाऊंगा, क्योंकि मैंने तुम्हारा मुंह देखा है और तुम नरक में जाओगे, क्योंकि तुमने मेरा मुंह देखा है ।' यह सुनकर वह प्रश्नकर्त्ता लज्जित होकर चला गया ।'

१८. श्रीवैयाकरणज्ञ एत्य च परंब्युद्ग्राहितः स्वामिनं,
प्राह व्याकरणं त्वया ननु किमभ्यस्तं न नीतोत्तरः ।
उद्दण्डत्वमगद् भृशं मुनिवरैः पृष्टोऽतिलज्जाकुलः,
पाण्डित्यं प्रवरं सदा ह्यनुभवप्राप्तं प्रकृत्यागतम् ॥

विरोधियों के द्वारा बहकाये हुए एक वैयाकरण पंडित आचार्य भिक्षु के पास आकर बोले—'मुनिजी ! क्या आपने व्याकरण पढ़ा है, अभ्यास किया है ?' स्वामीजी बोले—पंडितजी ! मैंने व्याकरण नहीं पढ़ा ।' यह सुनकर अत्यंत गर्वोन्मत्त होकर वे बोले—'व्याकरण के बिना आगमों का सही अर्थ नहीं किया जा सकता ।' स्वामीजी बोले—आपने तो व्याकरण का खूब अभ्यास किया है । आप इस आगम वाक्य का अर्थ बताएं—'कयरे मग्ग-मक्खाया ।' पंडितजी उसका सम्यक् अर्थ नहीं बता सके । उन्होंने इसका अर्थ किया—कैर और मूंग अखंड नहीं खाने चाहिए । स्वामीजी ने उसका सही अर्थ बताते हुए कहा—भगवान् ने मोक्ष के कितने मार्ग बतलाए हैं ? यह अर्थ सुनकर पंडितजी अत्यंत लज्जित हुए । इससे यह फलित होता है कि जो पांडित्य स्वभावगत तथा अनुभव से प्राप्त है वही श्रेष्ठ होता है, केवल पुस्कीय पांडित्य कारगर नहीं होता ।'

१९. जामाता सरलोऽति मे कथमहो यत् अप्यते भुज्यते,
ब्रूते नो परिवेष्यते किमवदत् संयावकाद्यं सदा ।
ब्रूयात् किं स तदा कदापि तुहिनान्नं चाप्य संवीक्ष्यतां,
चेतोभाविता गोचरैरनुदिनं वृद्धे ! न के रञ्जिताः ॥

किसी बुढ़िया ने स्वामीजी से कहा—'महाराज ! मेरा जामाता बहुत ही सीधा-साधा और सरल है । स्वामीजी ने पूछा—कैसे ? वृद्धा बहिन बोली—महाराज ! मैं जो कुछ भी परोसती हूं, वह बिना तनुनच किए खा

१. भिदु० १५ ।

२. वही, २१८ ।

लेता है। स्वामीजी ने पुनः पूछा—तू उसे क्या परोसती है ? तब वह बोली—‘गुरुदेव ! कभी हलुआ, कभी लपसी परोसती हूँ ।’ ऐसा सुनकर स्वामीजी ने कहा—‘ऐसे मालताल परोसने पर वह क्यों कुछ बोले । उसे कभी ठंडी घाट और खट्टी छाछ परोस करके देख और वह न बोले तब पता चले । अयि वृद्धे ! मनोनुकूल स्थिति में कौन खुश नहीं रहता ? पर प्रतिकूल परिस्थिति में अपना संतुलन नहीं खोने वाला कोई विरला ही होता है ।

१००. कस्यारिनं भवेत् तदैहिकपथे दत्त्वोद्धतं^१ लोक्यतां,
निष्काश्य क्षतिमीक्ष्यतां च सुधिया धर्माऽध्वनि ध्यानतः ।
इत्थं सद्ब्यवहारताप्रवचनं स्याद्वा कथं शोभनं,
तूष्णीकत्वमनर्थवर्द्धनकरं मार्गद्वयेऽप्यर्थतः ॥

लौकिक पक्ष में यदि किसी का कोई बैरी नहीं है तो ऋण देकर देखे । ऋण लेने वाला बैरी बन जाता है । धार्मिक पक्ष में यदि किसी का कोई बैरी नहीं है तो दोष बतलाकर देखे । दोष बतलाने पर वह असहिष्णु होकर बैरी बन जाएगा । इस प्रकार न व्यवसाय चल सकता है और न प्रवचन ही शुद्ध रह सकता है । लौकिक और धार्मिक—इन दोनों पक्षों में जो मौन रहता है, वह मौन अनर्थ को बढ़ाने वाला होता है, क्योंकि ऋण देकर न मांगने पर अर्थ की हानि होती है और धर्म के क्षेत्र में स्खलना की ओर इंगित न करने पर प्रवचन की विशुद्धि नहीं रह सकती ।^१

१०१. कश्चिद् द्रव्यगुरुं जगौ यदि भवान् ब्रूयात् तदानीमहं,
विप्रान् भोजयितुं परो^२ बहुविधैर्गोधूमचूर्णादिकैः ।
द्रव्याचार्यं उदाह नेह लपनं साधोर्मनाक् कल्पते,
श्राद्धोऽवक् प्रभवेत्तदा कथमिह श्रेयः समालोच्यताम् ॥

विरोधियों ने ब्राह्मणों को भिड़काते हुए कहा—‘भीखनजी ब्राह्मणों को भोज देने में पाप बतलाते हैं ।’ एक व्यक्ति विरोधियों के गुरु के पास जाकर बोला—‘यदि आप आज्ञा दें तो मैं गेहूँ की रोटियाँ आदि बना कर ब्राह्मणों को खिलाऊँ । मेरी तीव्र इच्छा है ।’ यह सुनकर द्रव्याचार्य बोले—‘ऐसी आज्ञा देना हमें नहीं कल्पता ।’ तब श्रावक बोला—‘जिस कार्य में मुनि को बोलना भी नहीं कल्पता, उस कार्य में धर्म-पुण्य कैसे हो सकता है, आप स्वयं सोचें ।’

१. उद्धृतम्—ऋणम् ।

२. भिदु० २११ ।

३. परः—उत्पुक् ।

४. भिदु०, ४२ ।

१०२. सच्छ्रद्धानमृते किलानुकरणप्रह्वा न ते शोभनाः,

स्पर्द्धाभिर्न हि साधवः कश्चमपि स्थुर्हास्यतां यान्ति ते ।

देपालाभिधभोजकप्रतिनिभास्ते धेनुविट्कीलवत्,

मर्त्येज्या यदि वेह कृत्रिमतमां बोलां प्ररूढा यथा ॥

सच्चे श्रद्धान के बिना केवल अनुकरण करने वाले प्रशंसनीय नहीं होते । साधुओं की केवल स्पर्द्धा (नकल) करने मात्र से कोई साधु नहीं बन जाता । प्रत्युत वह उपहास का पात्र बनता है । जैसे 'देपाला' नामक भोजक ने साधु का वेश पहना और वह गोबर के कीले के साथी व्यक्तियों द्वारा पूजा गया । इसी प्रकार केवल अनुकरण करने वाले यथार्थशून्य बनावटी पालखी में आरूढ़ व्यक्ति के समान प्रतिभासित होते हैं ।

पूरा कथानक इस प्रकार है —

(क) जोधपुर राज्य के किसी एक गांव में 'देपाला' नामक भोजक रहता था । वह बातुनी एवं नकलची था । एक बार दुष्काल के समय को काटने के लिए वह अपने दोनों पुत्रों सहित साधुवेश धारण कर 'थल' की ओर चल पड़ा । थल के किसी एक बड़े गांव में उनका भव्य स्वागत हुआ एवं चातुर्मास की प्रार्थना भी हुई । अतः वहीं पर चातुर्मास कर दिया । अब व्याख्यान की चर्चा चली । लोगों से पूछा—कौनसा सूत्र बांचे । भाईयों ने कहा—'महाराज ! आप जैसे ज्ञानी कम मिलेंगे और हमारे जैसे श्रोता भी कम मिलेंगे, अतः सबसे बड़ा सूत्र जो हो वही फरमाने की कृपा करें ।' तथाकथित मुनि ने कहा—'भाई ! सबसे बड़ा सूत्र तो भगवती है, एवं बड़े सूत्र की अस्वाध्याय भी बड़ी होती है । अगर व्याख्यान में किसी को छींक, खांसी व हंसी एवं जम्भाई भी आ जायेगी तो चातुर्मास भर के लिए तीनों ही वक्त के व्याख्यानों की अस्वाध्याय हो जायेगी । लोगों ने कहा—कोई बात नहीं, आप किसी भी प्रकार की चिंता न करें, हम पूरा-पूरा ध्याल रखेंगे एवं किसी भी प्रकार का अस्वाध्याय न होने देंगे । आसाढ़ शुक्ल चतुर्दशी को व्याख्यान के प्रारम्भ का शुभ मुहूर्त था । चतुर्दशी के दिन गांव के प्रायः सारे श्रद्धालु भाई-बहिनों एवं बच्चों से उपाश्रय खचाखच भर गया । नकली मुनिपति ने व्याख्यान के प्रारम्भ में इस ढंग से नवकार मन्त्र का उच्चारण किया कि सारी परिषद् खिल खिलकर हंस पड़ी । ऐसा होते ही मुनि महाराज ने अपने पन्नों को जमीन पर गिराते हुए कहा, कितना समझाया था तुम लोगों को, पर कुछ भी नहीं समझते हो । यह लो, भगवती सूत्र की अस्वाध्याय हो गयी । भगवती सूत्र का क्या तीनों ही समय के व्याख्यानों का अस्वाध्याय हो गया । बिना व्याख्यानादि के हम लोग समय कैसे पूरा करेंगे ? यह विचारणीय है । खैर ! जो होना था सो हो गया । अब तो तुम लोग ऐसे ही सन्त सेवा एवं धर्मध्यान का लाभ लेते रहो । इसके सिवाय और

कोई चारा नहीं क्योंकि अस्वाध्याय होने के कारण अब व्याख्यान आदि तो हो नहीं सकते। आषाढी पूर्णिमा को चातुर्मासिक पाक्षिक का दिन था। सायंकाल प्रतिक्रमण सुनने के लिए काफी लोग एकत्रित हुए। किसी ने पूछा—भाई। घड़ी कहां है? समाई करनी है। देपाला मुनि ने कहा—अरे लोगों! तुम इतना ही नहीं जानते हो समाई कहते हो। समाई तो स्त्रीलिंग है, समाई कहने से दोष लगता है। एवं संघटा होता है। अतः समायों कहना चाहिए। ऐसे ही घड़ी नहीं घड़ो, पूजणी नहीं पूजणो, माला नहीं मालो ऐसे बोलना चाहिए। श्रावक लोग ध्यान करने को बैठे, ध्यान में मुंह नीचा मत रखो, मुंह नीचा रखते हो क्या तुम्हें नरक में जाना है। आदि। इस तरह की अजब गजब बातें सुन श्रावक लोग दंग रह गये। और कहा—महाराज! वाह! वाह! आपने तो गजब का ज्ञान दिया हम लोगों को। इतने में प्रतिक्रमण का समय आ गया, पाक्षिक प्रतिक्रमण सुनने के लिए काफी लोग एकत्रित हुए। मुनिजी ने कहा—भाइयो! जैसे मैं करता हूं ठीक वैसे ही तुम लोग भी करते जाना एवं किसी प्रकार से विधि में फर्क नहीं पड़ने देना। देपाला मुनि के मृगी का रोग था, उन्हें मृगी आ गई एवं वे गिर पड़े। बस फिर क्या था उनके देखा देख तत्त्वातत्त्व विवेक रहित एवं अनुकरणीय प्रेमी सारे के सारे श्रावक भी वैसे ही गिर पड़े एवं प्रतिक्रमण को पूरा कर मुनिजी ने पूछा—भाइयों। विधि में कोई फर्क तो नहीं पड़ा। लोगों ने कहा—महाराज! और तो कोई फर्क नहीं पड़ा सिर्फ इतना फर्क जरूर पड़ा। जब आप गिरे तब आपके देखा देख विधि पूरी करने लिए हम भी गिर पड़े, पर आपके मुंह में भ्राग आए और हमारे मुंह में भ्राग नहीं आए। देपाला मुनि ने सोचा—ये लोग निरे मूर्ख एवं ज्ञानशून्य हैं। ऐसे लोगों में हमारा काम आसानी से चल सकता है। लोग मुनीवरों के यशोगीत गाते हुए बोले—महाराज बड़े ज्ञानी आए थे पर हमलोगों के अन्तराय का योग था, अतः पहले दिन ही सूत्र की अस्वाध्याय हो गई, अन्यथा न मालूम मुनिश्री कितना ज्ञान देते और हम कितना ज्ञान सीख पाते। पर खैर, हुआ सो हुआ। यों कार्तिक पूर्णिमा भी आई, विहार का समय भी निकट आने लगा। देपाला मुनि बोले—कल विहार होने वाला है। कल से कपड़ा जांचने का कल्प भी आ गया है। लोगों ने कपड़े की भावना भाई। और उन्होंने पर्याप्त मात्रा में कपड़ा जांचा। मार्गशीर्ष कृष्णा एकम को मध्याह्न में विहार होने वाला था। देपाला मुनि बोले—भाइयो! आज दोपहर में सब लोग एक-एक कुंडा गोबर का लेते आए व एक बांस और चार रस्सियां भी मंगाई। गोबर का ढेर लग गया, बीच में बांस रोपा गया, व चार रस्सियां बांध, चार दिशाओं में एक एक आदमी को पकड़ा दी गई। फिर एक आदमी झुक गया। ऐसे ही दूसरे-तीसरे-व चौथे ने किया एवं बांस का झुकाव भी पूर्ववत् उसी तरफ

होने लगा । अब देपाला मुनि ने सब लोगों से पूछा—इस कार्यक्रम से तुम कुछ समझे या नहीं । श्रावक बोले—हम तो कुछ भी नहीं समझे । तब देपाला मुनि ने इस सारे कार्यक्रम के रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहा—तुम सब लोग गोबर के कीले के साथी हो, जिधर खिचाव होता है, उधर ही मुड़ जाते हो । देखो और सुनो—सूत्र का अस्वाध्याय क्या कभी चार महीनों का होता है अर्थात् नहीं होता, पर तुम लोगों ने मेरे कहने से मान लिया । समाई को समाओ, पूंजणो, घड़ो, मालो, पक्खो आदि की तथ्यहीन बातें भी तुम लोगों ने मान ली । प्रतिक्रमण की विधि में तुम लोगों ने कहा कि आपके मुंह में भ्नाग आये व हमारे मुंह में नहीं आये यह अन्तर रहा । भोले भाइयो ! मुझे तो मृगी का रोग था, तुम्हें तो नहीं । इस तरह की अनर्गल व मनघड़न्त बातें भी तुम, बिना किसी ननुनच के मान लेते हो, इसीलिए मैं कहता हूं तुम गोबर के कीले के समान हो । अब सुन लो, मैं कोई साधु नहीं हूं, सिर्फ दुष्काल काटने के लिए ही मैंने सांग रचा है । मैं तो अमुक गांव का देपाला भोजक हूं और ये दोनों सन्त मेरे दो पुत्र हैं । अब मेरे पास और कुछ है नहीं, सिर्फ तुम लोगों का दिया हुआ कपड़ा है, अगर चाहो तो वापिस ले लो । ऐसे गोबर के कीले के साथी मनुष्यों द्वारा ही आचारहीन वेषधारी साधु पूज्य हो सकते हैं न कि ज्ञानी पुरुषों द्वारा ।

(ख) सं. १८५२ के लगभग आचार्य जयमलजी संप्रदाय से गुमानजी, दुर्गादासजी, पेमजी, रतनजी आदि सोलह साधु अलग हो गए । स्थानक, नित्यपिंड, कलाल के घर से पानी लेने आदि कुछ बातों का परित्याग कर उन्होंने नया साधुपन स्वीकार किया, पर पुण्य के विषय में श्रद्धा तो वही थी । तब लोग कहने लगे—जैसे भीखणजी संघ से अलग हुए, वैसे ही ये भी अलग हुए ।

तब स्वामीजी बोले—सिरोही राव के सामन्तों व कामदारों ने विचार किया कि उदयपुर, जयपुर और जोधपुर नरेशों के पास पालकी है । अपने भी पालकी बनाएं । ऐसा सोच, बांस के डांडों को बांध, उस पर छांया करने के लिए ऊपर लाल वस्त्र डाल 'पालका' बनाया । पालकी का बांस तो मुड़ा हुआ होने के कारण टेढ़ा होता है, उस बात को समझ नहीं पाए । उन्होंने जो 'पालका' बनाया, उसमें सीधे बांस डाल दिए । इसलिए वह भद्दा पालका बन गया । वैसे पालके में राव को बिठा हवा खाने को निकले । उसके साथ आगे और पीछे अनेक लोग गांव बाहर तक आए । उस समय खेत के पास वृक्ष की छांया के नीचे उन्होंने विश्राम किया । तब किसान बोले—यहां मत जलाओ ! मत जलाओ । बच्चे और बन्चियां डरेंगे ।

तब रावजी के साथ वाले कर्मचारी बोले—मत बोलो रे, मत बोलो । ये रावजी हैं रे रावजी । तब किसान बोले—बात डूब गई । रावजी मर गए ।

हमने तो सोचा—रावजी की मां मर गई है ।' तब कर्मचारियों ने किसानों से कहा—जयपुर, जोधपुर, उदयपुर वालों के पास पालकी है । इसलिए रावजी के पालका बनाया था अतः रावजी यहां हवा खाने के लिए आये हैं । तब किसान बोले—'इसे 'डोल' (रथी या बैकुंडी) जैसा क्यों बनाया ? स्वामीजी बोले—जैसा सिरोही रावजी का पालका, वैसा ही इनके नए साधुपन का स्वीकार । किन्तु श्रद्धा मिथ्या है । इनमें सम्यक्त्व और चारित्र—दोनों में से एक भी नहीं ।"

१०३. भूतानागतकालयोरधिमुने ! वृत्तं भवान् दर्शयेत्,
तत् कैरीक्षितमाह तं मुनिपतिस्त्वत्पूर्वजशः कथम् ।
सोऽप्याख्यन् मम पुस्तकात् कुलगुरोः स्वाम्याह तावत् तथा,
सद्भिः सलिलखितात् प्रभोः सुसमयाद् व्याख्याम्यऽदृष्टं ह्यपि ॥

किसी समय केलवा में ठाकर मोखमसिहजी ने आचार्य भिक्षु से पूछा—आप भविष्य और अतीत का लेखा, जोखा बतलाते हैं । वह किसने देखा है ?

स्वामीजी बोले—'तुम्हारे बाप, दादे और परदादे हुए । तुम उन पीढ़ियों के नाम और उनकी पुरानी बातें जानते हो, वे सब किसने देखी हैं ?'

तब ठाकुर बोले—'बही भाटों की पोथियों में पुरखों के नाम और बातें लिखी हुई हैं । उनके आधार पर हम जानते हैं ।'

तब स्वामीजी बोले—बही भाटों के झूठ बोलने का त्याग नहीं है । उनकी लिखी हुई बातों को भी तुम सच मानते हो, तब फिर ज्ञानी पुरुषों द्वारा लिखे गए शास्त्र असत्य कैसे होंगे ? वे सत्य ही हैं ।

यह सुनकर ठाकुर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—आपने बहुत अच्छा समाधान किया ।'

१०४. पूःशास्त्रारमुवाच निर्गमय तं भिक्षुं पुरात् सोऽवद-
बीदृग् बुर्णयता कदापि न भवेत् स प्रोज्झ्य तालीः स्थितः ।
मोत्याख्यर्षभबाहकस्य^१ विजयप्राक्सिंहभूपस्य च,
दृष्टान्तप्रतिपादनात् प्रतिगतः प्रोत्थाप्य ताः कुञ्चिकाः ॥

१. भिद० ७ ।

२. बही, ८८ ।

३. शृषभबाहकः—बनजारा ।

स्वामीजी ने पाली में चातुर्मास किया। उस समय एक व्यक्ति ने दुकान के मालिक से कहा—तुम्हें दुगुना किराया देंगे, तुम यह दुकान हमें दो। उस ने कहा—अभी तो यहां स्वामीजी ठहरे हुए हैं। यदि तुम पूरी दुकान को रुपयों से पाट दो तो भी मैं वह तुम्हें नहीं दूंगा। स्वामीजी के बिहार कर जाने के बाद भले तुम ले लेना।' फिर वह हाकिम जेठमलजी के पास जा अपने घर की चाबियां उनके सामने डाल दीं और कहा, या तो यहां भीखणजी रहेंगे या हम रहेंगे।

तब हाकिम बोले—ऐसा अन्याय तो हम नहीं करेंगे। बस्ती में वेश्या और कसाई रहते हैं उन्हें भी हम नहीं निकालते तब भीखणजी को हम कैस निकालेंगे ?

हाकिम ने दृष्टांत दिया—'विजयसिंहजी के राज्य में मोती नाम का बनजारा था उसके लाख बैल थे, इसलिए वह 'लक्खी बनजारा' कहलाता था। वह नमक लेने के लिए मारवाड़ में जाता था। वह लोगों के खेतों को उजाड़ देता। तब राजाजी ने मोती बनजारे से कहा—'जाटों के खेतों को मत उजाड़ो।' मोती बोला—'मैं तो आऊंगा तब ऐसे ही होगा।'

राजाजी ने कहा—'ऐसे ही होगा तो हमारे देश में मत आना। यदि हमारे पास नमक है तो दूसरे बहुत बनजारे आयेंगे। हम किसी को अन्याय नहीं करने देंगे।' इस दृष्टांत के आधार पर हाकिम ने कहा—तुम चले जाओगे तो दूसरे व्यापारियों को लाकर बसा देंगे, किन्तु साधुओं को निकालने का अन्याय नहीं करेंगे। तब वे अपनी चाबियां ले घर चले गए।'

१०५. यूयं भो कतिमूर्त्तयो मुनिपतिः पप्रच्छ वेषोद्धर-

मुक्त्या सोऽपि समीयिष्वान्निजपदं भिन्नोपहास्यं^१ गतः ।

प्रत्यावृत्त्य तथान्वयुग्ं व्रतिर्पाति स्वामी हसित्वाभ्यधाद्,

वेला सा तु गता वयन्त्विह मुदेयन्तो^२ हि सन्तः शुभाः ॥

स्वामीजी ने अन्य संप्रदाय के साधुओं के स्थान पर पूछा—तुम कितनी मूर्तियां हो ? तब उन्होंने कहा—हम इतनी मूर्तियां हैं। स्वामीजी अपने स्थान पर आ गए। पीछे से किमी ने उन साधुओं से कहा—तुम्हें तो भीखणजी ने 'भगत' बना दिया। तब उस अन्य संप्रदाय के साधु ने स्वामीजी के पास आकर पूछा—आप कितनी मूर्तियां हैं ?

१. भिदृ० ९५ ।

२. भिन्नोपहास्यं—अन्यैः पुरुषैरुपहास्यम् ।

३. मुदेयन्तः—मुदा+इयन्तः ।

तब स्वामीजी हंसकर बोले—वह अवसर तो उसी समय था । हम इतने साधु हैं ।^१

१०६. आद्यत् कापि जलस्य भाजनमिदं देयं च पण्यालये,
इत्युक्त्वा प्रतिबुध्यते बुधजनः कान्तं निजं दापयेत् ।
तद्बन्तु साधविसर्जनानुयुजि तन्मौनं च मिश्रेङ्गितं,
पुण्यं वाऽधमुदाहरेन्न हि कथं सामान्यतो ह्यान्यथा ॥

कुछ लोग कहते हैं, 'सावद्य दान के विषय में हम मौन रहते हैं । हम ऐसा नहीं कहते कि तू दे । वे इस प्रकार कहते हैं और उसमें पुण्य और मिश्र का प्रतिपादन करते हैं । इस पर स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—

किसी स्त्री ने कहा—यह लोटा हमारी दुकान में दे देना । समझने वाला मन में जानता है कि उसने वह अपने पति को देने के लिए दिया है ।

इसी प्रकार सावद्य दान के विषय में पूछने पर कहते हैं कि इस विषय में हम मौन हैं । छिपे-छिपे पुण्य और मिश्र का प्रतिपादन करते हैं । समझने वाला जान लेता है कि सावद्य दान के विषय में इनकी पुण्य और मिश्र की मान्यता है ।^२

१०७. यत्सामायिकपारणस्य सुमुनिर्ह्यध्यापयेत् पट्टिकां,
नो तत् पारयतीह कारणमिदं किं स्वामिभिः प्रोच्यते ।
मुक्तो वर्तत एव सम्प्रति नरस्तत् पारितेऽतो न तत्,
दोषालोचनशिक्षणेन च सतां नो दोषपोषो मनाक् ॥

कुछ कहते हैं—साधु सामायिक को पारते नहीं—समाप्त नहीं कराते, तो उसे पूरा कराने का पाठ क्यों सिखलाते हैं ?

तब स्वामीजी बोले—साधु सामायिक को पारते नहीं । एक मूहूर्त के लिए सामायिक किया और एक मूहूर्त का काल पूरा होने पर सामायिक अपने आप पूरा हो गया । उसे पारता है, वह तो दोषों और अतिचारों की आलोचना करता है । वह आलोचना भगवान की आज्ञा में है । इसलिए पारने का पाठ सिखलाते हैं किंतु वर्तमान काल में उसे पारते नहीं हैं, क्योंकि सामायिक पूरा करने पर वह उठकर चला जाएगा । इस दृष्टि से पूरा नहीं कराते । परन्तु दोष की आलोचना कराने और उसका पाठ सिखाने में कोई आपत्ति नहीं है ।^३

१. भिदु० १०२ ।

२. वही, ६१ ।

३. वही, २८६ ।

१०८. चर्चायां प्रतिकूलभाषणमवेक्ष्याल्यच्च कश्चित् प्रभु-

मेतेनालमथो जजल्प तमृषिर्बालः पितुर्मूर्खनि ।

वृक्षात् कूर्चविकर्षकोऽपि स भवेद् बृद्धत्वसुश्रूषकः ।

सम्बुद्धोप्ययमेव भक्तिनिरतः पश्चात् सदा सेवकः ॥

एक व्यक्ति स्वामीजी से चर्चा करते समय अंटसंट बोलता था । तब स्वामीजी से किसी ने कहा—‘महाराज ! अंटसंट बोलता है, उससे आप क्या चर्चा करते हैं ?’

स्वामीजी बोले—‘छोटा बच्चा जब तक नहीं समझता हैं, तब तक वह अपने पिता की मूँछ को खींचता है और उसकी पगड़ी को भी उतार फेंकता है । किन्तु समझ आने के बाद वही अपने पिता की सेवा-चाकरी करता है । इसी प्रकार यह जब तक साधुओं के गुणों को नहीं पहचानता, तब तक अंटसंट बोलता है । गुण की पहिचान होने के बाद यही भाव से भक्ति करेगा और सेवक बन जाएगा ।’

१०९. वर्द्धताव्रतसेकतो व्रतमहो ! तद्वाव्रताशोषतः,

शुष्यात् सुव्रतमंहिपोद्गततस्तुस्तेकप्रहेतोरिव ।

सावद्यापणमौनकृत्सु विहितो हेतुर्मुनेर्मौनिनो,

मौनं तत्र हि वर्तमानविषये बीजं हलप्रान्तिकम्^१ ॥

अहो ! आश्चर्य है कि अव्रत के सिंचन से यदि व्रत बढ़ता है तो अव्रत के शोषण से व्रत का भी शोषण होना चाहिए । अव्रत के सिंचन से व्रत वैसे ही बढ़ता है, जैसे एक नीम पर आम का वृक्ष लग गया । अब नीम को सिंचने से आम का पेड़ भी बढ़ेगा ही । इस बात पर स्वामीजी ने कहा—

(क) कुछ कहते हैं—श्रावक के अव्रत का सिंचन करने से व्रत बढ़ता है । उस पर वे कुहेतु का प्रयोग करते हैं—नीम के पेड़ में आम का पेड़ पैदा हो गया । नीम की जड़ में पानी सिंचने से नीम और आम दोनों ही प्रफुल्लित हो जाते हैं । इसी प्रकार श्रावक के अव्रत का सिंचन करने से व्रत, अव्रत दोनों बढ़ते हैं ।

तब स्वामीजी बोले—इस प्रकार असंयम का सिंचन करने से संयम बढ़ता है, तो उसके अनुसार श्रावक यदि अब्रह्मचर्य का सेवन करता है, वह असंयम का सेवन करता है, उससे संयम भी पुष्ट होना चाहिए । और नीम

१. भिद्० २८७ ।

२. हलप्रान्तिकम्—हलवाणी (दागने के लिए प्रयुक्त लोहदंड) के दोनों छोर ।

की जड़ में अग्नि डालने से नीम और आम दोनों जल जाते हैं, जैसे किसी ने आजीवन ब्रह्मचर्य स्वीकार किया, उसने असंयम को जला डाला, प्रश्नकर्ता के अनुसार उसके संयम और असंयम दोनों जल जाने चाहिए ।^१

(ख) कुछ कहते हैं—सावद्य दान के विषय में पुण्य, पाप और मिश्र होता है, यह नहीं करना चाहिए, इसलिए हम उसके विषय में मौन रखते हैं ।

तब स्वामीजी ने कहा—‘इनका मौन मौनी बाबा का मौन है । कोई मौनी बाबा एक गांव में आया । उसके साथ बहुत सारे चेले थे । वे आटा, घी, गुड़ इत्यादि मुख से बोलकर नहीं मांगते, किन्तु संकेत जताकर मांगते थे । अंगुलियों को ऊंचा कर संकेत करते थे—इतना किलो आटा, इतना किलो घी, इतनी दाल और इतना गुड़ । जब गांव के चौधरी और पटवारी कम देना चाहते हैं तब बाबा अपने चेलों को हूंकार से संकेत कर घरों और दुकानों के छप्पर तुड़वा देता है । तब लोग बोले—यह मौनी बाबा मौन के संकेत की भाषा बोलता है और हूंकार से ही छह काया के जीवों को मरा देता है । यह अनबोला रहकर ही उपद्रव कर रहा है, तो बोलने पर न जाने क्या कर डालता ? स्वामीजी बोले—जैसा उस मौनी बाबा का मौन था वैसा ही इनका सावद्य दान के विषय में मौन है । ये मुख से तो मौन कहते जाते हैं और श्रावक-श्राविकाओं को भोजन कराने में पुण्य और मिश्र की आम्नाय-मान्यता बतलाते हैं । लड्डू खिलाकर दया पालने की प्ररूपणा करते हैं ।’^२

(ग) वर्तमान काल में दिए और लिए जाने वाले सावद्य दान के विषय में पूछने पर भी मुनि को मौन रहना चाहिए, उसमें पुण्य है या पाप ऐसा नहीं कहना चाहिए । इस विषय पर स्वामीजी ने कहा—जब हलवाणी के दोनों किनारे गर्म हो जाते हैं, तब भी उसका मध्य भाग ठंडा रहता है । यदि कोई व्यक्ति उस हलवाणी को इस छोर से अथवा उस छोर से पकड़ना है तो उसके हाथ जल जाते हैं और यदि वह उसको मध्य से पकड़ता है तो के जलने का भय नहीं रहता । इसी प्रकार सावद्य दान में पुण्य कहने से छह काय जीवों की हिंसा का वह भागी होता है और पाप कहने से अन्तराय का भागी होता है । इसलिए वर्तमान काल में हलवाणी के ठंडे मध्यभाग की भांति मौन रहना ही श्रेयस्कर है, जिससे किसी भी प्रकार की दोषापत्ति नहीं होती ।^३

१. भि० २३० ।

२. वही, २३० ।

३. वही, २३५ ।

११०. केचित् कारणतो ह्यशुद्धवदने व्याचक्षते ये श्लथाः,
स्वल्पाहो बहुनिर्जरां च मुनिराट् स्पष्टं तदोदाहरत् ।
कश्चित् क्षत्रियनन्दनो रणमुखाद् भीतो विपक्षैः पला-
येतात्मीयमपोह्य धैर्यममलं शूरः स किं गण्यते ॥

कुछ कहते हैं—रोग आदि कारण की स्थिति में साधु को अशुद्ध आहार ले लेना चाहिए और उस स्थिति में आहार देने वाले श्रावक को पाप अल्प होता है, निर्जरा ज्यादा होती है। तब स्वामीजी बोले—राजपूत का बेटा संग्राम करते-करते भयभीत होकर भाग जाता है तो उसे शूर कैसे कहा जाए ? उसे राजा जागिरदारी कैसे भोगने देगा ? लौकिक वातावरण में उसकी प्रतिष्ठा कैसे सुरक्षित रहेगी ? वह सबमें अपमानित होता है। इसी प्रकार जो भगवान के साधु कहलाते हैं और विशेष कारण की स्थिति में अशुद्ध आहार देने पर अल्प पाप और बहु निर्जरा बतलाते हैं, अशुद्ध आहार देने की स्थापना करते हैं, वे इहलोक और परलोक में दुःखी होते हैं।^१

१११. सन्निधां विरचय्य कुत्सितमतिस्तिष्ठेत् पृथक् निन्दक-
स्तत्राख्यद् वसथागतागतान्यपृतनाद्रव्यादिसंदर्शकः ।
क्षिप्तः प्राह खलो ह्यदशंय महं तत् किं नहीदं त्विद-
मित्थं रोषमदर्शयत् खलु यथा यो वा तथैवात्र सः ॥

कोई साधुओं की निन्दा करता है और अपनी चालाकी के कारण लोगों के सामने अपने आप को प्रकट नहीं होने देता, उस पर स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—किसी गांव में एक चुगलखोर रहता था। एक बार उस गांव में फौजी आए। उसने उन्हें लोगों के धन-धान्य की जानकारी दे दी। कुछ फौजी चले गए और कुछ वहीं ठहर गए। गांव के लोग बाहर भाग गए। कुछ लोग वापस आ गए। लोगों ने सुना कि चुगलखोर ने फौजियों को धन-धान्य के बारे में जानकारी दी है। उन्होंने चुगलखोर को उलहना दिया—अरे, तूने ऐसा काम किया। तब वह फौजियों को सुना कर बोला—यदि मैं फौजियों को जानकारी देता तो अमुक का धन वहां गड़ा हुआ है और अमुक का धन वहां गड़ा हुआ यह सब बता देता। इस प्रकार चालाकी से उसने जो बाकी थे उनके धन की भी जानकारी दे दी। इसी प्रकार जो निन्दक चालाक होता है वह निन्दा करता हुआ भी झूठ बोलकर अपने आपको निन्दा से अलग रख लेता है—निन्दक के रूप में प्रकट होने नहीं देता।^१

११२. द्रव्यं स्थानकहेतवेऽपितमिदं तत्राधिवस्तुः सदा,
कोशो दुर्गन्धतो यथा निवसतां दुर्गोऽधिकाराद् ध्रुवम् ।
कूर्मापुत्रककेवली प्रकुरुते राज्यं प्रभो ! तत् कथं,
साङ्गत्यं न तदाह मोहवशतोऽन्यो मोहसंकीर्णतः ॥

(क) कोई स्थानक के लिए रुपये देने की घोषणा करता है। तब स्वामीजी बोले—‘ये रुपये जो स्थानक में रहते हैं, उन्हीं के मानने चाहिए।’ इस विषय को समझाने के लिए स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—‘अमुक गढ में इतना खजाना है। खजाना गढपति का ही होता है। इसी प्रकार स्थानक के निमित्त जो रुपये हैं, वह परिग्रह स्थानक में रहने वालों का ही मानना चाहिए।’

(ख) सं. १८५५ की घटना है। स्वामीजी ने चार साधुओं के साथ खैरवा में चौमासा किया। वहाँ पर्युषण के दिनों में कुछ श्रावक गच्छवासियों के पास व्याख्यान सुन वापिस स्वामीजी के पास आये और कहने लगे—स्वामीनाथ ! आज हमने उपाश्रय में व्याख्यान सुना, उसमें ऐसी बात कही गई—कूर्मापुत्र ने केवली होने के बाद छह मास तक राज्य किया था। उस अवधि में कुछ साधु उनके पास आकर खड़े हो गए, पर उन्होंने बन्दना नहीं की।

तब कूर्मापुत्र बोले—मुझे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, फिर तुम बन्दना नहीं करते हो, इसका क्या कारण ? तब साधु बोले—आप केवली हैं, परंतु आप गृहस्थ के वेष में हैं, इसलिए हमने वंदना नहीं की।

तब कूर्मापुत्र बोला—तुमने ठीक कहा। अब मैं इस बात को समझ गया हूँ।

यह बात हमने उपाश्रय में सुनी है। क्या यह सच है ? तब स्वामीजी बोले—इस बात की संगति नहीं बैठती। जो राज्य भोगता है वह मोहकर्म का उदय है और केवली मोहकर्म को क्षीण करके होता है। केवली होने के बाद राज्य कैसे भोगेगा ?

११३. धीरं टोडरमल्लसाधुरवदद् व्याख्याति भिक्षुस्त्विदं,
स्वल्पागः क्षयति व्रतानियतिनां तच्चेच्च पार्श्वप्रभोः ।
साध्यः कज्जलधावनाऽर्मकगणक्रीडादिबोधादिता
हन्त्राण्यः प्रविभूय चैकमवतो गन्धः शिवं ताः कथम् ॥

११४. धीरः प्रत्यगदत् तदेव्य च तथा शिष्या निजार्थास्ततः,
 तद्वत् स्युः स तमाह मूर्ख ! तनुयादित्थं हि किं त्वं शृणु ।
 धीरः प्रत्यगदत् प्रशंसयति किं तेनाध्वना तास्तदा,
 सत्या भिक्षुगिरो भवन्ति सुतरां व्यर्थं हि किं व्यज्यते ॥ (युग्मम्)

जेतारण में धीरज पोकरणा रहता था । मुनि टोडरमलजी ने उससे कहा—भीखणजी कहते हैं कि थोड़े दोष से साधुपन टूट जाता है । यदि इस प्रकार साधुपन टूट जाए तो पार्श्वनाथ की साध्वियां हाथ-पैर धोती थीं, आंखों में अञ्जन आंजती थीं, बालकों को खेल खेलाती थीं, वे भी मरकर इन्द्राणियां हुईं और एकावतारी हुईं । तब धीरजी पोकरणा ने कहा—पूज्यजी ! आप अपनी साध्वियों से वैसा ही करवाएं । आंखों में अञ्जन आंजने, हाथ-पैर धोने और बालकों को खेलाने की अनुमति दें, जिससे वे भी एकावतारी हो जाएं । तब मुनि टोडरमलजी ने कहा—रे मूर्ख ! हम ऐसा काम क्यों करेंगे ? तब धीरजी बोला—यदि आप ऐसा काम नहीं करते हैं तो उनकी सराहना क्यों करते हैं ? इस प्रकार आचार्य भिक्षु की वाणी सदा सत्य होती ।

११५. कुलक्षयो बहुराग एष जगतां द्वेषः सुलक्ष्यः सदा,
 निन्द्यो मारव ईहितापक इलारलाध्यः शिशुः स्थूलतः ।
 पीडा किं भ्रमणस्य मूर्धनि दुषत् क्षिप्ता न किं वा पतेद्,
 वेषिभ्यः कियदन्तरं प्रतिवचोऽकारस्य चैकस्य वै ॥

(क) राग-द्वेष की पहिचान करने के लिए स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—कोई बच्चे के सिर पर मारता है, तब लोग उसे उलाहना देते हैं—भले आदमी ! बच्चे के सिर पर क्यों मारता है ? और किसी ने बच्चे को लड्डू दिया उसे कोई नहीं बरजता । राग को पहिचानना कठिन है और द्वेष को पहिचानना सरल है ।

(ख) किसी ने पूछा—महाराज ! साधुओं के बीमारी क्यों आती है ? स्वामीजी बोले—किसी आदमी ने पत्थर को आकाश की ओर उछाला, शिर उसके नीचे कर दिया, भविष्य में पत्थर उछालने का परित्याग किया, किन्तु पहले जो पत्थर उछाला है उसकी चोट तो लगेगी ही । फिर पत्थर नहीं उछालेगा तो चोट नहीं लगेगी । ऐसे ही पाप कर्म का बन्ध किया उसको तो भुगतना ही पड़ेगा । बाद में पाप का परित्याग कर लिया तो उसे दुःख नहीं भुगतना पड़ेगा ।

१. भिदु. ३११ ।

२. बही, ६ ।

३. बही, १२२ ।

(ग) किसी ने पूछा—आपके और अमुक संप्रदाय वालों में क्या अन्तर है ? स्वामीजी बोले—एक अक्षर का अन्तर है, एक अकार का अन्तर है ।^१

११६. देवाङ्म्बरिवीतचक्षुरवदत् कश्चित् कुलालो ह्यमुं,
गेहस्थं हृतभूषणस्य कुरुते कस्मिंश्च शङ्कां भवान् ।
तेनोक्ताऽऽह्वयलः^२ सुराश्रिततया शाठ्यप्रकाशस्ततः,
आत्ताडयो जटिलस्य कस्यचिद्वजः सोऽभून् मज्जन्यामिधः ॥

भीखणजी घर में थे तब उनके गांव कंटालिया में कोई चोर किसी का गहना चुराकर ले गया तब बोरनदी गांव से एक अन्धे कुम्हार को बुलाया । उसके शरीर में देवता आता है, ऐसा कहा जाता था । इस दृष्टि से उसे चोरी किए गए गहने का पता लगाने के लिए बुलाया । उस कुम्हार ने स्वामीजी से पूछा—भीखणजी ! यहां किस पर बहम किया जाता है ? तब स्वामीजी ने उसकी ठगाई को प्रकट करने के लिए कहा—‘बहम तो मजनों पर किया जा रहा है ।’ रात का समय हुआ । अन्धे कुम्हार ने अपने शरीर में देवता का प्रवेश कराया । बहुत लोगों के सामने वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा—‘डाल दे, डाल दे रे गहना ।’ लोग बोले—‘चोर का नाम बताओ ।’ तब वह बोला—‘ओ ! ओ ! मजनों रे मजनों ! गहना मजनों ने लिया है ।’ वहां एक अतीत (संन्यसी) बैठा था । वह अपना घोटा लेकर उठा और बोला—‘मजनों तो मेरे बकरे का नाम है । उस पर तुम चोरी का आरोप लगते हो ? तब लोगों ने जान लिया, यह ठगी है स्वामीजी ने लोगों से कहा—‘तुम आंख वालों ने तो गहना खोया और अन्धे से निकलवाना चाहते हो, तब वह गहना कहां से आएगा ?’^३

११७. पीपाराह्यपुरेऽभ्यघान्मुनिवरं काचिद् रुचिर्भक्षवी,
ह्यात्ता चामुकया ततोऽत्र विधवा जाताऽथ तां व्याहरत् ।
त्वं बाला त्वतिनिन्दिका तव धवः कस्मान्मृतो वाच्यता-
मन्याभिर्विदिता स एष इति सा म्लानानना लज्जिता ॥

पीपाड़ में स्वामीजी गोचरी पधारे । एक बहिन ने कहा—‘अमुक बहिन ने भीखणजी की मान्यता स्वीकार की, उससे उसका पति मर गया ।’ तब स्वामीजी बोले—‘बहिन ! तू भी अवस्था में छोटी लगती है ।

१. भिदृ० २१५ ।

२. तेनोक्तमाह्वयः लातीति—तेनोक्ताह्वयलः ।

३. भिदृ. १०९ ।

तू तो भीखणजी की निन्दा ही निन्दा करती है, फिर तेरा पति कैसे मर गया ?'

तब पास में खड़ी बहिन ने कहा—'भीखणजी ये ही हैं।' तब वह लज्जित होकर वहां से भाग गई।'

११८. ये विद्रोहकराः परस्परमिहेज्यं वीक्ष्य सम्मील्य ते,

सर्वे द्वेषकरा भवन्ति युगपद्वेतुः प्रवृत्तोत्र तैः ।

अन्योन्यानिशघोरयोद्ध भषणा दृष्ट्वा सघण्टं गजं,

ते वृक्कन्ति न किं समे समुद्रिताः किन्तु प्रजायेत किम् ॥

एक बड़े संप्रदाय के साधु विभिन्न छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट गए। वे परस्पर विद्रोह करते हैं, लड़ते-झगड़ते हैं। परन्तु जब भीखणजी से विरोध करने का अवसर आता है तब वे सब एक होकर विरोध करने लगते हैं। किसी ने पूछा—इसका कारण क्या है? तब स्वामीजी ने कहा—एक मोहल्ले के कुत्ते दूसरे मोहल्ले के कुत्ते से सदा लड़ते रहते हैं। दूसरे को अपनी सीमा में आने नहीं देते। परन्तु जब घंटाधारी हाथी उधर से गुजरता है तब वे सब एक होकर उसके पीछे भाँकते रहते हैं। उनमें कभी एकता नहीं थी, पर हाथी के आने पर वे एक हो जाते हैं। परन्तु इतना होने पर भी हाथी का क्या बिगड़ता है ?'

११९. दृष्ट्वा स्वान् रुदतो ममापि मुनिराडाऽऽयाति यद् रोदनं,

दीक्षाप्राहकमाह मोहितमते ! त्वं नासि योग्यो यतः ।

मातुर्मन्दिरमोचिनीं प्ररुदतीं नद्यां वधूं वीक्ष्य यः,

कान्तोऽपि श्वसुरालयं प्रतिगतो ख्याच्च किं तद् वरम् ॥

एक व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा—'महाराज ! मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ, परन्तु मेरे में एक कमजोरी है। जब मैं अपने सगे-संबंधियों को रोता देखना हूँ तो मुझे भी रोना आ जाता है।' आचार्य भिक्षु ने तब उस मोहग्रस्त श्रावक से कहा—इस दृष्टि से तुम दीक्षा के योग्य नहीं हो। देखो दामाद अपनी पत्नी को लेने ससुराल जाता है। तब पीहर को छोड़ते समय वह नई वधू रोती है। यह सामान्य बात है। परन्तु उसको रोती देखकर दामाद भी रोने लग जाए तो कितना बुरा लमता है? इसी प्रकार कोई साधु बनता है तो सगे-संबंधी रोते हैं' यह तो उनका अपना स्वार्थ है, परन्तु उनके साथ-साथ दीक्षार्थी भी रोने लग जाए तो कितना बुरा लगता है ?'

१. भिदृ. ३८ ।

२. वही, २४१ ।

३. वही, ३७ ।

११०. कश्चित् पुण्यरुचिर्व्यनक्ति न शुभा श्रद्धा हि मिश्रस्य भोः,
कस्यैकं स्फुटितं च चक्षुरमलं कस्य द्वयं स्वाम्यवक् ।
वैराग्यान्वितभारती स्वयमहो वैराग्यमुत्पादये-
वार्त्ताभूतकुसुम्भकेन सुतरां रज्यन्त एवाऽपरे ॥

(क) उस समय दो प्रकार की मान्यताएं प्रचलित थीं—पुण्य की मान्यता और मिश्र (पुण्य-पाप) की मान्यता । एक बार पुण्य की मान्यता वाले ने स्वामीजी से कहा—मिश्र की मान्यता अच्छी नहीं है । स्वामीजी बोले—भाई ! किसी की एक आंख फूटी है और किसी की दोनों । न पुण्य की मान्यता उचित है और न मिश्र की मान्यता । पुण्य की मान्यता वालों की एक आंख फूटी है और मिश्र की मान्यता वालों की दोनों ।^१

(ख) वैराग्य से ओतप्रोत वाणी ही वैराग्य को उत्पन्न कर सकती है । कुसुंभा स्वयं गलकर ही दूसरों पर रंग चढ़ा सकता है । इसी प्रकार वैराग्य से ओतप्रोत मुनि ही दूसरों को विरक्ति के पथ पर अग्रसर कर सकते हैं ।^२

१२१. काक्वा केन मुनीश्वरो निगदितः किञ्चित् सच्चित्तरमा,
संघट्टोपगतात् कथं कथमपि स्वागच्छतो वित्तया ।
नादत्तेऽथ परन्त्वनादृतमुखैर्वार्योरसंख्याऽसुमन्,
निधनहातृकरान्नु लाति खलु तच्चित्रं ततः प्रोच्यते ॥

१२२. हेलानिन्दनखिसनावमननैर्गालीर्द्वानाद यदा,
कल्पेत ग्रहणं मुनेर्ननु स किं संवीत बक्त्रोऽर्पयेत् ।
तद्वत् तत् यदि वाऽभ्युपेत वितरेत् सत्काययोगस्तदा,
सोऽशुद्धो नहि युज्यते वितरणं कायस्य कार्यं यतः ॥ (युग्मम्)

किसी ने व्यंग्य की भाषा में स्वामीजी से कहा—महाराज ! कोई श्रावक साधु को दान देने की इच्छा से आता है और यदि सचित्त वस्तु का किञ्चित् भी स्पर्श हो जाता है तो उस व्यक्ति के हाथ से कुछ भी दान नहीं लिया जाता । यह ठीक है, किन्तु खुले मुंह बोलने वाला व्यक्ति, जो वायुकाय के असंख्य जीवों का हनन करता है, उसके हाथ से दान ले लिया जाता है । यह क्या संगत है ?

इसके समाधान में स्वामीजी ने कहा—कुछेक जैन मुनि ऐसी प्रतिज्ञा ग्रहण करते हैं कि यदि दाता निंदा, खिसना, अपमान, गाली तिरस्कार पूर्वक दान देगा तो ग्रहण कलंगा, अन्यथा नहीं । प्रश्न होता है कि क्या गाली देने वाला मुंह पर कपड़ा लगाकर यतनापूर्वक गाली देगा ? दान देने में बैठा

१. भिदु. १२६ ।

२. वही, २२४ ।

मनुष्य अशुद्ध या अयोग्य नहीं माना जाता क्योंकि गाली आदि देना वचन का प्रयोग है और दान देना काया की प्रवृत्ति है। इस प्रकार वाचिक अयतना के कारण दाता के हाथ से भिक्षा अग्राह्य नहीं होती। कायिक अयतना का विचार ही दान में मुख्य होता है।^१

१२३. कश्चित् सन्नुपयोगविस्मृतिवशात् कुर्यात् क्षतिं किंतु तन्,
नीतावन्तरमस्ति नो नहि मनाग् दोषानुसेवेच्छुकः ।
भव्यान् बोधयितुं विशेषसरलो दृष्टान्त एकः समैः,
ज्ञेयो धान्यकणस्य तत्र विहितः श्रीभिक्षुणा भिक्षुणा ॥

१२४. दृष्ट्वा धान्यकणं कदापि गुरुणा प्रोक्तश्च कश्चिन् मुनिः
पश्यंतत् पतितं कणं तदुपरि क्षेप्यो न पादस्त्वया ।
ॐ तेनोऽभिमतं क्षणेन चरणन्यासे स सञ्चेतितो,
जातं विस्मरणं गुरो ! मम महत् तेनाभ्यघायि द्रुतम् ॥

१२५. अग्रे ध्यानमतीवरक्षितुमनाः किंत्वंह्लिपातः पुनः,
सोऽप्युद्विक्त आह तं गुरुरदस्त्याज्या त्रुटौ विकृतिः ।
ध्यानं रक्षयतोऽपि चङ्क्रमणतः पादो विलग्नः पुन-
रित्थं विस्मरणेन तत्र कतिधा जाता क्रमस्पर्शना ॥

१२६. तद् वाञ्छा न कदापि नैव विकृतेस्त्यागेऽनुरागी तथा,
किन्त्वेवं मनसोऽस्थिरान् मुहुरभूत् कर्मोदयात् विस्मृतेः ।
इच्छादोषनिषेवेनस्य न ततो दोषस्य नो स्थापना,
शुद्धानीतिरतस्तथा मुनिगणा लोके सदा शाश्वताः ॥

१२७. निर्घ्नन्थाः प्रतिसेविनश्च शबला ये तादृशास्तैः समं,
सर्वज्ञप्रमुखा अपि व्रतभृतस्तिष्ठन्ति सन्नीतितः ।
ज्ञात्वा ये प्रतिसेविनश्च शबलास्ते दोषसंस्थापकाः,
सम्भोगं परिरक्षितुं गुणिसतां नो कल्पते तैरमा ॥

(पञ्चभिः कलापकम्)

कोई मुनि उपयोग की विस्मृति के कारण बार-बार त्रुटि करता है, परन्तु यदि उसकी नीति में तनिक-सा भी अन्तर नहीं है तथा वह दोष-सेवन का इच्छुक भी नहीं है तो वह किसी भी प्रकार से असाधु नहीं माना जा सकता। उसको जो व्यक्ति असाधु मानते हैं उनको प्रतिबोध देने के लिए आचार्य भिक्षु ने धान्यकण का एक सरल दृष्टान्त दिया। वह दृष्टान्त सबके

लिए मननीय है ।

स्वामीजी ने कहा—‘अनाज का कण पड़ा हुआ देखकर किसी साधु से गुरु ने कहा—यह अनाज का कण पड़ा है, इस पर पैर मत रखना । तब वह बोला—स्वामीनाथ ! पैर नहीं रखूंगा । थोड़ी देर बाद इधर-उधर घूमता हुआ आया और उस अनाज के कण पर पैर रख दिया । गुरु ने कहा—अब यदि पुनः त्रुटि हो जाए तो तुम्हें विगय का वर्जन करना होगा । वह सावधान हो गया । पर पुनः विस्मृति तथा असावधानी के कारण उसका पैर बार-बार धान्यकण पर पड़ता गया । उसकी इच्छा नहीं थी कि वह धान्य कण पर पैर रखे और न विकृतिवर्जन के प्रति उसका अनुराग था । किंतु कर्मों के उदय से, मन की अस्थिरता से और विस्मृति के कारण उस धान्य-कण का बार-बार स्पर्श होता था । किंतु दोष सेवन की उसकी तनिक भी इच्छा नहीं थी, दोष की स्थापना भी नहीं थी, अतः उसकी नीति शुद्ध थी । इस प्रकार की स्खलना करने वाले शुद्ध नीति वाले मुनिगण यहां शाश्वत प्राप्त होते हैं ।

जो निर्ग्रन्थ अपने संयम को शबल—चितकबरा किए हुए हैं, तथा जो दोषों का बार-बार सेवन करते हैं वैसे मुनि तथा अन्य मुनि जिनकी नीति शुद्ध है, वे अन्यान्य विशिष्ट मुनियों के साथ रहते हैं । परन्तु जो जानबूझकर शबल तथा प्रतिसेवी होते हैं वे वस्तुतः दोष की स्थापना करने वाले होते हैं । उनके साथ सद् आचार वाले साधुओं को रहना नहीं कल्पता । उनके साथ संभोज का व्यवहार नहीं हो सकता ।’

१२८. आदातुर्यदि पातकं स्फुटतरं दातुस्तदेव ध्रुवं,

प्राक् सर्वाऽऽग्रहणप्रमोक्षणफलं तस्यैव कृत्स्ना क्रिया ।

शस्त्रक्षेप्तृसहायका इव सदा नो तत्फलैर्बञ्चिता,

वक्तुं नार्हति शस्त्रमुक् च यदहं तद्घातभागी न हि ॥

जहां लेने वाले को पाप लगता है तो देने वाले को निश्चित ही पाप लगेगा । दाता सबसे पहले देने के लिए वस्तु को ग्रहण करता है, अर्जन करता है, अर्पण करता है और फिर आरम्भजन्य प्रवृत्तियां चालू होती हैं । इन सब पापमय क्रियाओं का संचालक अर्पणकर्त्ता है । शस्त्र-निर्माता शस्त्र चलाने वाले का सहयोगी बनता है । वह उस हिंसा के फल से बंचित नहीं रह सकता । शस्त्रनिर्माता और शस्त्रप्रयोक्ता—दोनों यह नहीं कह सकते कि हम उससे होने वाली हिंसा के भागी नहीं हैं । इसी प्रकार असंयमी को असंयम-वर्धक साधन देने वाला दाता उस पाप से बच नहीं सकता ।’

१. भिदू० २१४ ।

२. वही, ३ ।

१२९. काप्युचे दयितो लिखेन् मम च तन्नाध्येतुमन्यः क्षमः,
 सोऽपि स्वाङ्कितमीश्वरो न पठितुं प्रावक् परा मे पतिः ।
 इत्थं स्वीयगिरां स्वयं हि मनुजा अज्ञा भवेयुः शठा-
 स्तेषां केवलभाषितो वरवृषो दुर्लक्ष्य एवाऽनिरागम् ॥

एक बहिन बोली—मेरा पति ऐसे अक्षर लिखता है, जिन्हें कोई दूसरा पढ़ नहीं सकता ।’ दूसरी बोली—‘मेरा पति ऐसा लिखता है, जो स्वयं का लिखा हुआ स्वयं ही नहीं पढ़ सकता ।’ स्वामीजी ने कहा—जगत् में ऐसे बुद्धि-हीन हैं, जो स्वयं की भाषा से स्वयं अनभिज्ञ रहते हैं, ऐसे लोग केवलभाषित धर्म को कैसे पहिचान सकते हैं ? उनके लिए वह धर्म सदा दुर्लक्ष्य ही रहता है ।’

१३०. केनाऽजलिपि मुने ! फलं वरतरं ग्राह्यं तदा सन्नवक्,
 श्रेष्ठेयं तव भावना परमिदं दातो ! न मे कल्पते ।
 तत्त्वज्ञो विनयोऽवदद् यदि वरा कल्पातिरिक्तस्य सा,
 तन्नायाः परिभाषिताऽपि च शुभा स्यात् किन्तु नो कश्चित् ॥

एक गृहस्थ ने मुनि को कहा—‘महाराज ! यह श्रेष्ठ आन्नफल है । आप इसे ग्रहण करें ।’ मुनि बोले—‘तुम्हारी भावना अच्छी है, परन्तु यह फल सचित्त है । ऐसा सचित्त फल हमें लेना नहीं कल्पता ।’ यह सुनकर एक तत्त्वज्ञ शिष्य ने कहा—‘महाराज ! यदि अकल्पनीय वस्तु को देने की भावना शुभ है तो साधु को स्त्री अपित करने की भावना भी शुभ होनी चाहिए । ऐसा कभी हो नहीं सकता ।

१३१. चर्चाभिर्विदितो जडोयमधिकः कश्चित्तथापि प्रभु-
 नृन्नो बोधयितुं तमेव तमवक् योग्यो न मे भासते ।
 दालिर्मुद्गमकुण्डकस्य च भवेत् गोधूमघान्यस्य नो,
 तद्वद् भव्यविदेकिनो गमयितुं शक्तास्तदन्ये न हि ॥

स्वामीजी किसी से चर्चा कर रहे थे, तब उन्होंने देखा कि इसकी बुद्धि कमजोर है, यह जड़ है । लोगों ने कहा—स्वामीजी ! आप इसे समझाइए । तब स्वामीजी बोले—मूंग, मोठ और चने की दाल हो सकती है, पर गेहूं की दाल नहीं हो सकती । इसी प्रकार जिसके कर्म का लेप कम होता है और जो बुद्धिमान होता है वह समझ सकता है किंतु बुद्धि से हीन आदमी समझ नहीं सकता ।’

१३२. केनाऽवाचि भवान् यतेत यदि तद् बोद्धुं प्रयोग्या भुवि,
भूयांसो भविनस्तथा प्रकथकं तं भिक्षुराख्यत् तथा ।
लोष्ठान् प्रतिमोपमानि भवितुं खानो परं भूरिश-
स्तावन्तो नहि शिल्पिनस्तदिव नो सम्बोधकास्तन्मिताः ॥

किसी ने कहा—आप उद्यम करें तो संसार में ऐसे अनेक सुलभबोधि जीव हैं जो समझ सकते हैं ।’ स्वामीजी बोले—मकराणा के खान के पत्थर में प्रतिमा होने की श्रमता तो है, पर हर पत्थर को प्रतिमा बनाने के लिए जितने कारीगर चाहिए उतने नहीं हैं । इसी प्रकार समझ सकने वाले तो बहुत हैं पर उतने समझाने वाले नहीं हैं ।’

१३३. औत्सुक्यात् प्रणिपत्य काऽपि मुनिपं प्रोचे च मां श्रावय,
धर्मं मङ्गलमाशु तं प्रशमतः स्वाम्याह सम्मोदवान् ।
अङ्गं पञ्चममुत्तमं भगवती या वाच्यमानाऽधुना,
ब्रूयाणा किममङ्गलं तदपि स ब्रूते तदर्थं पुनः ॥

१३४. प्रत्यून्ने तमृषिर्जगच्छकुनवच्छ्रोतुं तवेच्छा तदा,
वाञ्छा तच्छ्रवणप्रयोजनमिदं व्याख्यायते तच्छृणु ।
योगान् संपरिवर्तितुं शुभतया कर्मोघनाशाय च,
स्मर्तुं ध्यातुमनन्तरं सुकृतये श्रव्यं हि तन्मङ्गलम् ॥ (युगमम्)

एक व्यक्ति उत्सुकतापूर्वक आचार्य भिक्षु के पास आया, वंदन कर बोला—‘महाराज ! मुझे ‘धम्मो मंगल’ सुनाइए ।’ आचार्य भिक्षु ने प्रसन्नतापूर्वक शांतभाव से उस व्यक्ति से कहा - मैं अभी पांचवां अंग भगवती सूत्र का वाचन कर रहा हूँ । तुम उसे सुनो । क्या वह अमंगल है ?’ इतना कहने पर भी वह व्यक्ति ‘धम्मो मंगल’ सुनाने का आग्रह करने लगा । तब उसे स्वामीजी ने कहा—जैसे लोग ग्रामान्तर जाते हुए शकुन लेते हैं, वैसे ही यदि तुम ‘धम्मो मंगल’ सुनना चाहते हो तो वह इच्छा इच्छा नहीं है । मंगल सुनने का प्रयोजन यह है कि योगों का शुभ में परिवर्तन हो तथा कर्मों की निर्जरा हो । यथार्थ में निर्जरा के लिए स्मरण, चिंतन करना ही मंगल सुनने का प्रयोजन है ।’

१३५. आसोजीं वृषदेशनासु मुनिराड् निद्रां नयन्तं मुहु-

स्तं पृच्छन् ननकारमेव कुरुतेऽप्राक्षीत् पुनस्तं तथा ।

जीवन्नस्ति न बाऽलपत्तदिव नो स्वामी महाविस्मितो-

ऽसत्यं स्पष्टयितुं क्षति क्षपयितुं बुद्ध्याऽप्यतिष्ठ स्वयम् ।

श्रावक आसोजी स्वामीजी का व्याख्यान सुन रहे थे । उन्हें नींद बहुत आ रही थी । आचार्य भिक्षु ने पूछा—आसोजी ! नींद ले रहे हो ? उन्होंने कहा— नहीं महाराज ! ऐसा पूछने पर वे सदा नकारते ही रहे । तब आचार्य भिक्षु ने उन्हें युक्तिपूर्वक समझाने, उनके असत्य को स्पष्ट करने, उनकी त्रुटि को मिटाने के लिए बुद्धिपूर्वक पूछा—‘आसोजी ! तुम जी रहे हो ?’ तब स्वभावानुसार आसोजी बोल उठे—‘नहीं स्वामीनाथ ! यह सुन कर आचार्य भिक्षु तथा तत्रस्थ लोग अत्यन्त विस्मित हुए ।’

१३६. कैश्चिज्जीवितरक्षितेन कलुषं यद् यद् यदा मुच्यते,

पश्चाद् रक्षयितुः प्रणक्ति सततं तद् तद् भवन्मान्यता ।

नेदं मे मननं च भिक्षुरबदद् यावज्जिनेर्वीक्षितं,

तावत्तस्य तदेव शीघ्रमलगच्छद्भानमेतन्मम ॥

१३७. श्रद्धा वो हि तथा विद्या ननु यथा चाग्रे तपःकारिणो,

यूयं भोजयथात्र भोक्तृतपसो लाभगमं लिप्सवः ।

भोक्तुः सम्प्रति यद् भवेत् समयतस्तद् भोजकस्यैव च,

पश्चाद् यः सुकृतं करिष्यति फलं तस्यैव नान्यस्य तत् ॥ (युग्मम्)

एक व्यक्ति ने कहा—‘भीखनजी ! आपका यह मानना है कि कोई व्यक्ति प्राणी को बचाता है और वह रक्षित प्राणी आगे जो-जो पाप करेगा वह पाप उसकी रक्षा करने वाले को सतत लगता रहेगा ।’ यह सुनकर स्वामीजी बोले—मेरी ऐसी मान्यता नहीं है । मेरी तो मान्यता यह है कि जिनेश्वर भगवान् ने जो देखा है उतना पाप उसको तब ही लग चुका । यह तो तुम्हारी मान्यता है कि तपस्या से पूर्व कराई जाने वाली ‘धारणा’ से आगे की जाने वाली तपस्या का लाभ हमें मिलेगा । यह मान्यता मिथ्या है । खाने वाले को वर्तमान में जो होता है, वह खिलाने वाले को भी होता है । बाद में जो धर्म-कर्म करेगा, उसका फल उसी को मिलेगा, दूसरों को नहीं ।^१

१. भिदू० ४८ ।

२. वही, १५५ ।

१३८. कश्चित् सत्सविधेऽगमत् स्थितिवशाद् विस्मृत्य रूपाण्यप्युक्,
तान्याऽद्या गतोऽन्यना मुनिवरं पप्रच्छ विस्मारकः ।
सन्तः किञ्च न वेदयन्ति मृतवद् गार्हस्थ्यकार्याय ते,
धर्मं ते हि सहायका न हि पुनः सावद्यसारम्भके ॥

आचार्य भिक्षु प्रवचन कर रहे थे । एक व्यक्ति वहां आया और परिस्थितिवश पांच रुपये वहां भूलकर चला गया । इतने में ही दूसरा व्यक्ति उन रुपयों को उठाकर ले गया । संतों ने देख लिया । पहले व्यक्ति ने आकर संतो से पूछा -- मेरे रुपये कहां गए ? संत सब कुछ जानते हुए भी उसे कुछ नहीं बताते । वे गृहस्थ के कार्य के लिए मृतवत् हैं । वे केवल धर्म-कार्य में ही सहायक बनते हैं, न कि सावद्य और हिसायुक्त कार्यों में ।

१३९. पक्वान्ानि विभुज्य तान्यतिकटून्याऽह ज्वरी जेमकान्,
श्रोतारो ब्रुवतेऽथ ते ज्वरवशादिष्टान्यनिष्टान्यहो ।
इत्थं तत् कुगुरोर्बलाग्रहवतां रुच्या न सत्साधवः,
मिथ्यात्वामयतोऽथवा सद्बसतोः सद्बोधबैकल्यतः ॥

कुगुरु के पक्षपाती को साधु अच्छे नहीं लगते । इस विषय को समझाने के लिए स्वामीजी ने दृष्टांत दिया -- एक ज्वरग्रस्त आदमी किसी जीमनवार में भोजन करने गया । वह दूसरे लोगों से कहने लगा -- पकवान बहुत कड़वे बनाए । तब लोग बोले -- हमें तो अच्छे लगते हैं । तुम्हें कड़वे लगते हैं तो पता चलता है कि तुम्हारे शरीर में ज्वर है । इसी प्रकार जिसमें कुगुरु के दल (पक्ष) का आग्रह है, मिथ्यात्वरूपी रोग है तथा जो सद्बोध से विकल है उसे सत् साधु अच्छे नहीं लगते ।

१४०. मिथ्यात्वं परिहर्तुमेव मुनिभिर्वृष्टान्तसद्देतवो,
दीयन्ते तत आह कोऽपि सरलः कोऽर्थश्च तैः तैः प्रभो !
भिक्षुस्तं प्रति संजगौ किमु लगेल्लक्ष्यं विना गोलिका,
श्रुत्वा सोऽति जहर्षं हृष्टमनसा सद्गौरवं गायति ॥

मिथ्यात्व को मिटाने के लिए स्वामीजी हेतु, युक्ति और दृष्टांत देते थे । तब किसी ने पूछा -- आप इतने हेतु, युक्ति और दृष्टांत का प्रयोग क्यों करते हैं ?

तब स्वामीजी बोले -- चोट निशाने पर लगती है । उसके बिना चोट कहां की जाए ? इसी प्रकार मिथ्यात्व को नष्ट करने के लिए हम हेतु,

युक्ति और दृष्टांत का प्रयोग करते हैं। यह सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुआ और मन ही मन भिक्षु का गौरव गाता हुआ घर गया।^१

१४१. रोगाक्तं विलपन्तमाह मुनिराङ् नैवं विधेयं त्वया,
मौलौ कस्य ऋणं न दित्सुरपरो जग्राह शक्त्या ततः ।
मूर्खः सीदति भोदतेऽत्र निपुणो जातोऽनृणीत्थं बुद्धे-
श्चिन्त्यं मे कृतकर्मनिर्झरणकं रक्ष्यं समत्वं ततः ॥

एक व्यक्ति बीमार था। वह विलाप कर रहा था। स्वामीजी ने कहा—‘तुम्हें इस प्रकार विलाप नहीं करना चाहिए। ऐसे सोचना चाहिए, किसी के सिर पर ऋण का भार है। वह ऋण चुकाना नहीं चाहता। ऋणदाता तब बलपूर्वक उससे अपनी पूंजी वसूल लेता है। ऐसा होने पर मूर्ख व्यक्ति दुःखी होता है और समझदार व्यक्ति यह सोचता है कि अच्छा हुआ, ऋण का भार उतर गया, मैं हल्का हो गया। इसी प्रकार बीमारी में भी यही सोचना चाहिए कि मुझे कर्म-निर्झरा का अवसर प्राप्त हुआ है। मुझे इस बीमारी को पूरी समता से सहन करना है।’ यह है सम्यक् सोच।^१

१४२. गन्त्रीचक्रयुगान्तरे शिशुशः स्थानं व्यधात् तद् बहु-
यातायातहतोऽपि तत्त्यजति नो नुन्नो नरः सञ्जनैः ।
तद्वत् तत्त्वश्चे रहस्यमचलं स्वान्ते निविष्टं परं,
स्नेहास्रो कुगुरुन् जहात्यपि तथा वेदगध्यमेतन्न हि ॥

आचार्य भिक्षु ने कहा—‘बैलगाड़ी के दो पहियों के आने-जाने की लीक के बीच में किसी खरगोश ने अपना घर बसाया। बैलगाड़ियों के आते जाते समय उस खरगोश के सिर पर गाड़ी के नीचे बंधी हुई रस्सी की चोट लगती। फिर भी वह उस स्थान को नहीं छोड़ता था।

इतने में दूसरे खरगोश ने कहा—‘यहां तुम्हारे सिर पर चोट लगती है, इसलिए इस स्थान को तुम छोड़ दो।’ वहां रहने वाला खरगोश बोला—‘परिचित स्थान छूटता नहीं है। इसी प्रकार सच्चे सिद्धांत का रहस्य समझ में आ जाने पर भी स्नेहबंध के कारण कुगुरु का संग छोड़ने की विदग्धता नहीं होती।’

१. भिदृ० ३०६।

२. वही, २७८।

३. वही, २७१।

१४३. वीराक्षेपपदं विलोक्य मुनिपं श्रीभारिमालोज्ज्वल-

वेतब् द्राक् परिवर्त्तयाऽतिकठिनं स्वाम्याह तं शान्तितः ।

सत्यं वा किमसत्यमुत्तरमिवं तथ्ये न शङ्का मनाक्,

तर्हि स्ताम्रयमार्गचालकनरैः कार्या न लोकैषणा ॥

आचार्य भिक्षु ने एक पद्य लिखा—

‘छहूं लेश्या हूँति जद वीर में, हूँता आठूं ही कर्म ।

छद्मस्थ चूक्या तिण समे, मूरख माने धर्म ॥’

‘भगवान् महावीर जब छद्मस्थ अवस्था में थे तब उनमें छहों लेश्याएं और आठों कर्म विद्यमान थे । उस समय उन्होंने एक प्रसंग पर लब्धि का प्रयोग किया । यह उनकी भूल थी । परन्तु अज्ञानकार व्यक्ति उसमें भी धर्म मानते हैं ।’

इस गाथा को देखकर आचार्य भिक्षु के उत्तराधिकारी मुनि भारमलजी ने कहा—‘आचार्यदेव ! यह पद्य अत्यन्त कठोर है, इसे आप बदल दें ।’ स्वामीजी ने शांतिपूर्वक पूछा—‘बताओ, यह पद्य सत्य है या असत्य ?’ भारमलजी बोले—‘गुरुदेव ! है तो सत्य, पर है कठोर ।’ तब स्वामीजी बोले—यदि सत्य है तो इसे ऐसा ही रहने दो । न्यायमार्ग पर चलने वाले व्यक्तियों को सत्य की एषणा करनी चाहिए, लोकैषणा में नहीं फंसना चाहिए ।’

१४४. हीरेणाऽतिबिलोमबुद्धिविहितः प्रश्नस्तदा स्वामिना,

वत्तं नैव तदुत्तरं विनयते प्रत्युत्तरार्थं पुनः ।

औचित्येन विचक्षणैरभिहितोऽमेघ्ये ह्यमत्रे घृत-

माऽऽवात्रा बहुयाचितेऽपि पटुना किं क्षिप्यते पश्यता ॥

एक बार हीरविजयजी यति आचार्य भिक्षु के पास आए और विपरीत बुद्धि से अनेक अट-सट प्रश्न करने लगे । स्वामीजी ने उनका उत्तर नहीं दिया । यतीजी ने प्रश्न का उत्तर देने के लिए पुनः प्रार्थना की । तब विचक्षण आचार्य भिक्षु ने औचित्यपूर्वक कहा—क्या मल से भरे बर्तन में, बहुत याचना करने पर भी, मल को स्पष्ट देखने वाला दाता उसमें घी डालेगा ? कभी नहीं ।’

१४५. काव्वा कोप्यभिभाषते मुनिपति संयोजना भूरिशः,
 सुज्यन्ते भवता तदाह भृणुतात् कस्याप्युभौ नन्दनौ ।
 एको मेलकरोऽपरोऽपरकरः को ह्युत्तमस्त्वं वद,
 क्षिप्रं म्लानमुखो जगाम विमुखः स्वामी महाबुद्धिमान् ॥

किसी ने आचार्य भिक्षु से व्यंग्य की भाषा में कहा—आचार्यश्री ! आप जोड़ें (रचनाएं) बहुत करते हैं । आचार्य भिक्षु बोले—सुनो । एक सेठ के दो पुत्र थे । एक जोड़ता है और दूसरा गवाता है । तुम बताओ, दोनों में उत्तम कौन है ?' वह उत्तर न देकर म्लान मुख होकर चला गया । ऐसे थे स्वामीजी बुद्धिमान् ।'

१४६. भूयो भूय इहात्तसाधुनियमान् वेदं प्रवेदं स्वयं,
 दोषाक्तान् विबध्नाति योऽनवरतं नो तस्य ते स्थावराः ।
 अन्धा भूरि पिनष्टि सत्वरभितः श्वानो लिहन्ति द्रुतं,
 पृष्ठे तिष्ठति किं तथाऽत्र विषये लाभाद्विनाशोधिकः ॥

जो साधु अपने स्वीकृत नियमों को जानबूझकर दूषित करते हैं, उनके वे नियम टिक नहीं सकते अर्थात् टूट जाते हैं । स्वामीजी ने एक सुन्दर दृष्टान्त दिया—कोई अन्धी स्त्री चक्की में सुपुष्कल धान्य पीस रही थी । एक ओर पेषण कार्य चालू था, तो दूसरी ओर कुत्ते उसके पीसे हुए आटे को चट करते जा रहे थे । लम्बे समय तक यह क्रम चालू रहा । शेष में जब उस अंधी स्त्री ने पीसे हुए आटे को बटोरना प्रारम्भ किया तो उसके हाथ कुछ नहीं लगा । वैसे ही स्वीकृत नियमों को दूषित करते रहने पर पीछे क्या रहता है ? ऐसे प्रसंग में लाभ से अधिक विनाश ही होता है ।

१४७. संवृत्ताद् विवराद् विलम्बनमृते गर्ता गरिष्ठा भवे-
 दङ्करोद्गमनाच्च पल्लवयते शाखी प्रशाखी महान् ।
 किञ्चित् संस्खलनात् स्थिरत्वभवनं शङ्कास्पदं दुष्करं,
 न्यायम्रष्टनृणां भवेच्छतमुखोऽघोषः प्रपातोऽनिशम् ॥

छोटा-सा छिद्र होने पर यदि उसका प्रतिकार नहीं होता है तो वह छिद्र बड़े गढ़े का रूप धारण कर लेता है । अगर अंकुर को उत्पन्न होते ही उखाड़ा नहीं जाता है तो वह विशाल शाखी प्रशाखी होकर पल्लवित होने लगता है । थोड़ा सा स्खलित होने पर यदि नियंत्रण नहीं हो

पाता है तो उस स्वलित होने वाले का संभल पाना मुश्किल है। ऐसे ही न्यायभ्रष्ट मनुष्यों का न्यायमार्ग से च्युत होने पर उनका शतमुखी पतन अनवरत होता रहता है।

१४८. श्रद्धत्से स्फुटमुख्यमुख्यविषयानन्यानपि त्वं तथा,
सर्वज्ञेन विना न कोऽपि पुरुषो ज्ञेयान्तनिर्वाहकः ।
शालिद्वयं शविलोकेन नयते सिद्धान्तशेषान् सुधीः,
तेषु न्यञ्चितहस्तको ज्वलयते स्वीयं करं कुण्ठया ॥

कोई व्यक्ति स्वामीजी से चर्चा कर रहा था। मूल तत्त्व तो उसकी समझ में आ गया, फिर भी वह बोला—आप कहते हैं, वह बात तो ठीक है, पर कुछ विषय पूरी तरह से समझ में नहीं आए।

स्वामीजी ने कहा—जैसे तुम मुख्य-मुख्य विषयों पर श्रद्धा करते हो, वैसे ही अन्य विषयों को भी श्रद्धा से स्वीकार कर लो क्योंकि सर्वज्ञ के बिना कोई भी व्यक्ति समस्त ज्ञेय विषयों को नहीं जान सकता। देखो, एक बर्तन में चावल पक रहे हैं। व्यक्ति दो-चार चावल के दानों को हाथ में लेकर जान जाता है कि सारे चावल पक गए हैं या नहीं। और जो व्यक्ति यह जानने के लिए चावलों के भीतर हाथ डालता है वह अपनी मूर्खता से हाथ जला बैठता है।^१

१४९. मण्डित्वा खलु पेषणीं प्रपवने यत्पिप्यते डीयते,
पिष्ट्वा सर्वनिशामुदञ्चनं भूतं तद्वद् द्रतादायकाः ।
ज्ञेयं ज्ञेयमकल्प्य सन्मुखपरा गृह्णन्ति दण्डं न ये,
श्राद्धत्वं श्रमणत्वमस्तमयते तेषां न तिष्ठेन् मनाक् ॥

जिघ्रह हवा का वेग था उसी दिशा में एक बुढ़िया ने चक्की चलाना शुरू किया। वह जैसे-जैसे पीसती जाती वैसे-वैसे ही आटा उड़ता जाता है। उसने रात भर पीसा पर उतना ही बचा जो ढक्कन में समा गया। इसी प्रकार जो साधुपन और श्रावकपन को स्वीकार कर, जानबूझकर दोष लगाते हैं और उनका प्रायश्चित्त नहीं करते, उनके शेष कुछ नहीं बचता।^१

१. भिद० २६८।

२. उदञ्चनम्—ढक्कन (स्यात् पिधानमुदञ्चनम्—अभि० ४।९२)।

३. भिद० १७५।

१५०. अस्ति ज्ञानमतोङ्गणे नहि धरेत् पत्रं तथा पुस्तकं
 नो पृष्ठं वितरेद्यतो ननु लगेदाशातना कोऽप्यवक् ।
 तं स्वामी प्रतिभाषते यदि मतं तत् स्यात् तदानीं शृणु,
 तस्मिन् संज्वलिते हृते प्रशङ्किते डीने च किं तत् तथा ॥

१५१. ज्ञानं जीवमजीवमेव च दलं जानीहि वर्णाकृतिं,
 नूनं तामुपलक्षणार्थविहितां नान्यस्त्रिमित्तं मनाक् ।
 पत्रादौ लिखिताक्षराभिमानं ज्ञानं तदात्मा च स,
 स्वपाशर्वेस्ति दलादिकं तदितरद् बुध्यस्व तत्त्वं परम् ॥ (युग्मम्)

कुछ लोग कहते हैं—‘पुस्तक-पन्नों को जमीन पर नहीं रखना चाहिए और उनकी ओर पीठ कर नही बैठना चाहिए। क्योंकि पुस्तक-पन्ने ज्ञान हैं। ज्ञान की आशातना नहीं करनी चाहिए।’ तब स्वामीजी बोले—‘पुस्तक-पन्नों को तुम ज्ञान कहते हो, तो पुस्तक-पन्ने फट गए, तो क्या ज्ञान फट गया? पुस्तक-पन्ने जीर्ण हो गए, तो क्या ज्ञान भी जीर्ण हो गया? पन्ने उड़ गए तो क्या ज्ञान भी उड़ गया? पन्ने जल गए तो क्या ज्ञान भी जल गया? पन्ने चुरा लिए गये तो क्या ज्ञान भी चुरा लिया गया? पन्ने तो अजीव हैं और ज्ञान जीव है। अक्षरों का आकार तो पहिचानने के लिए है। जो पन्ने में लिखा है, उसका बोध ज्ञान होता है, वह आत्मा है और वह अपने पास ही है। पन्ने भिन्न हैं—आत्मा से अन्य हैं। इस तत्त्व को समझो।’

१५२. जीवो यो नरकं प्रयाति तमसा कस्तानयेत् तं प्रति,
 स्वाम्यूचेऽन्धुपतच्छिलां च तदधः कस्तां तदाकर्षयेत् ।
 भारेण स्वत एव याति च तलं तद्वत् स्वदुष्कर्मणा,
 वैविध्यात्^१ व्रजति स्वयं हि निरयं नान्येन सम्प्रेरितः ॥

सिरियारी की घटना है। एक व्यक्ति ने पूछा—नरक में जीव पाप कर्मों से जाता है। उसे नीचे कौन खींच ले जाता है? स्वामीजी बोले—कोई अन्धु अर्थात् कुएं में पत्थर डालता है, उसे नीचे कौन ले जाता है? वह स्वयं के भार से अपने आप नीचे तल तक चला जाता है। इसी प्रकार अपने पाप कर्मों के भार से भारी बना हुआ जीव अपने आप नरक में चला जाता है, दूसरों से प्रेरित होकर नहीं।^१

१. भिदृ० ३०८ ।

२. वैविध्यात्—भारात् ।

३. भिदृ० १४१ ।

१५३. कः सत्त्वं नयते दिवं वदति तं काष्ठं क्षिपेद् वारिणि,
चौर्ध्वं लाति न कोऽपि लाघवगुणात् तत् स्वं तरल्लक्ष्यते^१ ।
जीवोऽपीह तथा स्वकर्मलघुकः स्वर्गं प्रयाति स्वयं,
श्रुत्वेवं च खिवेसराख्यपुरुषो मोमुद्यमानो ध्रुवम् ॥

खिवेसरा ने पूछा—‘जीव देवलोक में जाता है, उसे ऊपर कौन ले जाता है ?’ तब स्वामीजी बोले—‘काष्ठ को पानी के अन्दर डालने पर वह ऊपर आ जाता है । उसे कोई ऊपर नहीं लाता । पर वह अपने हल्केपन के कारण ऊपर आकर तैरने लग जाता है । इसी प्रकार जीव भी कर्मों से हल्का होने पर अपने आप ऊपर देवगति में चला जाता है । यह सुनकर खिवेसरा व्यक्ति बहुत प्रसन्न हुआ ।’

१५४. चर्चामन्यमताः श्लथा विवधतः श्रद्धासदाचारकौ,
वाक्ता न्याययुतां विमुच्य विमुखा मध्येऽन्यथा तन्वते ।
जीवानां परिरक्षणे कथयसि त्वं पापमित्यादिकां,
स्वामी तद् विषये विबोधनकृते दृष्टान्तमेकं बधौ ॥

१५५. स्तैन्यं स्तैन्यकरा विधाय तदनु प्रोद्दीप्य बर्हि गता-
स्तं विध्यापयितुं तु पश्चिमजना यावद् यतन्तेतराम् ।
ते नश्यन्ति निरापदः खलु तथा नामार्हतास्ते स्वय-
माचारं परिपातुमक्षमतरा आचारिभिर्द्वेषिणः ॥

१५६. तां चर्चां परिमुच्य केवलमिमं लोकममोत्पादकं,
वृत्तान्तं रचयन्ति भिक्षुरसकौ जीवाऽवने पापवक् ।
दानस्याऽपि बयावृषस्य नितरामुत्थापकश्च प्रभुं,
वीरं विस्मृतिकारकं कथयति ह्येवं जगन्मोहकाः ॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

आचार-विचार में श्लथ कुछेक अन्य मतावलम्बी श्रद्धा और आचार-विचार की न्याययुक्त चर्चा को बीच में छोड़कर उससे विमुख होकर, आचार्य भिक्षु से कहते आप तो जीवरक्षा में पाप बतलाते हैं आदि-आदि । इस प्रकार अप्रासंगिक चर्चा करने वालों को प्रबोध देने के लिए स्वामीजी बोले—एक गांव में चोर चोरी कर जाते समय पीछे से गांव में आग लगा गए । गांव वाले पीछे से उस आग को बुझाने में लग जाते हैं और वे चोर निरापद रूप से वहां से पलायन करने में सफल हो जाते हैं । इसी प्रकार शिथिलाचारी

१. तरद् लक्ष्यते—दृश्यते ।

२. भिदृ० १४२ ।

मुनि स्वयं सदाचार का पालन करने में अक्षम होते हैं। वे नाम मात्र के साधु हैं तथा वे अपनी दुर्बलता को छिपाने के लिए आचारवान् मुनियों से द्वेष करते हैं। वे श्लथ मुनि मूल चर्चा को छोड़कर, लोगों में भ्रम पैदा करने के लिए कहते हैं—आचार्य भिक्षु जीवरक्षा में पाप कहते हैं। वे सतत दया-दान के उत्थापक हैं। वे भगवान् महावीर को चूका बताते हैं, आदि-आदि। इस प्रकार वे लोगों को मूढ बनाते हैं।'

१५७. लात्वा भिक्षुममाऽगमद् रघुगुरुभिक्षाचरौ तत्र च,
कर्पासं प्रतिलोढयन्नकराग्नीत्वाऽशनं स्थानके ।
पृष्टो भिक्षुरिहाऽपतत्तव किमाशङ्क्य तदा सो वद-
च्छङ्क्य किन्नु यदाऽत्तमेव भवता साक्षादशुद्धं ततः ॥

१५८. रक्षया द्रव्यगुरुस्तदाह तमृषि गम्भीरदृष्टिस्त्वया,
त्वादृक् कोप्यऽपचेलिमो निजगुरुं गृह्णन्तमप्राप्तुकम् ।
प्रोचे नो नहि कल्पते गुरुवर ! श्रुत्वा जलं प्रोज्झ्य सः,
प्रत्यागाद् विजहार तेन विपिने शिष्यस्य तृष्णाऽलगत् ॥

१५९. व्याचष्टे स्वगुरुं तृषार्त्तविनयस्तर्षो हि मां बाधते,
सह्या साधुपथोऽस्ति धैर्यमतुलं रक्ष्यं गुरुः प्राह तम् ।
किन्त्वात्तेन सचित्तमम्बु रसितं तेनाऽसहेन द्रुतं,
प्रायश्चित्तमगान्महन्नहि ततः स्तोकेन कार्यं सरेत् ॥

१६०. स्तोकस्तोककृते ततो न हृदयं सक्षोभणीयं त्वया,
तादृक्तुच्छविचारणा न हि वरा हेया सदा सर्वथा ।
श्रुत्वा तां गुरुभारतीं प्रविमना भिक्षुः समालोचय-
देतादृक्छिद्यिलत्वपोषकसतामेतादृशं दृश्यते ॥

(चतुर्भिः कलापकम्)

तेरापंथ की दीक्षा से पूर्व स्वामीजी अपने गुरुजी के साथ गोचरी के लिए गए। एक भाई चरखा कात रहा था। उसके हाथ से आहार का दान लिया। गुरुजी ने स्थानक पर आकर पूछा—भीखणजी ! क्या शंका हुई ? तब स्वामीजी बोले—‘साक्षात् अकल्पनीय और अशुद्ध आहार का दान लिया, उसमें फिर शंका की क्या बात ?’ तब गुरुजी बोले—तुमको दृष्टि गहरी रखनी चाहिए। पहले तुम्हारे जैसा एक नया शिष्य गुरु के साथ गोचरी गया था। अकल्पनीय जल लेते समय उसने गुरु से कहा—भगवन ! यह पानी लेना नहीं कल्पता। तब गुरु ने वह पानी नहीं लिया। फिर एक बार

जंगल में विहार करते समय शिष्य को बहुत प्यास लगी। उस तृष्णातुर शिष्य ने गुरु से कहा—मुझे प्यास सता रही है। गुरु ने कहा—साधु का मार्ग है, अतुल दृढ़ता रखो, सहन करो। पर शिष्य प्यास से छटपटा रहा था। वह प्यास को सह नहीं सका और उसने सजीव जल पी लिया। उसे बड़ा प्रायश्चित्त प्राप्त हुआ। अन्यथा थोड़े प्रायश्चित्त में ही उसका काम निपट जाता।

इसलिए भिक्षु ! थोड़े-थोड़े के लिए हृदय को क्षुब्ध नहीं करना चाहिए। यह विचारधारा कि यह कल्पता है, यह नहीं कल्पता, अच्छी नहीं होती। यह सदा सर्वथा त्याज्य है।' इस गुरुवाणी को सुनकर भिक्षु अन्य-मनस्क होकर सोचने लगे—इस प्रकार शिथिलाचार के पोषक मुनियों द्वारा ऐसे ही दृष्टान्त दिए जाते हैं।'

१६१. रीयायां हरजीमुवाच मुनिराट् सत्क्रीतवस्त्रप्रदं,

तद् भोग्यं ह्यपि लामि नैव वसनं शङ्कास्पदं विष्टये ।

वेषोद्वाहिवदेत एव मुनयः सत्क्रीतवस्त्रप्रदा,

निर्णेताऽत्र भवेच्च को हि वदतात् तस्मान्न तल्लायकाः ॥

रीयां गांव में हरजीरामजी सेठ रहते थे। वे साधुओं के लिए कपड़ा खरीदते और उन्हें देते थे। उन्होंने स्वामीजी को वस्त्र लेने की प्रार्थना की। तब स्वामीजी ने कहा तुम वस्त्र लेने की प्रार्थना कर रहे हो, परंतु मैं उन वस्त्रों को भी ग्रहण नहीं कर सकता जो तुम अपने उपभोग के लिए खरीद कर लाए हो। उसने पूछा—ऐसा क्यों? स्वामीजी बोले—तुम्हारे यहां से वस्त्र लेना ही संदेहास्पद बन गया है। तुम्हारे यहां से वस्त्र ग्रहण करने मात्र से लोग सोचेंगे कि जैसे वेशधारी मुनि क्रीत वस्त्र लेते हैं, वैसे ही ये भीखणजी भी क्रीत वस्त्र लेते हैं। ऐसे विवादास्पद प्रसंग में कौन निर्णायक होगा कि हमने गृहस्थ के उपभोग के लिए क्रीत किए हुए वस्त्र लिए हैं अथवा साधु के लिए क्रीत किए हुए वस्त्र लिए हैं? तुम बताओ। इसलिए हम तुम्हारे घर से वस्त्र नहीं ले सकते।'।

१६२. आरामे भवतां च चूतविटपी घत्तूरवृक्षोऽपर,

आच्छेच्छुः कनकाङ्गिपं प्रमुदितोऽसिञ्चजलैर्यत्नतः ।

गत्वा पश्यति फुलितं च तमऽगं कुम्भानमाञ्चं तदं,

नेत्राभ्यः परिवाहयेदनुशयादाशा निराशाऽजनि ॥

१६३. इत्थं आद्वजने विभाति युगपन्नित्यं व्रतं चाव्रत-
मत्यागोऽविरतिस्तथा हि विरतिस्त्यागो जिनैरुच्यते ।
तद्भोगादिकमव्रतं खलु ततो धर्मं विदित्वाऽबुध-
स्तैस्तैस्तान् परिपोषयेत् स विफलो घत्तूरेक्ता यथा ॥ (युगम्)

जैनागमों में श्रावक को व्रताव्रती कहा गया है । उसके व्रताव्रती जीवन की पहचान के लिए तथा उसके पोषण में क्या निष्पत्ति होती है यह स्पष्ट करने के लिए आचार्य भिक्षु ने एक सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत किया—एक बगीचे में आम और घत्तूरे का पेड़ था । कोई व्यक्ति आम्र की इच्छा से वहां आया और आम्र वृक्ष के स्थान पर प्रमुदित होकर घत्तूरे के पेड़ को प्रयत्नपूर्वक सींचने लगा । कई दिनों के बाद वह देखता है कि घत्तूरे का पेड़ तो पुष्पित और फलित हो रहा है पर आम का पेड़ सूखने व मुरझाने लग गया है । यह देख वह निराश होता हुआ आंखों से आंसू बहाने लगा । इसी प्रकार श्रावक के जीवन में भी व्रत, अव्रत—दोनों एक साथ रहते हैं । श्री जिनेश्वर देव का कथन है कि व्रत त्याग है और अव्रत अत्याग । श्रावक का त्याग व्रत है और भोग आदि अव्रत है । उस अव्रत को धर्म मानकर यदि अज्ञ मनुष्य भोग आदि अव्रतों से उन श्रावकों का पोषण करता है और धर्म की वांछा करता है तो वह आम्रफल की इच्छा से घत्तूरे के वृक्ष को सींचने वाले मनुष्य की भांति विफल होता है, पश्चात्ताप ही करता है ।

१६४. मोहस्य ह्युपलक्षणाऽतिगहना तत्कारणार्थं प्रमु-
वृष्टान्तं प्रवदौ यथा नवयुवा प्रोद्धाह्य मृत्युं गतः ।
लोकाः शोकसमाकुलाः कश्चनया हा हन्त आचक्षते,
एतस्याः पतिदुःखपूर्णयुवतेः कालः कथं यास्यति ॥

१६५. प्राजीविष्यदयं तदात्र पुरतोऽभोक्ष्यत् सुभोगांश्चिरं,
द्वित्राः बालकबालिकाः समभवंस्तैस्तैर्महानन्दिनी ।
इत्थं संसृतिमोहकारकजनास्तत्त्वाद्मुखैः कैश्चन,
मन्यन्तेऽतिदयालवः सुपुरुषा दुःखान्वितं दुःखिताः ॥

१६६. तादृक्षा न विदन्ति किन्तु विषयैरस्या भवे दुर्गति-
श्चिन्ता सा पि न नो मृतस्य स इतो मृत्वा गतिं कां गतः ।
तत्त्वज्ञा न तथाविधं विदधते मोहं च सांसारिकं,
स्युः सद्धर्मसहायकाः सुसमयाद्धर्षेण शोकैः पृथक् ॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)

सांसारिक मोह की पहिचान बहुत कठिन है । स्वामीजी ने दृष्टान्त दिया— कोई व्यक्ति ब्याह करने के बाद छोटी अवस्था में ही मर गया । तब

लोगों में बहुत भयंकर स्थिति बन गई। हाय-हाय करते हुए लोग बोले— बेचारी लड़की का क्या हाल हुआ ? बेचारी बारह वर्ष की अवस्था में ही विधवा हो गई। यह किस प्रकार दिन काटेगी ? इस प्रकार लोग विलाप करने लगे। स्वामीजी बोले—लोग सोचते हैं कि ऐसा करने वाला उसकी दया कर रहा है, पर वास्तव में वह उस लड़की के कामभोग की वांछा कर रहा है। वे जानते हैं कि यदि वह लड़का जीवित रहा होता तो इसके दो-चार बच्चे हो जाते। यह लड़की सुख का भोग करती, आनन्द में रहती। इस प्रकार सांसारिक मोह में मूढ़ व्यक्ति सोचते हैं, मानते हैं। वे परदुःख से दुःखित व्यक्ति अपने आपको परम दयालु मानते हैं। वे यह नहीं जानते कि लड़की कामभोग के सेवन से दुर्गति जाती। इसकी चिन्ता भी उन्हें नहीं है और वह लड़का मर कर किस गति में गया है, यह भी उन्हें चिन्ता नहीं है। तत्त्वज्ञ पुरुष ऐसे सांसारिक मोह में नहीं फँसते। वे हर्ष या शोक से विलग रहकर उस लड़की की धर्मारोचना में सहायक होते हैं।^१

१६७. मिथ्यादोषनिदर्शनेन भृगुना सद्भ्यः सुतो भाषितो,
प्राग् भग्नौ मुनितस्ततो भृगुसुताबन्वीक्ष्य सन्मार्गौ ।
द्वेषाद्वेषधरंस्तथा सुमुनितो व्युद्ग्राहितास्ते ततः,
सत्सङ्गः प्रविदन्ति तांश्च वितथांस्तातं यथा भार्गवौ ॥

भृगु पुरोहित ने साधुओं के झूठे दोष दिखलाकर अपने पुत्रों को साधुओं से भयभीत कर दिया। पहले तो वे भिड़के हुए होने के कारण साधुओं को देखते ही भाग खड़े हुए, पर जब उन्होंने गवेषणा की तो यथार्थ को जानकर सन्मार्गगामी बन गये। इसी प्रकार द्वेषवश विरोधियों ने कई व्यक्तियों को सत्साधुओं से (मिक्षुस्वामी से) भड़का दिया, पर जब उन्होंने उन उत्तम पुरुषों से सम्पर्क साधा, तो उन भिड़काने वाले लोगों को झूठा समझा, जैसे कि अन्वेषणा के बाद भृगुपुत्रों ने अपने माता-पिता को।

१६८. राजाध्वेव निरन्तराऽभयमयः स्वेष्टास्पदप्रेषकः,
सन्मार्गः सरलोऽवरोधरहितः श्रीवीतरागप्रभोः ।
उन्मार्गः पशुवर्त्मवद् भ्रमकरः पाषण्डिनां प्रागुज्जुः,
पश्चाद् भ्रामक एवमेव सदयो ह्यादावसानेऽन्यथा ॥

स्वामीजी ने कुमार्ग और सुमार्ग पर दृष्टान्त दिया—भगवान् के मार्ग और पाषण्डियों के मार्ग की पहचान कैसे करें ? भगवान् का मार्ग तो

राजपथ जैसा है। वह निरन्तर अभयमय तथा अपने गन्तव्य तक पहुँचाने वाला सन्मार्ग है। वह सरल और अवरोध रहित होता है। वह कहीं भी बीच में नहीं रुकता। पाषण्डियों का मार्ग पशुओं की पगडंडी जैसा है। वह उन्मार्ग है। पहले वह ऋजु लगता है फिर घुमावदार बन जाता है। इसी प्रकार अन्यान्य मुनि व्याख्यान की आदि में थोड़ा सा दान-शील आदि बतलाते हैं, फिर हिंसा में धर्म बतला देते हैं।'

१६९. एतन्मे च तवेदमित्यपहृतेर्माध्यस्थ्यबुद्ध्या बुधे-

श्चिन्त्यं सत्यमसत्यमस्ति किमिह न्याय्यं किमन्याय्यकम् ।

सत्यासत्यपरीक्षका जिनमतं धर्तुं क्षमास्तत्त्वत-

स्ते संसारसमुद्रपारगमकाः स्युः सच्चिदानन्दकाः ॥

विद्वान् व्यक्ति 'यह मेरा है और यह तुम्हारा है' ऐसा न सोचे। वह मध्यस्थबुद्धि से यह सोचे—सत्य क्या है, असत्य क्या है; न्याययुक्त क्या है और अन्याययुक्त क्या है। सत्य और असत्य की परीक्षा करने वाले ही जैन धर्म की धुरा को वहन करने में समर्थ हो सकते हैं। यथार्थ में वे ही संसार के पारगामी और सच्चिदानन्द का उपभोग करने वाले होते हैं।'

१७०. केनोक्तं सुकृतं तवेव विरतेर्जीवाः स्थिता जीविता,

व्याचष्टे तमृषिविवेद विदुरः कीटीं च कीटीं स्फुटम् ।

तज्ज्ञानं किमु सा तदोत्तरमिवं बुद्धं हि बोधो न सा,

अद्धा नैव पिपीलिका मननवत् प्रश्नोत्तरान्तोऽत्र सः ॥

१७१. पृष्टः सोऽपि पिपीलिकाप्रमथनत्यागो दया किन्तु सा,

सोऽवक् सा च सुरक्षिता स्थितवती संवाऽस्ति साध्वी दया ।

व्याख्यायि भ्रमणेन साऽय मरुतोड्डीना दया साऽपि किं,

सोऽप्यालोच्य तदा ब्रवीति विरतिः संवाऽस्ति नूनं कृपा ॥

१७२. स्वामी तं प्रतिभाषते पुनरिदं सद्युक्तिपाथोनिधी,

रक्षया त्यागमयी दया किमथवा कीटी समालोच्यताम् ।

तेनाऽवाच्यऽचिरात् विचिन्त्य सुमुने ! कार्यं दयापालनं,

जीवोऽस्यात् खलु जीवितः सुविरतेः सार्वोक्तधर्मो न सः ॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

१ भिदू० १३४ ।

२. वही, १२ ।

३. प्रश्नोत्तरान्तः—प्रश्नोत्तरनिर्णयः ।

किसी ने कहा—प्राणातिपात विरति करने से जो जीव बचा वह भी धर्म है। तब स्वामीजी बोले—कोई चींटी को चींटी जानता है वह ज्ञान है या चींटी ज्ञान है? वह बोला—कोई चींटी को चींटी जानता है वह ज्ञान है। फिर स्वामीजी ने पूछा—चींटी को चींटी मानता है वह श्रद्धा है या चींटी श्रद्धा है? तब वह बोला—चींटी को चींटी मानता है वह श्रद्धा है। फिर स्वामीजी ने पूछा—चींटी को मारने का त्याग किया वह दया है या चींटी बची वह दया है? वह बोला—चींटी बची वही सच्ची दया है। तब स्वामीजी बोले—चींटी हवा में उड़ गई तो क्या उसकी दया भी उड़ गई? वह विमर्शपूर्वक विचार कर बोला—चींटी मारने का त्याग किया वह दया है, चींटी बची वह दया नहीं।

तब सद्गुक्तियों के महान् समुद्र स्वामीजी ने उसे पुनः पूछा—दया की रक्षा करनी चाहिए अथवा चींटी की? यह तुम सोचो। वह सोच-विचार कर बोला—दया की रक्षा करनी चाहिए। प्राणवध की विरति करने पर जीव बचा, वह धर्म है—ऐसा कहना सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित धर्म नहीं है।^१

१७३. ब्रूते कोऽपि मुनीश्वर ! प्रतिभया तारोऽस्य निष्काश्यतां,
बण्डा नाक्षिगता हि वः क्व च तदा तारस्य निष्काशनम् ।
आधाकर्ममुखा बृहद्गुस्तरा दोषा महारम्भिका,
दृश्यन्ते न ततः सुसूक्ष्मविषया दृष्टि गताः स्युः कथम् ॥

किसी ने कहा—‘मुनीश्वर ! आप अपनी प्रतिभा से इस विषय का (दोष का) तार निकालें, विषय की सूक्ष्मता को प्रगट करें।’ स्वामीजी बोले—जब डंडे भी दिखाई नहीं दे रहे हैं तो सूक्ष्मतर तार कैसे दिखाई देंगे? आधाकर्म आदि महान् आरंभ वाले दोष ही जब दिखाई नहीं पड़ते तब अतिसूक्ष्म दोष दृष्टिगत कैसे हो सकेंगे ?^२

१७४. भिक्षो ! स्थानकमाकृतं च मयकाऽनारम्भतः केवलं,
कम्बाभिस्तमुवाच मङ्गु मुनिराङ् भावीह चूर्णार्पणम् ।
जातं सर्वतथाविधानमचिरात् सूचीप्रवेशे सति,
तत्र स्थान् मुशलप्रवेश ऋजुमान् पातोऽनुपातो मुहुः ॥

एक व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा—‘भीखनजी ! मैंने स्थानक के लिए जमीन खरीद कर वहां लकड़ी का एक फाटक लगाकर स्थानक का रूप दे दिया। इसमें कौनसी हिंसा हुई?’ स्वामीजी ने उससे कहा—लगता है

१. भिदु० १४९।

२. वही, १७४।

भविष्य में चूना भी लगेगा (अर्थात् बड़ा भवन भी निर्मित होगा)। कुछ समय पश्चात् वहां बड़ा भवन निर्मित हो गया। यह ठीक ही कहा है कि जिसमें सूई का प्रवेश होता है वहां मूशल का प्रवेश भी सहजतया संभव हो सकता है। जहां एक बार पतन—स्खलना होती है वहां बार-बार स्खलनाएं संभव हैं।^१

१७५. जीवानां परिरक्षणं मुनिवृत्ते शास्त्रे जिनैः कीर्तितं,
तत् सत्यं हि यथा स्थिता उदतरद् रक्ष्यास्तथैव व्रती ।
दुःखं कर्हि मुमुक्षुणा त्रिविधिना तेभ्यो न देयं मनाग्,
वातव्यं निखिलाङ्गिनेऽभयमहादानं वरं सर्वदा ॥

किसी ने कहा—‘भीखनजी ! आगमों में जिनेश्वर भगवान् का कथन है कि साधुओं को जीवरक्षा करनी चाहिए। आप इसे क्यों नहीं मानते ?’ स्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा—भगवान् ने जो कहा वह सत्य है। इसका तात्पर्यार्थ यह है कि जीव जिस प्रकार स्थित हैं उन्हें वैसे ही रखना चाहिए। मुमुक्षु उन जीवों को तीन करण और तीन योग से तनिक भी दुःख न पहुंचाए। सभी प्राणियों को सर्वश्रेष्ठ महादान अभयदान दे।^१

१७६. यस्मिन् साध्यमखण्डितं नहि कदा यत् साध्यविध्वंसकं,
पुष्टालम्बनमस्ति तत्खलु यथा सिद्धो जिनेन्द्रः प्रभुः ।
दण्डाद्या घटनाशका अपि यतो नो पुष्टमालम्बनं,
हेतू सक्रियनिष्क्रियो च फलभाग् योगोपयुक् सक्रियः ॥

जिस साधन में साध्य अक्षुण्ण रहता है, तथा जो साधन साध्य का विध्वंस करने वाला नहीं होता, वही पुष्टालम्बन साधन कहा जाता है। जैसे—मोक्षाभिलाषियों के लिए सिद्ध भगवान् और जिनेन्द्रप्रभु यथार्थ साधन हैं, क्योंकि वे साधन-गुणसम्पन्न हैं। यहां कोई यह तर्क भी कर सकता है कि घटादि निर्माण में जो दंड-चक्रादि परम आवश्यक साधन हैं, वे भी पुष्टालम्बन साधन पद को प्राप्त क्यों नहीं करते ? इसका इतना ही समाधान पर्याप्त है कि जो दण्ड-चक्रादि निर्माण कार्य में सहायक बनते हैं वे उस घटादि के विनाश में भी सहायक बन जाते हैं। इसलिए वह साधन पुष्टालम्बन साधन नहीं बनता, जो कि निर्माण की तरह विनाश में भी सहयोगी बन जाए। हेतु के दो प्रकार हैं—सक्रिय हेतु और निष्क्रिय हेतु। सक्रिय हेतु वह है जो मन, वचन और काया के साथ-साथ करने, करवाने और

१. भिदु० ६८ ।

२. वही, १५० ।

अनुमोदन से उस क्रिया में सम्मिलित होता है, सहयोगी बनता है। उसे ही सक्रिय और फलभाग्य हेतु कहा जाता है। जो हेतु इन लक्षणों से रहित होता है वह निष्क्रिय हेतु कहा जाता है। वह फलभाग्य नहीं होता।

१७७. श्रीभिक्षुं मुनिहेम एवमवदद् ये शासनाभिर्गता,
एकीभूय विसारिणो जिनगिरां स्युस्तत् कियच्छोभनम् ।
स्यादेवं किमु निर्ययुर्मुनिरवक् ते मे हि किं शासनं,
योग्याश्चास्खलिताः सुनीतिमुनयः सञ्चालयेयुः समे ॥

मुनि हेमराजजी ने आचार्य भिक्षु से कहा 'भंते ! जो इस शासन से बहिर्भूत होकर पृथग्-पृथग् विहरण कर रहे हैं, वे यदि एक होकर जिन-वाणी का विस्तार करें तो कितना अच्छा हो ?' आचार्य भिक्षु बोले—'यदि उन्हें ऐसा करना ही था तो फिर इस संघ से अलग क्यों हुए ? यह शासन न मेरा है और न उनका। यह शासन सबका है। इस शासन का संचालन वे सभी मुनि कर सकते हैं जो योग्य हैं, जिनका आचार-विचार अस्खलित है, जो सुनीतियुक्त हैं।

१७८. आयातो भविनः सदेशमभितः श्रीस्वामिनां वा सतां,
तान् रुन्धन्ति तदा मुमुक्षुपतिना दृष्टान्त एकोऽपितः ।
आरामा न विवर्जिता जिनश्रुतेः सर्वज्ञपालस्य च,
सर्पावेदनदक्षिणोपविपिनं देव्या द्वयोर्बर्जितम् ॥

१७९. ज्ञात्वेतद्गमनाच्च तत्र खलु मे माया महोद्घाटन-
मेवं क्वापि मतान्तरेषु गमने तेषां निषेधो नहि ।
किन्तु स्वप्रतिमेः परैर्गंतभयाः शुद्धानगारोपगान्,
रोद्धारो बलतः कथञ्चिदपि नः पोल्लं न विद्युर्हामी ॥ (युग्मम्)

आचार्य भिक्षु तथा उनके आज्ञानुवर्ती मुनियों के पास आने-जाने वाले जिज्ञासु जनों को कुछ लोग व्यक्तिगत स्वार्थ व मत—पक्षपात से प्रेरित होकर रोकने का प्रयत्न करते थे। उन व्यक्तियों को लक्ष्य कर आचार्य भिक्षु ने एक दृष्टान्त कहा—'जैसे रत्नादेवी ने अपने चंगुल में फंसे हुए जिनश्रुति, जिनपाल—दोनों भाइयों को उनका दिल बहलाने के लिए दक्षिण दिशा वाले बाग को छोड़कर तीन दिशाओं के बगीचों में जाने की सहर्ष अनुमति प्रदान की, परन्तु दक्षिण दिशा में भयंकर सांप का भय बतलाकर वहां जाने का निषेध किया। उसका ऐसा करने का एक मात्र यही उद्देश्य था कि यदि ये वहां जायेंगे तो मेरी सारी कपटक्रिया प्रगट हो जाएगी। इसी प्रकार कुछ वेषधारी

साधु अपने श्रावकों को जैनैतर सम्प्रदाय के मुनियों के पास आने-जाने से नहीं रोकते और न अपने जैसे आचार-शिथिल मुनियों के पास जाने पर खतरे का अनुभव करते हैं। पर वे शुद्ध आचार-विचार का अनुपालन करने वाले मुनियों के पास जाने वालों को बलपूर्वक रोकते हैं। उन्हें यह भय सताता है कि वहां जाने पर वे श्रावक हमारी पोलपट्टी को जान लेंगे।

१८०. स्पर्धन्ते मुनिवेषिणः सुमुनिभिः किञ्चानुकुर्वन्त्यहो !

तिष्ठेयुर्विपणौ विशुद्धयतिनस्तेषुत्तरेयुस्तथा ।

व्याख्यान्ति श्रमणाः क्षमास्वपि यथा तेप्येवमाख्यायकाः,

किन्वाऽऽकल्पसूतां विनश्यति कृतं पञ्चाङ्गसंप्राहिबत् ॥

१८१. दृष्टान्तोत्र नियोजितो गुरुवरैर्बोधो न चैकद्विजे,

सोऽभ्यर्णपणि तुल्यमेव सहसा व्यापारमारब्धवान् ।

यद् गृह्णाति वणिक् तदेव स ततः श्रेष्ठी समालोचयद्,

भूदेवोऽनुकरोति किन्तु सुमतिर्विद्येत वास्मिन्नहि ॥

१८२. आचष्टे प्रतिवेशमवान् निजसुतं विप्रो यथाकर्णयेत्,

पञ्चाङ्गानि मिलेयुरन्यविषयात् क्रियाणि तावन्त्यरम् ।

तद्भावोऽतिमहर्घ्य आशुभविता द्वे द्वे स्त एकैकतः,

भुत्वेवं विषयान्तरान् महिसुरोऽकंषीत् प्रणास्याऽस्पदम् ॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

कुछेक आचारशिथिल मुनि आचारवान् मुनियों से स्पर्द्धा करते, उनका अनुकरण करते। आचारवान् मुनि रात्री को व्याख्यान देते तो अमुक सम्प्रदाय के साधु भी रात्रि को व्याख्यान देते। आचारवान् मुनि बाजार में ठहरते तो देखादेखी वे भी बाजार में ठहरते। इस प्रकार देखादेखी काम करते हैं, पर शुद्ध मान्यता और आचार के बिना काम सिद्ध नहीं होता। उनका कार्य पंचांगों का संग्रह करने वाले विप्र की भांति नष्ट हो जाता है। दृष्टान्त को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी बोले—एक ब्राह्मण था। वह स्वयं समझदार नहीं था। वह पड़ोसी की देखादेखी व्यापार करता था। पड़ोसी जो वस्तु खरीदता, उसे वह भी खरीद लेता। तब सेठ ने सोचा—यह विप्र मेरी देखादेखी कर रहा है या इसमें स्वयं की समझ भी है, यह ज्ञात करने के लिए उसने अपने बेटे से उस विप्र को सुनाते हुए कहा—अभी पंचांगों के मूल्यों में बहुत तेजी आने वाली है। इसलिए परदेश में जितने पंचांग मिलें उन्हें खरीद लेना है। शीघ्र ही मूल्य में वृद्धि हो जाएगी। दुगुना लाभ होगा। विप्र ने यह बात

सुनी और उसने अपना घर बेचकर, परदेश में जा, नए और पुराने पंचांगों को खरीद लिया। पंचांग बिके नहीं उसकी पूंजी समाप्त हो गई। वह अत्यंत दुःखी हो गया।

इसी प्रकार अन्य सम्प्रदाय के साधु आचारवान् साधुओं की देखादेखी काम करते हैं। पर शुद्ध मान्यता और आचार के बिना कोई काम सिद्ध नहीं होता।

१८३. दण्डः कोप्यहिना विषस्य भिषजा मंत्रेण सज्जीकृतः,
सज्जस्तत्क्रमयोः प्रणामपुरतोऽवादीत् त्वमेवाऽमुदः ।
पित्रोर्वत्तमियद्दिनानि तदिवं मे जीवनं किन्त्वऽवो,
नूनं तद् भवतापितं हृदयतो जानामि भावे स्फुटम् ॥
१८४. तावत्तो पितरो तमाहुररहो त्वं पुत्र दाताऽऽवयो-
बन्धुर्नो व्यतरद् भवान् प्रियतमस्तास्ता भगिन्यो जगुः ।
तत्कान्ता कमनीयमाख्यदमरीभूतं च चूडावसु,
सन्नेपथ्यमिवं च मेऽक्षयतरं सोयं प्रतापस्तव ॥
१८५. व्याजह्नुः सकलाः कलाकुलहृदः स्वाङ्गाः सखावो मधु,
क्लृप्तोऽमूल्यमहोपकार उदयादस्माकमारचयंकृत ।
किन्त्वेषोपकृतिह्यानात्मिकतया स्पष्टैव सासारिकी,
मोहोद्दीपनदीपिका बहुमुखी स्वादर्शविप्लाविनी ॥
१८६. भुक्तः कोऽपि भुजङ्गमेन विपिने साधून् विलोक्याऽह तं,
ब्राह्म मां निविषमातनुष्वमृषयः ! संसिद्धमन्त्रादिकैः ।
सद्भिः सोऽभिहितस्तदुक्तविषयज्ञाः किन्त्वऽकल्पा हि नः,
तद्विद्वदयतौषधं तदपि नो कल्प्यं सतां जल्पनम् ॥
१८७. सोऽवक् बद्धमुखा मुग्धैव भुवने चक्रम्यमाणा क्रिया-
मात्रा^१ क्वापि च विद्यते यदि न वा युष्मत्सु सन्तोऽवदन् ।
ईदृक् सास्ति सतां यतो भवमवे नो पन्नगः छावति,
प्रोक्तास्तेन कृपां विधाय विपुलामावेदयन्त्वाशु ताम् ॥
१८८. साकारानशनं कुरुष्व विरतेः श्रुत्वा मुनीनां वचः,
शीघ्रं तेन तथादृतं यतिवरैर्मन्त्राधिपः शिक्षितः ।
तच्छिस्तं शरणापणेन विशवं संरक्षितं तेन स,
मृत्वा स्वर्गमगाद् गमिष्यति शिवं मोक्षोपकारो ह्ययम् ॥
(वद्भिः कलापकम्)

१. भिदु०, २८८ ।

२. क्रियामात्रा—करामात इतिभाषायाम् ।

संसार के उपकार और मोक्ष के उपकार पर स्वामीजी ने दृष्टान्त दिया—किसी को सर्प काट गया। गारुडिक ने झाड़ा देकर उसे बचा लिया। तब वह चरणों में सिर झुका कर बोला—इतने दिन तो जीवन माता-पिता का दिया हुआ था और आज से जीवन आपका दिया हुआ है। माता-पिता बोले—तुमने हमें पुत्र दिया है। बहिनों ने कहा—तुमने हमें भाई दिया है। स्त्री प्रसन्न होकर बोली—मेरी चूड़ियाँ और चूनरी अमर रहेगी, यह तुम्हारा ही प्रताप है।

प्रशंसा से आकीर्ण हृदय वाले सभी सगे-संबंधियों ने तथा मित्रों ने मृदु-मधुर वाणी में कहा—हमारे महान् भाग्योदय से आपने यह आश्चर्य-कारी अमूल्य उपकार किया है।

किन्तु यह उपकार आत्मिक नहीं है, स्पष्टतया सांसारिक ही है। तथा यह उपकृति बहुमुखी है, मोह को उद्दीप्त करने के लिए दीपिका है और यह अपने आदर्श को विप्लावित करने वाली है, नष्ट करने वाली है।

मोक्ष का उपकार कब कैसे ?

एक व्यक्ति को जंगल में सर्प ने डस दिया। अचानक वहाँ साधु आ गए। साधुओं को देखकर वह बोला—‘महाराज ! आप शीघ्र ही मुझे सिद्ध-मंत्र आदि से निविष करें।’ साधु बोले ‘यद्यपि हम इस विषय को जानते हैं, किन्तु हम ऐसे कार्यकलाप कर नहीं सकते। वे हमारे लिए अकल्पनीय हैं।’ तब वह बोला—‘अच्छा, तो आप कोई औषधि बताएं जिससे जहर निकल जाए।’ मुनि बोले—‘हम सर्पदंश की औषधि जानते हैं, पर बता नहीं सकते।’ वह बोला—‘फिर मुंह बांधकर चारों ओर ऐसे ही घूमते-फिरते हो या तुम्हारे में कोई करामात भी है?’ मुनि बोले—‘हमारे में ऐसी करामात है जिससे भव-भव में सर्प कभी काटता ही नहीं।’ वह बोला—‘आप कृपाकर उस क्रिया को शीघ्र ही मुझे बताएं।’

मुनि बोले—भाई ! तुम वैराग्यपूर्वक आगार सहित आमरण अनशन कर दो। उसने तब मुनियों के कथनानुसार अनशन स्वीकार कर लिया। मुनिवरो ने उसे नवकार महामंत्र सिखाया तथा उसके चित्त को अर्हत्, सिद्ध, साधु तथा धर्म—इन चार शरणों में समर्पित कर, पवित्र बनाकर उसका संरक्षण किया। वह अनशनपूर्वक मृत्यु को प्राप्त कर स्वर्ग में गया। कालान्तर में वह मोक्ष प्राप्त कर लेगा। यह मोक्ष का उपकार है।’

१८९. श्राद्धस्य श्रमणस्य तत्त्वविषये श्रद्धा समाना द्वयोः,
सम्यक्त्वी यदि वा च देशविरतिः स्यातां द्विधा श्रावकौ ।
ये सन्तः खलु सर्वथैव विरताः सावद्ययोगैः सदा,
हीत्थं श्रावकसाधुषु व्रतविधौ तुल्या न हि स्पर्शना ॥

१९०. तुर्यो दुर्णियते^१स्त्रयोदशगुणस्थानस्थमन्तव्यतः,
स्यादान्तर्यमहो तदादिमगुणस्थाने समागच्छति ।
हिंसायामघमन्यथा च सुकृतं मान्यं समस्तैस्ततः,
पार्थक्यं करणैस्तयोर्मननतोऽपार्थक्यमासूत्रितम् ॥ (युग्मम्)

कुछ लोग कहते हैं, साधु का धर्म भिन्न है और श्रावक का धर्म भिन्न है । स्वामीजी बोले—‘तात्त्विक विषय में साधु और श्रावक—दोनों की श्रद्धा समान होती है । श्रावक दो प्रकार के हैं—सम्यक्त्वी श्रावक तथा देशविरति श्रावक । साधु सावद्य योगों से सर्वथा विरत होते हैं और श्रावक सावद्य योगों से अंशतः विरत होते हैं । इस प्रकार साधु और श्रावक की व्रताराधना की स्पर्शना समान नहीं है ।

चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि के तथा तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली के मन्तव्य में कोई अन्तर नहीं होता । यदि दुर्भाग्य से तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली के मन्तव्य से चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि के मन्तव्य में अन्तर आता है तो वह पहले गुणस्थान में आ गिरता है । वे सभी हिंसा में पाप तथा अहिंसा में धर्म मानते हैं । इस प्रकार साधु और श्रावक में मान्यता से ऐक्य है किन्तु करण—स्पर्शना से अन्तर है ।^१

१९१. नाथद्वारमगान् मुदोदयपुराद् यो नैणसिंहस्य च,
जामाता श्वसुरोऽथ तं गमयितुं भिक्षुं मुनिं प्रार्थयेत् ।
स्वामी तत्प्रतिबोधनाय च तमप्राक्षीत् परीक्षापरः,
तत्त्वज्ञोऽसि न वा निवेदयति स ज्ञातास्म्यहं श्रावकः ॥

१९२. आध्यात्मिकवेश्मवास ऋषये किं कल्पते ? नो ततः,
सन्तस्ते निवसन्ति तत्र समये क्वाप्यागतं स्यात्तथा ।
साधूनां किमु नित्यपिण्डनयनं युक्तं ? न तस्योत्तरं,
केचित्त्विलान्ति तदा तथैव गदितं श्रुत्वा पुनः पृच्छयते ॥

१. नियतिः—भाग्य (नियतौ विधिः दैवं भाग्यं भागधेयं—अभि० ६।१५)
दुर्णियतेः—दुर्भाग्यात् ।

२. भिदु० २२५ ।

१९३. किं कल्पेत कपाटपाटनमहो ! नो कल्पते साधवे,
 तत्कृत् ते श्रमणस्तदा प्रचलितं स्यात् कुत्रचित् स्वागमे ।
 पृष्टश्चेत्यमनेकशोऽपि स तथा प्रत्युत्तरी स्वाम्यऽवगं,
 जामाता तव नैणसिङ्गु! सरलो नो बोध्यते तादृशः ॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)

एक बार स्वामीजी नाथद्वारा में विराज रहे थे । नैणसिंहजी श्रावक का दामाद उदयपुर से वहां आया । नैणसिंहजी ने आचार्य भिक्षु से प्रार्थना की—‘आप इन्हें प्रतिबोध दें ।’ उसे प्रतिबोध देने से पूर्व परीक्षा के लिए स्वामीजी ने उसे पूछा—‘तुम जैनतत्त्वों को जानते हो या नहीं?’ उसने कहा—‘मैं श्रावक हूँ और तत्त्वों को जानता हूँ ।’ तब स्वामीजी ने पूछा—बताओ, साधुओं को आधाकर्मिक स्थानक में रहना कल्पता है या नहीं? उसने कहा—साधु रहते तो हैं । संभव है कहीं आगमों में इसका उल्लेख हो ।’ आचार्यश्री ने पूछा—‘साधु को क्या नित्यपिंड आहार लेना कल्पता है?’ उसने कहा—‘नहीं कल्पता ।’ स्वामीजी बोले—साधु नित्यपिंड आहार लेते तो हैं । तब उसने कहा—‘कहीं आगम में आया होगा ।’ स्वामीजी ने पुनः पूछा—क्या साधु को कपाट बंद करना कल्पता है? उसने उत्तर दिया—‘नहीं ।’ स्वामीजी बोले—‘तुम्हारे मुनि ऐसा करते तो हैं ।’ वह बोला—‘तब तो कहीं न कहीं आगमों में उल्लेख होगा ही ।’ स्वामीजी जो कुछ पूछते, वह इसी प्रकार उत्तर देता । तब स्वामीजी ने कहा—नैणसिंह ! तुम्हारा दामाद अत्यन्त ऋजु है, भोला है । उसे प्रतिबोध देना, समझाना संभव नहीं है ।’

१९४. ग्रामेशाधमजातिवान् समभवत् पूर्याभिधः किङ्कुरः,
 शिष्योऽजायत योगिनः स च कदा योगीन्द्रयूथः सह ।
 तद्ग्रामे हि समागमत् तदधिपो योगीशमक्तो महान्,
 तत्पङ्क्तेश्चरणामृतं प्रमुबितो गृह्णंस्तमैश्याऽवदत् ॥

१९५. रे पूर्या ! त्वमहो ततः स भूतिभुक् हास्यान्वितः प्रोचिवान्,
 दृष्टानां हि विलग्नकः किमु भवान् सर्वेऽपि मत्सन्निभाः ।
 मर्मज्ञाः सहचारिणां सहचरा नो बाह्यसंदर्शका,
 इत्थं वेषधराः समेऽपि शिथिला जानन्ति तांस्तात्त्विकाः ॥ (युग्मम्)

किसी व्यक्ति ने कहा—अमुक साधु ऐसा है, अमुक साधु ऐसा है । तब स्वामीजी ने फरमाया—अमुक-अमुक क्या कहते हो ये तो सारे पूर्या ही पूर्या हैं । इस पर स्वामीजी ने एक दृष्टान्त दिया—किसी ग्रामाधिपति के

१. ते श्रमणः इति तव श्रमणसंघः ।

२. भिदु०, १५६ ।

‘यहां ‘पूर्वा’ नामक एक नीची जाति का नौकर रहता था। वह एक बार नौकरी छोड़कर कहीं बाहर चला गया और योगी लोगों के सम्पर्क में आकर योगी बन गया। एक बार वह पूर्वा योगियों के साथ धूमता-धूमता उसी नगर में चला आया जहां कि वह ठाकुर साहब के यहां नौकर था। ठाकुर साहब संतों के परम भक्त थे। उनके यह संकल्प था कि जो कोई भी संत-महात्मा उनके गांव में आए उन्हें भोजन कराना तथा उनके पैर धोकर चरणामृत लेना। अपने संकल्प के अनुसार नवागन्तुक योगियों का चरणामृत लेने के लिए उन्होंने क्रमशः एक-एक योगी के पैर धोने प्रारम्भ किये। ऐसा करते-करते क्रमशः जिस पंक्ति में पूर्वा था उसकी भी बारी आयी और चरणामृत लेते हुए ठाकुर साहब ने जब उसके मुंह की ओर देखा तो चिर-परिचित होने के कारण वे उसे तुरन्त पहचान गए और सहसा बोल पड़े, ‘अरे पूर्वा तू है?’ तब पूर्वा ने मुस्कराते हुए योगी शिष्यों की जाति का रहस्योद्घाटन करते हुए कहा—‘महाराज ! क्या आप परिचित के ही लागू पड़ते हैं या किसी और के भी ? ये जितने भी हैं प्रायः सभी पूर्वा ही पूर्वा हैं। इस बात का मर्म तो साथ में रहने वाले ही जान सकते हैं न कि बाहर से देखने वाले। इसी तरह से प्रायः वेशधारी शुद्ध श्रद्धा व आचार के अभाव में शिथिलता को ही पुष्ट करने वाले हैं, पर इस तथ्य को ठाकुर साहब की तरह बाह्यरूपसंदर्शक नहीं समझ सकते, यह तो सिर्फ तत्त्वज्ञानियों के ही ज्ञान का विषय है।

१९६. कान्ता कान्तमुवाच पश्य सबने चौराः समायान्त्यऽहो !

सोऽवग् वेधि तथा वचः प्रतिवचो जातं मिथो भूरिशः ।

रोद्धं किन्तु न चेष्टते सपदि तानुद्योगहीनो हि स,

साक्षादित्यमकर्मको निजगृहं शक्येत किं रक्षितुम् ॥

[कुछेक व्यक्तियों को धर्म की प्रेरणा देने पर वे कहते हैं, हां ठीक है, यह सब हमारे ध्यान में है और हम जानते हैं, पर वे पुरुषार्थ के नाम पर तनिक भी प्रयास नहीं करते। ऐसे व्यक्तियों की तुलना उस व्यक्ति के साथ की गई है जो कहने को तो कहता है कि हां मेरे ध्यान में है, पर करता कुछ नहीं। उस व्यक्ति को समय निकल जाने के बाद अनुताप के सिवाय और कुछ भी हस्तगत नहीं होता।] आचार्य भिक्षु ने एक सुन्दर दृष्टान्त के माध्यम से कहा—‘किसी परिवार में पति-पत्नी मात्र दो ही सदस्य थे। पास में पुष्कल मात्रा में धन था। एक बार एक चोर चोरी के लिए उस घर में प्रविष्ट हुआ। घर में प्रवेश करते हुए चोर को पत्नी ने सहसा देख लिया और तत्काल पति से कहा—घर में चोर प्रवेश कर रहा है। पति ने उत्तर दिया—‘मैं जानता हूं, यह मेरे ध्यान में है। पर उसने किया कुछ भी नहीं।

फिर पत्नी ने कहा—चोर ताले तोड़कर आभूषण आदि निकाल रहा है। पति ने पूर्ववत् वही उत्तर दोहराया—हां, मैं जानता हूं। आखिरकार जब चोर गहने, आभूषण ले जाने लगा, तब पत्नी ने पुनः कहा—यह चोर धन-माल लेकर जा रहा है, अब तो कुछ करो। पर पति ने तो पूर्ववत् वही उत्तर दिया—हां मैं जानता हूं। पर प्रयत्न कुछ नहीं किया। तब पत्नी ने उलाहना देते हुए पति से कहा—सिर्फ जानता हूं, जानता हूं की रट लगाते हो पर क्रियान्विति के बिना इस जानने में क्या घरा है। क्या इस तरह जानने मात्र से सुरक्षा हो सकती है ?

(वैसे ही केवल धर्म-कर्म को जानने वाला यदि उसे जीवन व्यवहार में नहीं उतारता है तो वह अपनी आत्मरक्षा नहीं कर सकता। ज्ञान और तदनुरूप क्रिया—दोनों का योग ही कार्य-साधक होता है।)

१९७. नानातत्त्वावलोकः कबलितकुक्कुलाः कीलितान्तप्रशस्ताः,
सिद्धान्तार्थप्रगूढा धवलधवलता धीमिरौत्पातिकीभिः ।
सम्यग्बुद्धज्ञानवृत्तः प्रसूतसुरसैर्भिक्षुभिक्षुप्रणीता,
दृष्टान्ता दिव्यदिव्याः सपदि कतिपया दर्शिता दिव्यदृष्ट्या ॥

नाना प्रकार के गम्भीर तत्त्वों को प्रगट करने वाले, कुत्सित मनो-वृत्ति वाले व्यक्तियों के मन में छाई हुई दुर्भावना को समाप्त करने वाले, अपने आप में समाये हुए सन्निर्णयों से प्राप्त प्रशस्ति वाले, आगमार्थ के गाम्भीर्य से आप्लावित, सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की त्रिवेणी से वर्द्धमान सुरसता वाले, ऐसे उज्ज्वल-उज्ज्वलतर दिव्य दृष्टान्तों की निष्पत्ति आचार्य भिक्षु की विलक्षण औत्पत्तिकी बुद्धि का ही सुपरिणाम है। उन्हीं में से कतिपय दृष्टान्तों को दिव्यदृष्टि—रागद्वेष रहित वृत्ति से चयन कर प्रस्तुत किया गया है।

श्री नाभेयजिनेन्द्रकारमकरोद्धर्मप्रतिष्ठां पुनर्,
यः सत्यग्रहणाग्रही सहनयैराचार्यभिक्षुर्महान् ।
तत्सिद्धान्तरतेन चारुचिते श्रीनत्थमल्लखिणा,
पूतः पञ्चदशोऽत्र भिक्षुचरिते सर्गो बभूवानसौ ॥

श्रीनत्थमल्लखिणा विरचिते श्रीभिक्षुमहाकाव्ये

नानादृष्टान्तप्रबोधकनामा

पञ्चदशः सर्गः

सोलहवां सर्ग

प्रतिपाद्य : साधुओं के लिए अनाचीर्ण विधियों का सप्रमाण निदेश । तत्कालीन मुनियों द्वारा आचीर्ण विधियों का दिग्दर्शन ।

पद्य : २१६

छन्द : अनुष्टुभ्

वर्ण्यम्

आचार्य भिक्षु को अपने प्रचार-प्रसार में असाधारण सफलता मिलती गई। विरोध में तीव्रता आई। परन्तु आचार्य भिक्षु और उनके सहयोगी मुनिगण विरोध का डट कर सामना करते रहे। आचार्यश्री ने तत्कालीन साधुसंघ में व्याप्त रीतियों, प्रवृत्तियों की कटु आलोचना करते हुए अपने पक्ष को आगम के साक्ष्यों से प्रस्तुत किया। इस सर्ग में उसका संक्षिप्त लेखा-जोखा है।

षोडशः सर्गः

१. अथ भिक्षोर्महाक्रान्तिं, वक्तुमिच्छामि निर्मलाम् ।

महाक्रान्तिकरः साक्षाद्, ययाऽजीयत गौरवात् ॥

इस संसार में जिस गौरव से वे महाक्रान्ति कारक कहलाये उन भिक्षु महामुनि की निर्मल महाक्रान्ति का वर्णन करने जा रहा हूं ।

२. जैनधर्मो विकारौघैर्व्यापन्नोति कुलिङ्गिभिः ।

राहुभिः पूर्णचंद्रोऽपि, समावृत्तो न किं भवेत् ॥

उस समय जैन धर्म कुलिङ्गियों द्वारा अति विकृत हो गया था । क्या पूर्णचंद्र भी राहु से ग्रसित नहीं होता ?

३. बंक्रमंकोनविंश्यां यच्छ्रुताब्द्यां दृष्टिपाततः ।

प्रायशः साधुपाशानामेधनं परिजृम्भितम् ॥

विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि प्रायः उस समय शिथिलाचारियों की अभिवृद्धि हो चुकी थी ।

४. अनाचारमहाघोरघटा युगपत् समुत्थिता ।

सम्यक्छद्मा विलुप्ताऽथ, विलुप्तं शुद्धजीवनम् ॥

तब अनाचार रूपी महाघोर घटा एक साथ छा गई, जिससे सम्यक् भ्रष्टा और शुद्ध जीवन लुप्त-सा हो गया ।

५. वेषाडम्बरसम्भारोत्सर्पणं केवलं तदा ।

साधूनां साधनां सर्वा, ललिहे सुखशीलता ॥

ऐसी स्थिति में केवल वेश के आडम्बर के भार की वृद्धि होने लगी और साधुओं की सारी साधना को सुखशीलता ने चाट लिया ।

६. चरित्रैर्निर्धनाः सन्तः, श्रावका अपि सर्वतः ।

संवृत्ताः क्षिप्तसत्सारा, भग्नकुम्भा इवाऽखिलाः ॥

साधु और श्रावक अपने-अपने व्रतों से दरिद्र हो चुके थे और वे भग्नकुम्भ की भांति पूरे खाली हो चुके थे ।

७. येन केन प्रकारेण, क्रीतोद्दिष्टेषु साधवः ।

मठाधीशा इवामोदात्, स्थानकेष्वधिकारिणः ॥

वे सन्त जैसे-तैसे मोल लिए गए और संतों के उद्देश्य से बनाये गये स्थानकों में मठाधीशों की भांति आनन्द करने लगे ।

८. साधुवेषो भवत्तत्र, केवलं ह्युदरम्भरिः ।

झोड़को वज्रचक्रो व्यंग्यो, निर्गुणत्वाद् विडम्बकः ॥

उस समय गुणरहित साधुवेश केवल पेट भरने के लिए, लज्जा का पात्र, ठगाई करने, व्यंग्योक्ति का पात्र तथा बिडम्बक बन गया था ।

९. मर्यादाकल्पसन्नीत्यो, नागदन्ते ललम्बरे ।

यद्वा तत्तदभिख्यातो, ह्यकाराद्याः प्रवर्त्तिताः ॥

मर्यादा, कल्प तथा शुद्धनीति तो खूंटियों पर टंग चुकी थी । तथा उनके नाम के आगे अकारादि लग चुका था, जैसे—अमर्यादा, अकल्प, असन्नीति ।

१०. प्रमाणानि प्रमाणस्यै, रक्षणीयानि यत्नतः ।

विषीदन्ति प्रमाणानि, प्रमाणस्यैविसंस्थूलैः ॥

प्रामाणिक पुरुषों को प्रमाणों की रक्षा करनी चाहिए । जब प्रामाणिक पुरुष भी प्रमाणों से परे हो जाते हैं तब प्रमाण भी जीर्ण-शीर्ण बन जाते हैं ।

११. साधूनामपि सिद्धान्ताबुद्धस्थात्प्रत्ययो वरः ।

गृहस्थानां तदा के स्युः, सत्यविश्वासकारकाः ॥

जब साधुओं का विश्वास भी सिद्धांतों से हट जाता है तब श्रावकों का तो कहना ही क्या ! ऐसी स्थिति में सत्य पर विश्वास करने वाले कौन हो सकते हैं ?

१२. गुरवो भिन्नभिन्नाश्च, सम्प्रदायाः पृथक् पृथक् ।

भिन्ना भिन्ना विचारश्च, भिन्ना भिन्ना हि रीतयः ॥

उस समय भिन्न-भिन्न गुरु, भिन्न भिन्न संप्रदाय, भिन्न-भिन्न विचार एवं भिन्न-भिन्न रीति-रिवाज प्रचलित थे ।

१३. सतां द्वेषोऽसतां रागः, शुद्धाचाराऽप्रकाशनम् ।

अन्धश्रद्धानुकरणे च, तस्य कालस्य सम्पदः ॥

साधुओं पर द्वेष करना, असाधुओं पर राग करना, शुद्ध आचार को प्रगट नहीं करना और अन्धश्रद्धा तथा अन्धानुकरण करना—ये ही उस समय की संपदाएं थीं ।

१४. हीनाचारविचाराणां, शुद्धत्वेन निरूप्य च ।

स्वप्रतिष्ठावने दम्भान्दोलनं तद् विशेषता ॥

हीन आचार और हीन विचार को शुद्ध दिखलाना तथा अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए दाम्भिक आन्दोलन करना ही उस समय की विशेषता थी ।

१५. कदाचारकुरङ्गाणां, त्रासने सिह्नादवत् ।

प्रवृत्तः स्वामिनां घोषो, वक्ष्यमाणो निशम्यताम् ॥

ऐसे कुत्सित आचार रूप मृगों को संव्रस्त करने के लिए स्वामीजी का सिह्नाद की भांति घोष हुआ, जिसका वर्णन आगे किया जाता है, ध्यान से सुनें ।

१६. विनयमूलधर्मोऽस्ति, वीतरागप्रभोः सदा ।

परन्तु तस्य मर्मज्ञो, विरलः कोऽपि लक्ष्यते ॥

वीतराग प्रभु का धर्म विनयप्रधान है, परन्तु उसका मर्मज्ञ कोई विरल व्यक्ति ही होता है ।

१७. विनयेषु बलं दत्तं, तद्गुरो गुरुतायुते ।

गुरो गुरुगुणैर्हीने, विनयोऽपि त्रपास्पदम् ॥

इस वीतराग प्रभु के धर्म में गुरुता युक्त गुरु के प्रति ही विनय का प्रयोग करने पर बल दिया गया है । जो गुरु गुरु के गुणों से रहित होता है, उसके प्रति प्रयुक्त विनय भी लज्जास्पद बन जाता है ।

१८. असद्गुरो विनयत्वेन हि निस्तरणं भवेत् ।

सदसद्गुरुविज्ञानविहीनं जन्म निष्फलम् ॥

असद् गुरु के प्रति प्रयुक्त विनय से भव सागर से निस्तार नहीं हो सकता । सद और असद् गुरु की पहचान के बिना नरजन्म व्यर्थ है ।

१९. कश्चिद् ब्रूयाद् गुरुस्तातो, द्वितीयो न कदाचन ।

दृष्टोऽनिष्ठस्तथापीह, त्यज्यते किं मनीषिभिः ॥

कोई यह बात कहता है कि गुरु और पिता दूसरे नहीं हो सकते । वे बाहें अच्छे हों या बुरे, क्या बुद्धिमान् व्यक्ति उनको छोड़ देते हैं ?

२०. उक्तो गुरुः स्वयं वक्त्रात्, स किं त्याज्यो भवेन्नुषाम् ।

इत्यालापवतां तत्त्वमागमाद्वीक्ष्यमात्मतः ॥

अपने मुख से जिसको गुरु कह दिया, क्या मनुष्य उसको छोड़ दे ? इस प्रकार कहने वालों को स्वयं आगमों से तत्त्व को देखना चाहिए ।

२१. परीक्षातो गुरुः कार्यः, कृतेपि गुरुता न चेत् ।

गृहीतानिष्टमुद्रैव, हेयः प्राज्ञैस्तितीर्षुभिः ॥

परीक्षापूर्वक ही गुरु बनाना चाहिए । गुरु कर लेने पर भी यदि ज्ञात हो जाए कि उसमें गुरुता नहीं है तो संसार-समुद्र को तैरने का इच्छुक मनीषी पुरुष स्वीकृत छोटे सिक्के की भांति उसे छोड़ दे ।

२२. स्वीयोऽपि कुगुरुस्त्याज्यः, स्वकीयामयवद् बुधैः ।

पाटवार्थी न किं मुञ्चेत्, प्रातिकूल्यं निजौषधम् ॥

बुद्धिमान् पुरुष अपने आमय (रोग) की भांति अपने कुगुरु को भी त्याग दे । क्या नीरोगार्थी अपनी प्रतिकूल औषधि को नहीं छोड़ देता ?

२३. महापोतोऽपि सच्छिद्रः, पारनेयो हि किं भवेत् ।

तत्रस्थैः स्पष्टतत्त्वज्ञैः, स न किं परिहीयते ॥

क्या छिद्रों वाली बड़ी नौका भी पार पहुंचाने में समर्थ हो सकती है ? क्या छिद्रों को स्पष्टरूप से जानने वाले उसमें स्थित व्यक्ति उसको नहीं छोड़ देते ?

२४. नो मताग्रहिणा भाष्यं, नैव रेखर्षिणाऽपि च ।

नान्याम्नायानुकृत्येन, खरपुच्छावगाहिना ॥

किसी को मताग्रही, लकीर का फकीर, अन्धश्रद्धा और अन्धानुकरण करने वाला तथा गधे की पूंछ पकड़ कर चलने वाला भी नहीं होना चाहिए ।

२५. ज्ञातः शिष्यः पथस्त्रष्टः, प्रोज्झयतां गुरुभिर्ध्रुवम् ।

तथैवोत्पथगः शिष्यैर्गुरुश्चेति जिनोदितम् ॥

जब गुरु यह जान ले कि शिष्य मार्गच्युत हो गया है तो उसे तत्काल छोड़ देना चाहिए । उसी प्रकार जब शिष्य यह जान ले कि गुरु उत्पथगामी हो गए हैं तो उन्हें तत्काल छोड़ देना चाहिए । यह भगवान् का कथन है ।

२६. सदाचारस्य सम्बन्धो, गुरुणान्तेसदाऽपि च ।

तद्विहीनेन यत्स्नेहं, त्रोटयेत् तृणवद् वरः ॥

गुरु-शिष्य में सदाचार का ही सम्बन्ध होता है। जो सदाचार से शून्य हैं, उनके प्रति जो स्नेह है उसको तिनखे की भांति तोड़ देना चाहिए।

२७. गुणानामर्चना पूजा, प्रज्ञप्ताऽतो विनिर्गुणः।

निर्ग्रन्थपुष्पवत् प्रोज्झ्यस्तत्त्वातत्त्वविवेकिभिः ॥

गुणों की ही अर्चा-पूजा बतलाई गई है। अतः तत्त्व-अतत्त्व का विवेक करने वाले मनुष्यों को चाहिए कि वे निर्गुण गुरु को निर्ग्रन्थ पुष्प की भांति छोड़ दे।

२८. स्वर्णस्यापिष्ठुरिका किं, क्षेप्या स्वीयोदरे भवेत्।

तेन स्वर्णेन किं कार्यं, कर्णविच्छेदनं यतः ॥

क्या सोने की छुरी अपने उदर में मारने के लिए होती है? उस स्वर्ण-कुंडल से भी क्या प्रयोजन जो कानों को काट डालता है?

२९. गुरुर्गुरुरिति व्यर्थं, पूतकृद्भिर्नेति शोच्यते।

कुगुरोः पूजको नूनं, बम्भमीति भवान्तरे ॥

‘गुरु’-‘गुरु’ ऐसे व्यर्थ पुकार करने वाले यह नहीं सोचते कि कुगुरु की पूजा करने वाला निश्चित ही जन्म-मरण के चक्रव्यूह में घूमता रहता है।

३०. गम्भीरघोषणामेतां, स्वामिनां सुप्रमाणिकाम्।

निशम्याऽजनि सज्ज्योतिर्जागरा मोहमर्दिनी ॥

स्वामीजी की यह प्रमाणयुक्त गम्भीर घोषणा को सुनकर लोगों में मोह का मर्दन करने वाली प्रकाशमय ज्योति जागृत हुई।

३१. विषमोपि नयो ग्राह्यः, स्वामिनां समजायत।

कृततीर्थो मनोहारी, पयसामाश्रयो यथा ॥

जैसे विषम सरोवर भी मनोहर घाटवाला होकर ग्राह्य बन जाता है, वैसे ही स्वामीजी का कठोर न्याय भी उपादेय बन गया।

३२. सुलभाः सन्ति संसारे, सततं प्रियवादिनः।

दुर्लभाः प्रस्तुते तथ्यपथ्यकृत्याध्वदशंकाः ॥

संसार में निरंतर मीठे बोलने वाले सुलभ हैं, परंतु सारभूत, हितकारी, कर्तव्य-निर्देशक और मार्गदर्शक दुर्लभ हैं।

३३. परिणाममुखं स्वल्पं, वक्त्रे कट्वपि तद्वचः ।

अभूद् भवव्ययार्त्तेषु, ग्राह्यं भेषजवत्तदा ॥

स्वामीजी के वचन मुंह पर थोड़े कटु अवश्य लगते, किन्तु उनकी परिणति सुखद होने के कारण जन्म-मरण की व्यथा से दुःखी मनुष्यों के लिए वे वैसे ही ग्राह्य होते थे जैसे रोगी के लिए कटु औषधी ग्राह्य होती है ।

३४. तबालापेन मिथ्यात्वमलगद् गलितुं महत् ।

दक्षिणानिलयोगेन, किं न शीर्येत दुर्धनः ॥

तब उनके आलापों से महान् मिथ्यात्व गलने लगा । क्या दक्षिणी वायु के चलने पर घनघोर घटा जीर्ण-शीर्ण नहीं हो जाती ?

३५. महाक्रमणमस्याभूदारम्माडम्बरं प्रति ।

जर्जराः कम्पिताः क्लान्तास्तत्पाषण्डामिपोषकाः ॥

स्वामीजी ने धर्म के नाम पर होने वाले आरम्भ और आडम्बर के प्रति प्रबल आक्रमण किया, जिससे पाषण्डी एवं उनके पोषक जर्जरित, कम्पित और क्लान्त हो गए ।

३६. शुद्धश्रामण्यसच्छ्रद्धा, जीवनं प्रति जीवनी ।

मुटिता मानवीदृष्टिस्तेन दीपेन वा तदा ॥

दीपतुल्य आचार्य भिक्षु के प्रयत्नों से मानवीय दृष्टि शुद्ध श्रामण्य और शुद्ध श्रावकत्व के जीवन के प्रति मुड़ी ।

३७. उदस्थात्तन्महाक्रान्तिः, श्लथाचारविशोधनी ।

स्वामिवेगो न सह्येत, कदर्यैः प्रतिगामिभिः ॥

शिथिलाचार के विशोधन के लिए स्वामीजी की महान् क्रांति प्रबल वेग से उठी । उस क्रांति के वेग को कायर प्रतिगामी सहन नहीं कर सके ।

३८. स्वसन्मुखे युगं कालं, मोटयामास शौर्यतः ।

कालायुगानुगो नाऽभूत् सत्यादात्ममहाबली ॥

उस आत्मबली ने सत्यशौर्य से उस युग (काल) को अपनी ओर मोड़ा पर वे स्वयं काल एवं युग की ओर नहीं मुड़े ।

३९. धर्मध्वंसे क्रियाध्वंसे, रीतिध्वंसे तथागमे ।

सर्वाचित्येषु ध्वंसेषु, मीनं मूर्खस्य भूषणम् ॥

धर्म, क्रिया, रीति, आगम तथा समस्त औचित्य का जहां ध्वंस होता हो वहां पर मौन रहना मूर्खों का भूषण है ।

४०. धर्मनाशे क्रियानाशे, सुसिद्धान्तार्थविप्लवे ।

अपृष्टेनापि वक्तव्यं, तत्स्वरूपप्रकाशने ॥

जहां धर्म का नाश, क्रिया का नाश तथा सत् सिद्धांतों का विप्लव होता हो, वहां इन सबका यथार्थ रूप प्रकाशित करने के लिए बिना पूछे भी बोलना चाहिए ।

४१. तत्सूक्तिपथमालम्ब्य, कल्याणैकपरायणः ।

प्राणान् मुष्टौ समादाय, जगर्जं धर्मकेशरी ॥

आचार्य भिक्षु एकमात्र कल्याण की भावना से ओतप्रोत होकर जनता को सरल-मृदु वाणी में समझाने लगे । प्राणों को मुट्ठी में लेकर वे धर्मकेशरी भिक्षु गर्जने लगे ।

४२. मन्व्यमन्तृसहायानां, सम्भवाऽसम्भवात् परः ।

स्वकर्तव्यपथारूढः, प्रावर्त्तत तपोधनः ॥

मानने वाले मिले न मिलें, सहायक हों या न हों, इसकी परवाह न करते हुए वे तपोधन अपने कर्तव्य पथ पर आरूढ़ होकर कार्य करने लगे ।

४३. केबलाडम्बरिधाट्टान्, प्रविद्धून् कदाग्रहान् ।

श्रद्धाभ्रष्टान् समुद्दिश्य, प्रोचे साक्षेपतः पुनः ॥

आचार्य भिक्षु श्रद्धाभ्रष्ट, केवल आडंबर दिखाने वाले, कदाग्रह करने वाले, केवल तमाशा देखने वाले श्रावकों को लक्ष्य कर आक्षेपपूर्वक कहने लगे ।

४४. भो भो वेत्य न सद्देवाऽऽचारं च सद्गुरोर्मतम् ।

वेद्यततरां तद् वः, सम्यक्त्वं कथमागतम् ॥

हे श्रावको ! तुम शुद्ध देव, शुद्ध आचार और शुद्ध गुरु के मत को जानते ही नहीं तो बोलो, तुम्हारे में सम्यक्त्व कैसे आया ?

४५. नवतत्त्वज्ञताहीनाः, शून्यालापा विकल्पाः ।

वेद्यततरां तद् वः, सम्यक्त्वं कथमागतम् ॥

तुम नव तत्त्व के ज्ञान से रहित एवं व्यर्थ आलाप तथा विकथा करने वाले हो तो बोलो, तुम्हारे में सम्यक्त्व कैसे आया ?

४६. अज्ञा अप्यात्मधर्माधिकारधुर्याभिमानिनः ।

मुग्धत्वं तत् कियत् तद् वः, सम्यक्त्वं कथमागतम् ॥

तुम जिनधर्म के तत्त्वज्ञान से अज्ञ होते हुए भी अपने आपको धर्म के अधिकारी और धर्मधुरीण मान बैठे हो। यह तुम्हारी कितनी मूर्खता है! बोलो, तुम्हारे में सम्यक्त्व कैसे आया ?

४७. उन्मुक्ता आश्रवाः सर्वे, संवरस्पर्शवर्जिताः ।

निर्जराऽनिर्णयास्तद् वः, सम्यक्त्वं कथमागतम् ॥

तुम्हारे सभी आश्रवद्वार खुले हैं और तुम संवर के स्पर्श से रहित हो तथा निर्जरा के निर्णय को भी नहीं जानते। बोलो, तुम्हारे में सम्यक्त्व कैसे आया ?

४८. कथं च बध्यते जीवः, कथं च परिमुच्यते ।

तत्राकुशलता तद् वः, सम्यक्त्वं कथमागतम् ॥

जीव कैसे बंधता है और कैसे मुक्त होता है, इस विषय में भी तुम अनभिज्ञ हो तो तुम्हारे में सम्यक्त्व कैसे आया ?

४९. विषमदृष्टयोऽप्यत्र, समदृष्ट्यभिधाधराः ।

कुगुरुजालबद्धा वः, सम्यक्त्वं कथमागतम् ॥

तुम मिथ्यादृष्टि होते हुए भी सम्यक्दृष्टि कहलाते हो और कुगुरु के जाल में बंधे हुए हो तो तुम्हारे में सम्यक्त्व कैसे आया ?

५०. कुगुरुस्त्रामिता मुग्धा, बद्धहस्तास्ततः स्वयम् ।

सम्यक्त्वप्राहकास्तद् वः, सम्यक्त्वं कथमागतम् ॥

तुम कुगुरु के बहकावे में आ आकर और उनके सामने हाथ जोड़ जोड़कर सम्यक्त्व ग्रहण करते हो तो तुम्हारे में सम्यक्त्व कैसे आया ?

५१. अनिवृत्तान्तराज्ञाना, मिथ्यात्यागपरायणाः ।

कुगुरुन् गुरुपश्या वः, सम्यक्त्वं कथमागतम् ॥

तुम्हारे अन्तर् का अज्ञान तो मिटा ही नहीं है, फिर भी झूठे-झूठे त्याग करते हो और कुगुरु को गुरु मानते हो तो तुम्हारे में सम्यक्त्व कैसे आया ?

५२. कुगुरुक्रमयोः शीर्षाऽऽघर्षेस्त्रिवारपाठतः ।

वन्द्ये हर्षयस्तद् वः, सम्यक्त्वं कथमागतम् ॥

तुम कुगुरु के पैरों में सिर रगड़-रगड़ कर तिकछुत्ते के पाठ से तीन बार वन्दना करते हो और झूठ बोलते हो तो बोलो, तुम्हारे में सम्यक्त्व कैसे आया ?

५३. साधकार्यं पापहेतुर्धर्महेतुस्ततोऽपरम् ।

इयदपि न वेत्थ वो, सम्यक्त्वं कथमागतम् ॥

साधक कार्य पाप के हेतु हैं और निरवद्य कार्य धर्म के हेतु हैं, इतना भी तुम नहीं जानते तो तुम्हारे में सम्यक्त्व कैसे आया ?

५४. द्रव्यादिकरणैर्योगभिदां बोधविर्वाजिताः ।

निक्षेपा विवितास्तद् वः, सम्यक्त्वं कथमागतम् ॥

तुम्हें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और करण-योग के भेद और निक्षेपों का बोध तक नहीं है तो तुम्हारे में सम्यक्त्व कैसे आया ?

५५. धर्मं मत्वाऽन्नते दत्तं, सत्यापनमधोभुवः ।

जिनेन्द्राज्ञाऽनभिज्ञा वः, सम्यक्त्वं कथमागतम् ॥

तुम जिनाज्ञा से अनभिज्ञ हो अतः धर्म मानकर अन्नत में दान देते हो । क्या वह नरक की साईं नहीं है ? तुम्हारे में सम्यक्त्व कैसे आया ?

५६. मिथ्यामहत्त्वमानेभ्यो, न्यायरिक्तातिपाणयः ।

व्यर्थपक्षावसम्ना वः, सम्यक्त्वं कथमागतम् ॥

तुम मिथ्या बड़प्पन और मिथ्या मान के भूखे होकर न्याय से रिक्त एवं मिथ्या पक्षपात में सने हुए हो । तुम्हारे में सम्यक्त्व कैसे आया ?

५७. मिथ्याहेतुप्रयोगाद्यैर्जिनानुशासनाद् बहिः ।

धर्माभिवर्शकास्तद् वः, सम्यक्त्वं कथमागतम् ॥

मिथ्या हेतु एवं मिथ्या प्रयोगों से जिनाज्ञा के बाहर भी धर्म मानते हो तो तुम्हारे में सम्यक्त्व कैसे आया ?

५८. यदि दक्षास्तवा तत्त्वत्रय्याः सद्गुरुसङ्गतः ।

निर्णयं मेधया कृत्वा, श्रद्धा भवतः सद्ब्रताः ॥

यदि तुम दक्ष हो तो सद्गुरु की संगति से देव, गुरु और धर्म—इस तत्त्वत्रयी का निर्णय कर सद्ब्रतों के धारक श्रावक बनो ।

५९. रागद्वेषविनिर्मुक्तः, सर्वज्ञोऽखण्डितागमः ।

शक्रपुण्यो जगन्नाथो, धार्यो देवो जिनेश्वरः ॥

जो राग-द्वेष को जीतने वाले हैं, सर्वज्ञ हैं, जिनके आगम—आज्ञा अखण्डित हैं तथा जो इन्द्रों से पूजनीय एवं जगन्नाथ हैं, उन जिनेश्वर देव को देवरूप में स्वीकार करो ।

६०. समित्या गुप्तिसंयुक्तः, पञ्चोत्तरगुणः, सर्वथा सुगुरुर्मतः ।

मूलोत्तरगुणाऽखण्डः, सर्वथा सुगुरुर्मतः ॥

जो समिति और गुप्ति से संयुक्त हैं, पांच महाव्रतों के धारक हैं और जो सर्वथा मूलोत्तर-गुणों से अखण्डित हैं, उनको गुरु मानो ।

६१. अहिंसाशुभभावादिस्तन्मयः परमङ्गलः ।

केवल्युक्तो जिनेन्द्राज्ञाकेतुधर्मो हि सम्मतः ॥

जिसकी आदि में अहिंसा और शुभ भावना है, जो अहिंसा और शुभ भावमय है, जो परम मंगल है, जो केवली द्वारा प्रज्ञप्त है तथा जो वीतराग की आज्ञा में है, वही धर्म है ।

६२. षड्द्रव्यनवतत्त्वादिरत्नत्रिकपरीक्षकः ।

तस्य स्वान्ते शुभश्रद्धादेवी सम्यग् विराजते ॥

जो षड्द्रव्य, नवतत्त्व एवं रत्नत्रयी के परीक्षक हैं, उनके हृदय में श्रद्धारूपी देवी विराजती है ।

६३. जैनप्रवचने दोषैर्मक्ता विश्वसितिर्वरा ।

रक्ष्या रुचिः प्रतीतिश्च, सा श्रद्धा जिनशासने ॥

जिनशासन में वही श्रद्धा मान्य है जो जैन प्रवचन में दोषों का उद्भावन नहीं करती, जैन प्रवचन पर अत्यन्त विश्वास रखती है, उसमें अच्छी रुचि तथा प्रतीति वाली है ।

६४. येन तत्त्वं विबुध्येत, येन चित्तं निरुध्यति ।

येन ह्यात्मा विशुद्ध्येत, तज्ज्ञानं जिनशासने ॥

जिससे तत्त्व का बोध हो, जिससे चित्त का निरोध हो, जिससे आत्मा की शुद्धि हो, जिनशासन में वही ज्ञान ज्ञान है ।

६५. येन रागा विरज्यन्ते, येन श्रेयसि रज्यन्ते ।

येन सत्री भवेत् सर्वैस्तज्ज्ञानं जिनशासने ॥

जिससे राग दूर हो जाते हैं, जिससे कल्याण में अनुरक्ति होती है, जिससे सबके साथ मैत्री होती है, जिनशासन में वही ज्ञान ज्ञान है ।

६६. सच्छ्रद्धा ज्ञानपूर्वा च, सद्बुद्देश्यात् त्रिधा त्रिधा ।

सर्वसावद्ययोगानां, त्यागश्चारित्रमुच्यते ॥

ज्ञानपूर्वक सत् श्रद्धा हो, उसका उद्देश्य सत् अर्थात् मोक्ष हो, तीन करण, तीन योग से सर्व सावद्य योगों का त्याग हो, उसे चारित्र कहा जाता है ।

६७. विकीर्णाः किरणा एकाऽऽलोक्याऽऽलोकोऽपि विस्तृतः ।

जैनधर्ममहामूल्यरहस्यं प्राकटीत् तदा ॥

स्वामीजी के ऐसे उपदेशों से संसार में आलोक की किरणें विकीर्ण हुईं, एक कमनीय आलोक सर्वत्र प्रसृत हुआ और तब जैन धर्म का महामूल्यवान् रहस्य प्रगट हो गया ।

६८. हीनाचारं प्रति स्पष्टं, तुमुलान्दोलनं कृतम् ।

केवलं मूकभावेन, प्रतीकारो न भूयते ॥

उन्होंने हीनाचार के प्रति स्पष्ट रूप से तुमुल आंदोलन छेड़ा, क्योंकि केवल मूकभाव से हीनाचार का प्रतिकार नहीं हो सकता ।

६९. तस्य शान्तिः समस्तानि, शशामोपद्रवाणि च ।

बंदहोति हिमानी नो, नीलद्रुविपिनानि किम् ॥

उनकी शांति ने समस्त उपद्रवों को शांत कर दिया । क्या सघन नील वृक्षों वाले वनों को महान् हिमपात भस्म नहीं कर देता ?

७०. अशंसि स्वामिना स्पष्टं, श्रूयतां श्रावका हृदा ।

अन्तःस्फुटितनौकाभाः, सन्तस्ते किन्नु तारकाः ॥

स्वामीजी ने यह स्पष्ट कहा—श्रावको ! तुम हृदय से सुनो, जो साधु फूटी नौका के समान हैं, वे क्या तारक हो सकते हैं ?

७१. दयारूपेण हिंसायाः, परितोऽतिप्रचारकाः ।

आहारलोलुपा मानमुक्ताः कृतगृहिस्पृहाः ॥

७२. ज्ञानसम्पादनाख्याभिर्वेतनात्पुस्तकग्रहाः ।

साध्वर्थवेतनग्राहिपाठकाद् ये हि पाठकाः ॥

७३. धर्मनाम्नि गृहस्थानां, हिंसादारुणकर्मणि ।

प्रेरकाः प्रतिमापूजादम्बरेषु परायणाः ॥

७४. इत्थं भगवतां नाम्ना, भगवन्नामलज्जकाः ।

आधाकर्मादिदोषोत्काः, सन्तस्ते किन्तु तारकाः ॥

(चतुर्भिः कुलकम्)

हे श्रावको ! जो दया के रूप में हिंसा का प्रचुर प्रचार करने वाले, आहार-लोलुप, मान को छोड़कर गृहस्थों के मुंह ताकने वाले, ज्ञान के लिए गृहस्थों से धन दिलाकर पुस्तकें खरीदने वाले, वेतनग्राही पाठकों से पढ़ने वाले, धर्म के नाम पर गृहस्थों को दारुण हिंसादि कार्य में प्रेरित करने वाले, प्रतिमा पूजा के आडम्बर में तत्पर, भगवान् के नाम को लजाने वाले और आधाकर्मादि दोषों में जो उत्सुक हैं, वे मुनि क्या तारने के लिए समर्थ हो सकते हैं ?

७५. तादृशा गुरवो हेयाः, श्राद्धानुपविदेश सः ।

हीनाचारिगुरोः सेवाऽघोऽघः पतनकारिणी ॥

स्वामीजी ने श्रावकों को यह उपदेश दिया कि ऐसे गुरुओं को छोड़ देना चाहिए, क्योंकि हीनाचारी गुरुओं की सेवा नीचे से नीचे नरक में ले जाने वाली होती है ।

७६. हीनाचारिगुरोर्दोषगोपनं मोक्ष्यमुत्कटम् ।

ततो गुरोश्च भक्तानां, निश्चितं पतनं मतम् ॥

हीनाचारी गुरुओं के दोषों को छिपाना उत्कृष्ट मूर्खता है । इससे गुरु और भक्तों का निश्चित पतन होता है ।

७७. शशंस पुनराचार्यो, यः कोऽपि श्रमणो भवेत् ।

सर्वसावद्यकार्याणां, प्रत्याख्याता त्रिधा त्रिधा ॥

स्वामीजी ने यह पुनः बतलाया कि जो कोई श्रमण होते हैं वे तीन कारण एवं तीन योग से समस्त सावद्य कार्यों का प्रत्याख्यान करते हैं ।

७८. अष्टादशतमस्त्यागी, मुनिर्भद्राव्रती सदा ।

तच्छ्रामण्याभिरक्षार्थमनेके नियमाः कृताः ॥

अठारह प्रकार के पापों के त्यागी मुनि महाव्रती कहलाते हैं । उनके साधुत्व की रक्षा के लिए भगवान् ने अनेक नियम बनाए हैं ।

७९. अवश्याराधनीयास्ते, मूलधर्माभिरक्षिणः ।

मूलात्तेषां महत्त्वं नो, नैयून्यमधिगच्छति ॥

उन नियमों की आराधना अवश्य ही करनी चाहिए क्योंकि मूल महाव्रतों से उन नियमों की महत्ता कम नहीं है ।

८०. शुद्धतादृढतापूर्वमुत्तरान्नियमान् यः ।

पालयेत् सोऽचिरान्मूलं, धर्मं चापि विनाशयेत् ॥

जो पवित्रता एवं दृढतापूर्वक उन नियमों का पालन नहीं करते वे शीघ्र ही मूल नियमों को भी खो बैठते हैं, महाव्रतों को भी गवां देते हैं ।

८१. संकोचलक्षणाः शुद्ध्या, दाढ्योद्देश्यं विनिर्मिताः ।

पोषका मूलधर्माणां, ते ह्युपनियमा मताः ॥

पवित्र भावना से तथा श्रामण्य की दृढता के उद्देश्य से निर्मित, संकोचलक्षण वाले अर्थात् सीमा करने वाले एवं मूल धर्म का पोषण करने वाले जो नियम हैं, वे उपनियम कहलाते हैं ।

८२. आचार्यकी पुनः सौत्री, मर्यादापि तथा द्विधा ।

सूत्रसाक्षीयुता सौत्री, परावृत्त्या न कंरपि ॥

मर्यादा दो प्रकार की होती है—आचार्यकृत तथा सौत्री—आगमकृत । सूत्रसाक्षीयुक्त मर्यादा सौत्री मर्यादा कहलाती है । वह किसी के द्वारा बदली नहीं जा सकती ।

८३. आचार्यकी द्वितीया सा, देशकालानुसारिणी ।

यथेष्टं संयमोत्सर्पपरावृत्तिसहा च तैः ॥

दूसरी मर्यादा आचार्यों की है । वह आचार्यों के द्वारा देश, काल के अनुसार, जहाँ संयम की वृद्धि होती हो, आचार्यों के द्वारा बदली जा सकती है ।

८४. निर्दोषविषये शास्त्रात्, काठिन्यादिप्रयोजनात् ।

आचार्याद्वैः कृता या सा, मर्यादा परिकीर्त्तिता ॥

शास्त्रों के अनुसार जो निर्दोष है, परन्तु विशेष दृढता आदि के प्रयोजन से जो मर्यादा आचार्यों द्वारा बांधी जाती है वह आचार्यों की मर्यादा या गण की मर्यादा कहलाती है ।

८५. क्षेत्ररक्षाकृते रक्ष्याऽवश्यं वृत्तिविशेषतः ।

तथा हि पालनीयास्ते, उत्तरा नियमाः समे ॥

क्षेत्र की रक्षा के लिए बाड़ करनी जरूरी है । वैसे ही मूल महाव्रतों की रक्षा के लिए उत्तर नियमों का पालन जरूरी है ।

८६. क्षेत्रसंरक्षिका क्षेत्रात्, सा विभिन्ना न कर्हिचित् ।

बोधनीया तदङ्गानुरुपाऽवश्यं तथा हि ते ॥

क्षेत्र की रक्षा करने वाली बाड़ खेत से भिन्न नहीं होती, पर क्षेत्र के अनुरूप ही होती है। वैसे ही उत्तर नियम मूल नियमों के अनुरूप होते हैं।

८७. करुणाकन्दलाकारो, व्याजहार पुनर्गुहः ।

दुर्लभा साधुता लोके, दुर्लभाऽतीव पालना ॥

करुणा के मूर्तरूप स्वामीजी ने यह पुनः कहा—लोक में साधुता दुर्लभ है तो उसकी पालना और भी दुर्लभ है।

८८. आस्तभग्नस्ततो यः स, नरकद्वारि संस्थितः ।

समुच्चयेन निर्दिष्टं, कर्षणीयं न तन्निजे ॥

जो व्रतों का भंग करने वाले हैं, वे नरक द्वार पर खड़े हैं। मेरा यह कथन सामुदायिक है, व्यक्तिगत रूप से इसे कोई अपने पर न खींच ले।

८९. नेयं निन्दा यथार्थत्वादऽद्वेषाद् हितदृष्टितः ।

कटुसत्यं तु तत्पूर्वं, सज्जनानां रसायनम् ॥

मेरे इस कथन को निन्दा रूप में न समझे, क्योंकि यह यथार्थ है, बिना किसी द्वेष से केवल हितदृष्टि से कहा गया है। सज्जनों का ऐसा कथन कटु सत्य होते हुए भी रसायन के तुल्य है।

९०. ये ये दृष्टा यथा दोषा, विविच्यन्ते तथा तथा ।

सूत्रसाक्ष्या प्रतीयन्तां, साधूनां लक्षणान्यपि ।

जिन-जिन दोषों को मैंने देखा है, उन-उन दोषों का सूत्रसाक्षी से विवेचन करता हूँ। अतः वे विश्वसनीय हैं। इसी प्रकार साधुओं के लक्षण भी जानने योग्य हैं।

९१. अकल्प्यं कल्पते नैव, मुनिभ्यो भोजनादिकम् ।

दशवैकालिके षष्ठाऽध्ययने परिलोक्यताम् ॥

मुनियों को अकल्पनीय भोजन आदि नहीं कल्पता। यह विषय दशवैकालिक सूत्र के छठे अध्ययन में द्रष्टव्य है।

९२. अकल्प्यवस्तुसंप्राप्तिश्चमणे महती क्षतिः ।

प्रागाच्चारारङ्गराष्ट्रांतश्चौरं वदति तं मुनिम् ॥

अकल्प्य वस्तु को ग्रहण करने वाले साधु की महान् हानि होती है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में ऐसे साधु को 'चोर' कहा गया है।

१३. सूत्रे यद्यन्निषिद्धं तत्, तदकल्प्यं प्रतीयताम् ।

अकल्प्यसेवका नूनं, भ्रामका भवकानने ॥

सूत्र में जिन-जिन का निषेध है वे अकल्पनीय हैं । ऐसे अकल्प्य का सेवन करने वाले मुनि संसाररूपी अटवी में भ्रमण करते हैं ।

१४. मुन्यर्थनिर्मिताहारवस्त्रपात्रालयादिकम् ।

सेवनीयं न सद्भिस्तदकल्प्यत्वान्मनागपि ॥

मुनियों के लिए बनाया गया आहार, वस्त्र, पात्र, मकान आदि का आंशिक रूप में भी उपयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे सब अकल्प्य हैं ।

१५. तत्सेवी स्यादनाचारी, भ्रष्टो नरकगस्तथा ।

दशवैकालिके लोक्यमुत्तराध्ययनेऽपि च ॥

ऐसे अकल्प्य का सेवन करने वाले मुनि अनाचारी हैं, पथच्युत हैं और नरकगामी हैं । यह विषय दशवैकालिक एवं उत्तराध्ययन में प्रतिपादित है ।

१६. सदर्थं क्रीतभोज्यादि, नानुशील्यं प्रभोर्वचः ।

क्रीतग्राही महादोषी, स मौनात्पतितो मुनिः ॥

मुनियों के लिए खरीदा हुआ भोजन आदि का भी सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि क्रीतग्राही मुनि महादोषी एवं मुनिभाव से विकल है, ऐसा प्रभु ने कहा है ।

१७. एकोनविंशकोद्देशे, निशीथे परिलोक्यताम् ।

नग्नो व्रतविहीनत्वात्, प्रभुणा सोऽभिधीयते ॥

क्रीतदोषी मुनियों को व्रतविहीन होने के कारण भगवान् ने निशीथ के उन्नीसवें अध्ययन में 'नग्न' कहा है ।

१८. एतद्विष्टनिष्टं वा, वस्तुमात्रं निरूप्य च ।

मूल्येन ग्राह्येत्सन् स, गृहिणां कार्यकारकः ॥

यह वस्तु अच्छी है या बुरी, ऐसे वस्तुभाव का निरूपण कर उसे मूल्य द्वारा गृहस्थ से खरीद करवाते हैं, वे गृहस्थ से कार्य कराने वाले हैं ।

१९. क्रयविक्रयकर्त्रोः स, चेष्टको महामन्तुकः ।

उत्तराध्ययने पञ्चविंशशेनाध्ययनेन च ॥

क्रय-विक्रय करने वाले को प्रेरणा देने वाले मुनि महा अपराधी हैं । यह विषय उत्तराध्ययन के पैंतीसवें अध्ययन में विवेचित है ।

१००. एकस्माच्च गृहान्निवृत्तं, भोक्तुं पातुं जलादने ।
गृहितुं कल्पते नैव, नित्यपिण्डाभिवर्जनात् ॥

भगवान् ने नित्यपिण्ड का निषेध किया है, इसीलिए बिना कारण खाने-पीने के लिए एक ही घर से प्रतिदिन भोजन, पानी नहीं ग्रहण करना चाहिए ।

१०१. प्रत्यक्षं नित्यपिण्डादी, हिंसानुमोदको ध्रुवम् ।
दशवैकालिके षष्ठाऽध्ययने प्रतिपादितम् ॥

जो नित्यपिण्ड सेवी है, वह प्रत्यक्ष हिंसा का अनुमोदक है । यह विषय दशवैकालिक के छठे अध्ययन में प्रतिपादित है ।

१०२. तत्तृतीयेऽप्यनाचारी, तथाशी पायकः पुनः ।
तस्मै दशाश्रुतस्कन्धे, दोषोऽपि सबलो मतः ॥

नित्यपिण्ड भोगने वाले को दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन में अनाचारी कहा है और दशाश्रुतस्कन्ध में नित्यपिण्ड को सबल दोष भी माना है ।

१०३. षण्णिकायेषु जीवेषु, ह्येकस्यारम्भवर्तकः ।
षट्कायारम्भकस्तद्वत्, पञ्चमहाव्रतक्षयी ॥

छह जीव निकायों में एक जीव निकाय का आरम्भ होता हो, वहां उत्कर्षतः छहों जीव निकायों की हिंसा हो जाती है । वैसे ही एक महाव्रत के टूटने से सभी महाव्रत टूट जाते हैं ।

१०४. एताद्गुरुदोषाणां, सेविनं वेषवाहिनम् ।
कस्तं परीक्षकः पक्वो, मुमुक्षुं मन्यते मुनिम् ॥

ऐसे गुरुदोषों का सेवन करने वाले वेषधारी मुनियों को परिपक्व परीक्षक श्रावक मोक्षार्थी मुनि कैसे मान सकता है ?

१०५. गृहस्वामिनमुज्झित्वा, दम्भादपरशासनात् ।
शय्यातरस्य ये पिण्डं, गृह्णन्ति ते न साधवः ॥

गृहस्वामी को छोड़कर दम्भ से दूसरों की आज्ञा लेकर जो शय्यातर-पिण्ड ग्रहण करते हैं, वे साधु नहीं हैं ।

१०६. तदर्थं गहनो दण्डो, निशीथे निहितो जिनः ।
दशवैकालिके सूत्रे, ह्यनाचारोऽपि सूत्रितः ॥

उसके लिए भगवान् ने निशीथ सूत्र में कठोर दण्ड कहा है और दशवैकालिक सूत्र में अनाचार भी कहा है ।

१०७. असौ सबलदोषोऽपि, शीत्यते लोलुपबन्धु ।

न मन्यन्ते प्रभोराज्ञां, ते कथं सन्ति साधवः ॥

यह सबल दोष भी है । जो लोलुपता से इसका सेवन करते हैं और प्रभु की आज्ञा को नहीं मानते, वे साधु कैसे हो सकते हैं ?

१०८. सन्मुखानीतलातारस्तेऽपि झ्रष्टा मुनित्वतः ।

दशवैकालिकात् सूत्रादनाचारोपसेविनः ॥

सन्मुख लाए हुए आहार आदि लेने वाले मुनि भी अपने मुनित्व से झ्रष्ट हैं और दशवैकालिक सूत्र के अनुसार अनाचारी भी ।

१०९. आलिकादिषु निक्षिप्य, स्वोपाधीन् कृतमुद्रितान् ।

मासषण्मासतो वाऽपि, तेषामप्रतिमोक्षणात् ॥

११०. तत्र तज्जीवजालानि, मक्षन्त्यनेकशः पुनः ।

उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते, भूयांसः प्राणिनां गणाः ॥ (युग्मम्)

मुनि अपनी उपधि को आलों में, अलमारियों में रखकर और उनको बंद कर महीनों या छह महीनों तक भी उन्हें खोलकर नहीं देखते । वहाँ अनेक जीवों के जाले जम जाते हैं और अनेक जीव उत्पन्न होते हैं तथा मरते हैं ।

१११. अप्रतिलेखनासीमा, तेषां चरमावधि गता ।

तादृशां यतिनामन्तःकरणाद् व्यपगता दया ॥

ऐसे संतों की अप्रतिलेखना की सीमा तो मानो चरमावधि तक पहुँच जाती है और उनके अन्तःकरण से दया निकल जाती है ।

११२. आलिकादिषु निक्षिप्य, स्वोपाधीन् भारभीतितः ।

विश्वस्तानां गृहस्थानां, तालीरक्षा समर्प्य च ॥

११३. विहरेयुस्ततः पृष्ठे, मुच्यन्ते श्रावकाः कदा ।

मासषण्मासतो वा पि, तानुपधीन्निजेच्छया ॥

११४. उत्पन्ना जन्तवस्तत्र, म्रियन्ते तेन पापतः ।

उभौ साधुगृहस्थौ तौ, लिप्यतो धिक् ततो हि तान् ॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

कुछ मुनि भारादिक के भय से अपनी उपधि को आलों आदि में रखकर उसकी रक्षा के लिए विश्वस्त गृहस्थों को चाबी सौंपकर विहार कर जाते हैं, और पीछे श्रावक अपनी इच्छा से कई महीनों के बाद देखते हैं तो वहां जो उत्पन्न हुए जीव मरते हैं, उनके पाप से साधु और श्रावक—दोनों ही डूबते हैं ।

११५. बिना कारणमेकत्र, चतुर्मासाच्च मासतः ।

अधिकस्थायिनः सन्तो, मर्यादाभंगकारकाः ॥

जो मुनि बिना रोग आदि कारण के एक ग्राम में चातुर्मास के सिवाय एक महीने से अधिक रहते हैं, वे जिनोक्त मर्यादा को लांघने वाले हैं ।

११६. एकद्वारे पुरे ग्रामे, पाटके च पटीयसाम् ।

युगपत् साधुसाध्वीनां, वसनं नैव कल्पते ॥

पुर में या ग्राम में जहां यातायात का एक ही द्वार हो, वहां साधु-साध्वियों को एक साथ रहना नहीं कल्पता ।

११७. एकस्माद् गोपुरान् मार्गाच्छौचार्यं च गतागतम् ।

कल्पते नैव साधुभ्यः, साध्वीभ्योऽपि कदाचन ॥

जहां एक ही दरवाजे से शौच के लिए आने-जाने का मार्ग हो, वहां पर साधु-साध्वियों को रहना नहीं कल्पता ।

११८. तथोरेकपथाद्गत्यागतिभ्यां प्रत्ययक्षयः ।

व्रते भंगव्यवस्थापि, सुलभा भवितुं यतः ॥

इस प्रकार साधु-साध्वियों का एक ही द्वार से यातायात होने से विश्वास उठ जाता है और व्रतभंग की संभावना भी सुलभ हो जाती है ।

११९. बिना कारणमेकाकी, सत्सु चान्येषु सन्मुनिः ।

क्वापि वस्तुं न शक्येत, दुःषमारे विधानतः ॥

इस दुःषम काल कलियुग में अकेला मुनि बिना प्रयोजन रह नहीं सकता । उसके साथ भाविता मुनि होना चाहिए, यह विधान है ।

१२०. तथैवैकाकिनी साध्वी, द्वे साध्व्यावपि कर्हिचित् ।

अवस्थातुं न शक्येतां, व्यवहारागमशासनात् ॥

वैसे ही व्यवहार सूत्र के अनुसार अकेली या दो साध्वियों को भी कभी विचरना नहीं कल्पता ।

१२१. साध्वी त्वेकाकिनी स्थानाद्, बाह्येऽप्येतुं न शक्यते ।

गोचर्या स्थण्डिलावन्यां, कुत्राप्यन्यत्र कार्यतः ॥

अकेली साध्वी गोचरी या स्थण्डिल के लिए या अन्य कोई कार्य के लिए स्थान से बाहर भी नहीं जा सकती ।

१२२. व्यवहारे बृहत्कल्पे, चोद्देशे पञ्चमे त्विवम् ।

निषिद्धं वीतरागेण, त्रैकालिकहितार्थिना ॥

व्यवहार एवं बृहत्कल्प के पांचवें उद्देशक में त्रैकालिक हितार्थी वीतराग प्रभु ने यह निषेध किया है ।

१२३. द्विपञ्चाशदनाचारा, द्विचत्वारिंशिनस्तथा ।

दोषास्तत्सेविनः सूत्राद्, भवेयुः साधवो न ते ॥

भगवान् ने सूत्र में बावन अनाचार और बयालीस दोष बतलाये हैं; उन दोषों का सेवन करने वाले साधु नहीं होते ।

१२४. पञ्चाक्षविषयान् पञ्चस्वाध्यायान् परिवर्ज्य च ।

कायमानमघोमार्गं, पश्यन्तो यान्तु साधवः ।

संतों को पञ्चेन्द्रियों के विषय एवं पांच प्रकार के स्वाध्याय को वर्जित हुए और अपने कायाप्रमाण मार्ग को देखते हुए गमन करना चाहिए ।

१२५. आज्ञां कामयमानेन, वीतरागस्य शोभनाम् ।

ईर्यासमितिरक्षाभिर्वर्त्तनीयं पथान्तरे ॥

जो वीतराग प्रभु की आज्ञा को पालने के इच्छुक हैं, उन संतों को पथ में ईर्यासमितियुक्त होकर चलना चाहिए ।

१२६. निरङ्कुशे भवच्छेषां, निस्खलीनारववद्गतिः ।

जिनाज्ञालोपिनो ये ते, नाममात्रेण साधवः ॥

निरङ्कुश हाथी तथा बिना लगाम के घोड़े की भांति जो गति करते हैं, वे जिनाज्ञा का लोप करने वाले नाम मात्र के साधु हैं ।

१२७. अधिकोपधिरक्षायां, मर्यादापरिलोपिनाम् ।

निशीथे षोडशोद्देशे, प्रावृष्यं दण्डमूचिवान् ॥

अधिक उपधि रखने वाले मर्यादालोपी संतों के लिए भगवान् ने निशीथ के सोलहवें उद्देशक में चातुर्मासिक दण्ड कहा है ।

१२८. असीमसरसाहारा, दानाद्देहविवर्द्धनम् ।

अतिविकृतिसेवाभिर्मांसमांसलता भवेत् ॥

१२९. ततो विषयवृद्ध्यादुर्दृष्ट्या स्त्रैणाभिदर्शकः ।

भवेदन्ते परिभ्रष्टः, शासनस्य विडम्बकः ॥ (युग्मम्)

असीम सरस आहार से देह की वृद्धि होती है और अधिक विषय सेवन से मांस का भी उपचय होता है । उससे विषय की वृद्धि होती है और तब वे संत दुष्टदृष्टि से स्त्रियादिक को देखते हैं । ऐसे संत अन्तर् में भ्रष्ट और जिनशासन की विडम्बना कराने वाले होते हैं ।

१३०. दशवैकालिकाऽऽवश्यकोत्तराध्ययनादिषु ।

प्रत्यहं प्रतिलेखस्य, विधानं प्रतिपादितम् ॥

दशवैकालिक, आवश्यक तथा उत्तराध्ययन आदि में हमेशा प्रतिलेखन करने का विधान है ।

१३१. एकमप्युपधि साधू, रक्षेदप्रतिलेखितम् ।

निशीथद्वितीयोद्देशो, दण्डं वदति मासिकम् ॥

जो साधु एक भी उपधि को प्रतिलेखन किये बिना रख लेता है, उसके लिए निशीथ के द्वितीय उद्देशक में मासिक दण्ड का विधान है ।

१३२. अप्रतिलेखनात्तत्र, जीवजालापमक्षणम् ।

चतुर्मासे च नील्यादिकुंथुकुम्भ्यादिजन्तवः ॥

१३३. उत्पद्यन्ते विलीयन्ते, हिंसा तेषां प्रसज्यते ।

किञ्चित्प्रमत्ततायोगाज्जायतेऽधिक पातकम् ॥ (युग्मम्)

अप्रतिलेखन से जीवों के जाले जम जाते हैं, तथा चातुर्मास में और भी नीलण-फूलण, कुंथु, कुमि आदि जन्तु उत्पन्न होते हैं और मरते हैं । इससे प्रतिलेखन नहीं करने वालों के हिंसा लगती है और किञ्चित् प्रमाद के योग से कितना अधिक पाप होता है !

१३४. अघेरन् मा अघेरन् वा, जीवास्तत्र कदाचन ।

अप्रतिलेखनात् ते तु, घातका विधिप्रच्युतेः ।

वहां कभी जीव मरे या न मरे किंतु प्रतिलेखन न करने के कारण वे मुनि विधि से च्युत हैं, इसलिए वे घातक हैं ।

१३५. विधिनाऽतो विधेयं स्यात्, प्रत्यहं प्रतिलेखनम् ।
आलस्यं सर्वथा हेयं, भण्डोपकरणेक्षणे ॥

इसलिए विधानपूर्वक प्रतिदिन प्रतिलेखन करना चाहिए । भण्डोपकरण के प्रतिलेखन में आलस्य सर्वथा हेय है ।

१३६. पातुं भोक्तुं गृहस्थानां, भाजनेषु यथारुचि ।
भुक्तपीताः पुनर्वद्व्युः, शीतं कृत्वा जलाविकम् ॥

१३७. गृहिकुण्डाद्यमत्रेष्वहारपानादि साधूनाम् ।
भुञ्जानानां सदाचारः, परिभ्रश्यति निश्चयात् ॥

१३८. दशवैकालिकात् षष्ठाध्ययनात्तेन मुमुक्षवः ।
केवलं सुविधाकृष्टा, जिनाज्ञाप्रतिगामिनः ॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)

जो मुनि गृहस्थों के भाजन में खा-पीकर तथा पानी आदि को ठण्डा कर बर्तनों को वापिस सौंप देते हैं, वे दशवैकालिक के छठे अध्ययन के अनुसार अपने मुनि-आचार से स्थूलित हैं । वे केवल सुविधावाद से आकृष्ट हैं और जिनाज्ञा के प्रतिगामी हैं ।

१३९. पीठफलकपट्टादीनानीयगृहमेधिनः ।
प्रत्यर्पणपराचीनाः, सीमोल्लङ्घनसेविनः ॥

गृहस्थ के घर से पीठ, फलक, पट्ट आदि लाकर जो वापिस नहीं सौंपते, वे सीमा का उल्लंघन करने वाले हैं ।

१४०. भवेयुस्ते कथं सन्तो, जनाचारविलोपिनः ।
निशीथान् मासिकं दण्डं, प्राप्नुवन्ति तथाकराः ॥

जैन मुनि के आचार का लोप करने वाले वे साधु कैसे हो सकते हैं ? ऐसे मुनियों के लिए निशीथ सूत्र में मासिक दण्ड का विधान है ।

१४१. आहारादिकवस्तूनां, दर्शयित्वा प्रलोभनम् ।
विप्रतार्याऽबुधान् क्वापि, नीत्वाऽन्यत्र प्रपञ्चतः ॥

१४२. मुण्डयेयुर्मतोत्सर्पे, शिष्यसंख्याप्रलोभिनः ।
बुध्येरंस्ते कथं सन्तो, नेपथ्यपरिधापकाः ॥ (युग्मम्)

आहार आदि वस्तुओं का प्रलोभन देकर, भोले भाले बालक-बालिकाओं को फुसलाकर तथा प्रपञ्च से अन्यत्र कहीं ले जाकर दीक्षित करते हैं वे शिष्यों के लोभी मुनि अपने मत को बढ़ाने वाले होते हैं। वे केवल मुनिवेश धारक हैं। उन्हें मुनि कैसे मानें ?

१४३. मुण्डितास्तादृशाः किं स्युः, साध्वाचारस्य पालकाः ।

क्लान्ता नानाविधैर्दोषैः, सर्वतोऽपि विडम्बकाः ॥

इस प्रकार दीक्षित व्यक्ति साध्वाचार का पालन कैसे कर सकते हैं ? ये तो साधुत्व के कष्टों से क्लान्त होकर नाना प्रकार के दोषों से जिनशासन की विडम्बना कराने वाले ही होते हैं।

१४४. अज्ञायोग्योदरम्भर्यादीनां दीक्षाप्रदायिनाम् ।

निशीथैकादशोद्देशाद्दण्डः प्रावृषिकी मतः ॥

अज्ञ, अयोग्य एवं उदरार्थियों को दीक्षित करने वालों को निशीथ के ग्यारहवें उद्देशक में चौमासी दण्ड का प्रायश्चित्त बतलाया है।

१४५. विरक्ताश्चतुरा विज्ञाः, शिष्याः कार्यास्ततोऽन्यथा ।

एकाकिना विहर्तव्यमुत्तराध्ययनाद् ध्रुवम् ।

इसीलिए विरक्त, चतुर और विज्ञ को ही शिष्य बनाना चाहिए। अन्यथा उत्तराध्ययन के अनुसार गच्छ में एकाकी रहना श्रेष्ठ है।

१४६. पश्चात् स्युरयोग्याश्चेच्छिष्यास्तानऽपहाय च ।

एकाकिना विहर्तव्यं, गर्गाचार्यवदात्मना ॥

दीक्षा देने के पश्चात् भी यदि शिष्य अयोग्य निकल जाएं तो उनको छोड़कर गर्गाचार्य की भांति एकाकी विचरना ही श्रेयस्कर है।

१४७. मत्पाश्वर्षे हि त्वया लेया, दीक्षा नापरतत्त्विति ।

शपथार्थं यतन्ते ते, साधवो नैव शोभनाः ॥

तु मेरे पास ही दीक्षा लेना, दूसरों के पास दीक्षा मत लेना—इस प्रकार शपथ दिलाने का जो प्रयत्न करते हैं वे पवित्र संत कैसे हो सकते हैं।

१४८. तादृग् विधेममत्वं वा, गृहिसंस्तववर्द्धनम् ।

निशीथे तुर्यं उद्देशे, प्रायश्चित्तं च मासिकम् ॥

ऐसे रंगढंग से गृहस्थों के साथ ममत्व और परिचय बढ़ता है। अतः निशीथ के चतुर्थ उद्देशक में ऐसे प्रसंग पर मासिक दण्ड का विधान है।

१४९. रूप्यकाणि गृहस्थेभ्यो, दापं दापं कुटुम्बिनाम् ।

शिष्यकारा न सन्तस्ते, भवन्तोऽपि न साधवः ॥

जो गृहस्थों से कुटुम्बियों को रुपया दिला-दिलाकर शिष्य करने वाले हैं, वे साधु कैसे हो सकते हैं ? ऐसे शिष्य बनने वाले भी साधु नहीं हैं ।

१५०. यत्र यत्रोद्भवेद् हिंसोदीर्योदीर्यमनागपि ।

तत्र तत्र न धर्मः स्याद्, भावनापि न शोभना ॥

जहां-जहां हिंसा की उदीरणा की जाती है, वहां वहां तनिक भी धर्म नहीं होता और भावना भी अच्छी नहीं होती ।

१५१. महारम्भाडम्बराद्याः, समारोहादिभूरिशः ।

तत्र कीदृग् दयाधर्मस्तत्त्वदृष्ट्या विचार्यताम् ॥

जहां महारम्भ और आडम्बर पूर्वक समारोह होते रहते हैं वहां कौन से दया धर्म की निरूपति होती है, यह सोचना चाहिए ।

१५२. सप्रभावा बहिर्दृष्ट्या, मनोमनोरमा अपि ।

कुतूहलवत् क्षणान्तास्ते, सारकार्यापसारकाः ॥

ऐसे समारोह कुतूहल की भांति बाह्य दृष्टि से मनोरम और प्रभावना करने वाले हो सकते हैं, परन्तु तत्त्वतः वे यथार्थ से दूर करने वाले हैं ।

१५३. रात्रौ विस्मारकाः प्रातर्लभन्ते निगमं परम् ।

मध्याह्नि ये पथच्छ्रष्टास्तेषां काशा कथं सुखम् ॥

रात्रि में भूले भटके मनुष्य प्रभात में मार्ग पाने की आशा रखते हैं परन्तु मध्याह्न में मार्ग भूलने वाले मनुष्य को क्या आशा ? कैसा सुख ?

१५४. गुणः शून्यं प्रभोर्बिम्बं, यदि स्यात्कार्यसाधकम् ।

रूप्यकप्रतिकृत्या तत्, संसारो धनिको न किम् ॥

गुणशून्य प्रभु का बिम्ब यदि कार्यसिद्धि में समर्थ होगा तो फिर नकली रूप्यों से संसार भी धनी क्यों नहीं हो सकेगा ?

१५५. हिंसातोऽपि भवेद् धर्मस्तदाऽधर्मः कुतो भवेत् ।

वधोऽवधो भवेद् भावाद्, विषं किं न सुधा ततः ॥

यदि हिंसा से ही धर्म होगा तो फिर अधर्म किससे होगा ? यदि भावमात्र से ही हिंसा अहिंसा बन जाए तो भावमात्र से जहर भी अमृत क्यों नहीं बनेगा ?

१५६. स्वयं स्याद् गुणवान् हेतुर्बाह्योप्यर्च्यो भवेद् ध्रुवम् ।

निर्गुणो न कदापीज्यो, यतः पूजा गुणानुगा ॥

गुणवान् होना अर्चा का हेतु है। गुणवान् बाह्य भी अर्चनीय है। निर्गुण कभी भी अर्चनीय नहीं है, क्योंकि पूजा गुण के पीछे होती है।

१५७. हिंसाया राघना न स्याद्, गुरोर्देवस्य कर्हिचित् ।

दयाधर्मो जिनेन्द्रेण, प्राधान्येन प्ररूपितः ॥

गुरु और देव की आराधना कभी भी हिंसा से नहीं हो सकती। जिनेन्द्र भगवान् ने प्रधानरूप से दयाधर्म का ही प्ररूपण किया है।

१५८. रक्ता मत्ता वृथाऽऽक्षेपे, निन्दकास्ते हि सम्मताः ।

दोषास्त्रयोदशास्तेषां, वाण्यां प्रश्नाङ्गसूत्रतः ॥

जो वृथा आक्षेप करने के लिए रक्त और मत्त रहते हैं, वे निन्दक हैं। उनकी वाणी में तेरह दोष होते हैं, यह प्रश्नव्याकरण सूत्र का कथन है।

१५९. व्यर्थं शत्रुकरः क्लेशकरो दुर्गतिदायकः ।

हेयः परापवादो हि, सुकृतिभिर्भुजङ्गवत् ॥

परनिन्दा व्यर्थ शत्रु और क्लेश पैदा करने वाली तथा दुर्गति देने वाली है। अतः धार्मिकों को उसे भुजंग की तरह छोड़ देना चाहिए।

१६०. सप्रमाणं विना द्वेषं, सद्भूतार्थोपदेशकम् ।

माध्यस्थेन यल्लपनं, सा न निन्दा प्रकीर्तिता ॥

द्वेष रहित, सप्रमाण तथा माध्यस्थ भाव से जो यथार्थ कथन किया जाता है, वह निन्दा नहीं कहलाती।

१६१. यत्किञ्चित् कथनं नैजं, तन्न निन्दा परस्य च ।

यथार्थमपि निन्दा स्यात्, कुतस्तथोऽयं नयो भवेत् ॥

अपनी ओर से तो जो कुछ भी कहा जाए वह निन्दा नहीं, परन्तु पर का यथार्थ कथन भी निन्दात्मक माना जाए, यह कहाँ का न्याय है ?

१६२. विषकण्टकसर्पाद्यान्, वर्जयित्वा परित्रजेत् ।

कीदृक् परापवादोऽत्र, कास्ति तत्राऽवहेलना ॥

विष, कण्टक तथा सर्प आदि का वर्जन कर चलना चाहिए—इस कथन में कैसा परापवाद एवं कौनसी अवहेलना ?

१६३. तद्वज्ज्ञातकुदेवादिकुदृग्बोधोत्पथापथान् ।

हित्वा सत्पथगो यः स्याच्छ्रान्त्या निन्दा च तत्र का ॥

वैसे ही यदि ज्ञात कुदेव, कुगुरु, कुदृष्टि, उत्पथ और अपथ आदि को छोड़कर जो शान्ति से सत्पथगामी बनता है, वहाँ कौनसी निन्दा है ?

१६४. नामध्यातियशःपूजावृद्धयर्थं ये तपःकराः ।

रिक्ताब्धवत् प्रगर्जन्ति, विकलत्यागिनश्च ते ॥

नाम, ध्याति, यश और पूजा की वृद्धि के लिए जो तप करते हैं, वे खाली बादल की भाँति गरजते हैं और वे विकल प्रत्याख्यानी हैं ।

१६५. क्षतविक्षतवत्तेषां, तपः संस्तारकं ह्यपि ।

बन्धिपातान्तवद् घुष्टं, वृत्त्याद्युद्देशपूर्वकात् ॥

उनका तप क्षत-विक्षत शरीर के समान होता है तथा आजीविका के उद्देश्य से किया जाने वाला संथारा भी बल्लि में गिरकर मरने जैसा है ।

१६६. अनालोच्य च संस्तारं, तपः संलेखनादिकम् ।

कृत्वात्तं ध्यानतो मृत्वा, जन्म विकृत्य गामिनः ॥

जो बिना सोचे संलेखना-संथारा तथा तप आदि करते हैं वे आत्तं ध्यान से मरकर अपने जन्म को बिगाड़ देते हैं ।

१६७. तादृशां कृतसंस्तारं, पारगं स्यात्तथापि च ।

लज्जाऽसत्यपरिणामाभ्यामकामं मरणं भवेत् ॥

ऐसे मनुष्यों का संथारा यदि पार भी पहुँच जाए तो भी लज्जावश किए जाने एवं असत्यपरिणाम पूर्वक होने से वह अकाम मरण है ।

१६८. अकाममृतका घोरे, निर्भमज्जुर्भवाणंवे ।

तेषां पृष्ठे हि तेषां ये, गुणग्रामकरा अपि ॥

अकाम मरण करने वाले घोर भवसमुद्र में डूबते हैं और उनके पीछे-पीछे उनका गुणग्राम करने वाले भी डूब जाते हैं ।

१६९. मृतका मारकास्तद्वद्, दुर्गतौ निपन्ति ते ।

बध्नन्ति ते महामोहनीयं कर्म कुचक्रतः ॥

वैसे मरने वाले एवं मारने वाले—दोनों ही दुर्गति में पड़ते हैं और वे कर्मों के कुचक्र से महामोहनीय कर्म भी बांध लेते हैं ।

१७०. अत्रामुत्र यशःकीर्त्यै, स्वाध्यायो विनयस्तपः ।

आचारश्चार्हतामाज्ञाबाह्ये सर्वेपि कीर्त्तिताः ॥

इहलोक और परलोक के लिए तथा यश-कीर्त्ति के लिए किये गए स्वाध्याय, विनय, तप और आचार—ये सब जिनाज्ञा के बाहर हैं ।

१७१. तथापि विकलप्रत्याख्यानिनोऽतत्त्वदर्शिनः ।

कथं ते श्रमणश्रेण्यामवतेरुविचार्यताम् ॥

फिर भी अतत्त्वदर्शी, विकल-प्रत्याख्यान करने वाले मुनि साधुओं की श्रेणी में कैसे आ सकते हैं, यह विचारणीय है ।

१७२. धर्मोपकरणान्याऽऽह्वैः, पोषघाद्याश्रितान्यपि ।

मालामुखपतिप्रादिमार्जनी पुस्तकानि वै ॥

१७३. परिग्रहाव्रतागारमयानि तानि निश्चितम् ।

सूत्रकृतौपपात्यादौ, पाठैरुद्घाटितैः स्फुटम् ॥ (युग्मम्)

पौषघ आदि धार्मिक क्रियाओं में धर्मोपकरणों के नाम से माला, मुखपति, प्रमार्जनी, पुस्तक आदि परिग्रह अव्रत और आगार में हैं । इस विषय का सूत्रकृतांग तथा औपपातिक आदि सूत्रों में स्पष्ट पाठ है ।

१७४. चतुःसुप्रणिधानानि, संयतामेव सन्त्यजतः ।

गृह्युपकरणानां च, व्यापारः सर्वथाऽघवान् ॥

चार सुप्रणिधान संयतियों के ही बतलाये हैं, अतः गृहस्थों के उपकरणों का व्यापार सर्वथा सावध है, पापमय है ।

१७५. तत्तेषां पौषघाद्येऽपि, रक्षणं परिशीलनम् ।

ऊर्ध्वाधःकरणं नूनं, सावद्यं यत्नयापि च ॥

इसीलिए पौषघ आदि में यतनापूर्वक उपकरणों को रखना तथा सेवन करना—ऊँचे-नीचे करना निश्चित रूप से सावध है ।

१७६. अतिचारैकहारार्थं, तत्कृतप्रतिलेखनम् ।

सावद्यं स्यात्तदा किन्तु, तेषां पारत्रिकी कथा ॥

केवल अतिचारों की निवृत्ति के लिए उन उपकरणों का किया गया प्रतिलेखन भी सावध है तो दूसरों का तो कहना ही क्या !

१७७. यत्कार्यं च सतां दोषस्तत् कार्यं गृहिणां स हि ।

दोषमयं च यत्कार्यं, तत्कार्यं निरर्थं कथम् ॥

जिस कार्य में मुनियों को दोष लगता है, उस कार्य में गृहस्थ को भी दोष लगता है। जो कार्य दोषयुक्त है, वह निरघ (निर्दोष) कैसे हो सकता है ?

१७८. प्रथमे करणे यत्र, पापं संयमिनां भवेत् ।

द्वितीयेऽपि तृतीयेऽपि, तत् समेषामपि स्फुटम् ॥

प्रथम करण में संयमी व्यक्ति को जहां पाप होता है तब दूसरे तथा तीसरे करण में भी स्पष्ट रूप से पाप ही होगा ।

१७९. सामायिकादिहेतुभ्यः, पटादीनां विमोक्षणम् ।

व्यापारात् पुद्गलानां च, निरवद्यं न कथञ्चन ॥

सामायिकादि हेतुओं से वस्त्र आदि का विमोक्षण होता है । किन्तु पुद्गलों के व्यापार से कभी निर्दोषता नहीं होती ।

१८०. दानादानव्ययादीनि, पापभाञ्जि धनस्य हि ।

त्यागः सदुपयोगोऽस्याऽऽज्ञया चेत् क्रियते तदा ॥

धन का आदान-प्रदान और व्यय करना तो पाप ही है, परन्तु आज्ञा-पूर्वक उसका त्याग करना धन का सदुपयोग है ।

१८१. अग्नेरन्याग्निनिक्षेपवदऽग्नौ धनार्पणम् ।

यथा तथा व्ययोर्येवं, त्यागः स न कदाचन ॥

धन को अन्न में देना मानो एक अग्नि से निकालकर दूसरी अग्नि में डालना है । जैसे-तैसे धन का व्यय करना भी कभी त्याग नहीं कहलाता ।

१८२. रायां व्यापारमात्रस्य, वर्जनं पापहानये ।

द्रव्यत्यागः स हि ज्ञेयो, ममत्वोत्तारणं हि तत् ॥

जो पाप टालने की दृष्टि से धन के व्यापार मात्र का त्याग करता है, वह सही त्याग है और वही ममत्व-विसर्जन है ।

१८३. सावद्यसाधनेभ्योऽपि, व्यंहः साध्यो भवेत् फली ।

तदा काञ्चनभूषापि, पित्तलात् किं न जायते ॥

यदि सावद्य साधनों से निरवद्य साध्य फलित होता है तो फिर पित्तल से भी सोने की भूषा क्यों नहीं बनेगी ?

१८४. यस्मिन् सत्येव साध्यस्य, सिद्धिः स्यात्समनन्तरम् ।

यदऽभावे न यत्सिद्धिस्तद् द्वयं साधनं मतम् ॥

जिसके होने पर समनन्तर साध्य की सिद्धि हो और जिसके अभाव में साध्यसिद्धि न होती हो, वही साधन माना गया है। उसके ये ही दो अंग हैं।

१८५. व्यंहः कृत्योपबद्धानि, यानि तुल्यानि कान्यपि ।

कार्यान्तराणि नो तस्मात्, पृथग्भूतानि सन्ति च ॥

निरवद्य कार्यों के संलग्न उनके सदृश जितने भी कार्य हैं वे उन निरवद्य कार्यों से भिन्न नहीं हैं।

१८६. तदाज्ञायां तदाज्ञापि, समायाता नितान्ततः ।

व्याघात्कार्यात्पृथग् देहादेर्देयं न हि शासनम् ॥

निरवद्य कार्यों की आज्ञा होने से निरवद्य कार्यों से सम्बन्धित अन्य निरवद्य कार्यों की आज्ञा तो हो ही चुकी, पर देहादिक से निरवद्य कार्य के सिवाय आज्ञा नहीं दे सकते।

१८७. आस्वैहि शेषव निर्माहि, तिष्ठ ब्रजेति गेहिनाम् ।

नो वाच्यं च तथाऽन्यत्र, सद्भिर्ध्यानं प्रदीयताम् ॥

मुनि गृहस्थों को बैठो, सोओ, आओ, जाओ, करो, ठहरो नहीं कह सकते, ऐसे ही अन्यत्र ध्यान रखना चाहिए।

१८८. औदयिकं च तन्वादि, मन्यतां पृथगेव हि ।

निरवद्यं न तत् साधं, तत्कार्यं द्विविधं भवेत् ॥

शरीरादि उदय भाव वाले हैं अतः न तो वे निरवद्य हैं और न ही सावद्य। उनको पृथक् ही समझें। परन्तु उनके कार्य दो प्रकार के हो सकते हैं।

१८९. रूप्यकादि वृथक् तत् तत्, कर्त्तव्यानि पृथग् यथा ।

सदसदुपयोगाभ्यां, यशोऽयशःप्रसारकम् ॥

संसार में रूपया आदि भिन्न हैं और उनके कर्त्तव्य भी भिन्न हैं। जैसे रूपयों का सदुपयोग करने से यश का प्रसार होता है एवं असद् उपयोग करने से अपयश का प्रसार होता है।

१९०. तथैवालियागात्रस्य, कर्त्तव्यं द्विविधं मतम् ।

कार्यं पुरःसरं कृत्वा, वर्त्तनीयं हितैषिभिः ॥

वैसे ही गृहस्थों के शरीर से भी दो प्रकार के कार्य होते हैं—
सावद्य और निरवद्य । अतः हितैषियों को कार्य आगे करके ही वर्तन करना चाहिए ।

१९१. वस्त्वर्पणं मुनिभ्यश्च, व्यवसायो न पौद्गलः ।

अतिथिसंविभागस्थ, व्यापारो जिनसम्मतः ॥

साधुओं को दान देना कोई पौद्गलिक व्यापार नहीं है । वह तो
जिनाज्ञा सम्मत बारहवें व्रत की प्रवृत्ति है ।

१९२. दत्ते हि व्रतनिष्पत्तिर्दाने सद्भ्यश्च सद्बिधेः ।

तद्धि तत्साधनं व्यक्तं, मार्जिन्यादीनि नो तथा ॥

सद्विधि से साधुओं को दान देते ही व्रत की निष्पत्ति हो जाती
है, इसीलिए उसको बारहवें व्रत का साधन माना है । वैसे ही प्रमार्जनी आदि
रखते ही सामायिक और पौषधादिक धार्मिक क्रियाएं नहीं हो सकतीं । अतः
वे धर्मक्रिया के साधन नहीं हो सकते ।

१९३. जैनधर्मो जिनाज्ञायां जिनाज्ञातो बहिनं हि ।

यदि स्यात्तस्य धर्मस्य, दर्शकः कः प्ररूपकः ॥

जैन धर्म जिनाज्ञा में ही है, बाहिर नहीं । यदि हो तो उस धर्म का
कौन तो दर्शक है और कौन प्ररूपक ?

१९४. एवं भाषाविवेकः सद्भाषासमितिसाधकः ।

तदसत्त्वे च साधूनां, कथं तिष्ठति साधुता ॥

इसी प्रकार भाषा का विवेक साधुओं के भाषा समिति का साधक
बनता है । उस विवेक के बिना साधुओं की साधुता कैसे ठहर सकती है ?

१९५. सावद्यमपि मौनं स्यान्निरवद्यमपि तत्र यत् ।

आरम्भाद्येधिसावद्यं, तदन्यन्निरधं स्मृतम् ॥

मौन सावद्य भी हो सकता है और निरवद्य भी । जो मौन आरम्भादि
को बढ़ाने वाला है वह सावद्य है और उससे भिन्न निरवद्य है ।

१९६. सन्तमुद्दिश्य यत्सृष्टक्रीतस्थानाशनादयः ।

पश्चात्तद्दानकाले किं, धर्मं एवं समेष्वपि ॥

मुनि को उद्दिष्ट कर जो स्थान, अन्न-पान आदि बनाया जाता है, खरीदा जाता है, उसका बाद में दान देने से धर्म कैसे होगा ? सब विषयों में ऐसा ही जानना चाहिए ।

१९७. भोक्ता पाता च धर्माय, ब्रूयाद् भुञ्जे पिबाम्यहम् ।

भोजकः पायकोप्येवं, भेयसे तद्विधायकः ॥

खाने-पीने वाला कहता है कि मैं धर्म करने के लिए खाता-पीता हूं, ऐसे ही खिलाने पिलाने वाला भी कहता है कि मैं धर्म ध्यान कराने के लिए खिलाता पिलाता हूं ।

१९८. भोक्तुः पातुश्च पापत्वात्, तत्कार्यं न दयात्मकम् ।

परिणामानुसारेण, भावा ज्ञेयाः शुभाशुभाः ॥

किन्तु जब खाने-पीने वाले को पाप लगता है तो वह खिलाना-पिलाना दयात्मक कैसे हो सकता है ? क्योंकि परिणाम के अनुसार ही शुभ-अशुभ भाव जाने जाते हैं ।

१९९. पापोत्पादककार्याणि, भावान् पापमयांश्च ये ।

प्रबुध्यन्ते शुभत्वेन, तद्धि मिथ्यात्वमज्ञता ॥

पापों को उत्पन्न करने वाले कार्य एवं पापमय भावों को शुभ समझना ही मिथ्यात्व और अज्ञानता है ।

२००. आत्महिंसा हि हिंसा स्याद्, भावेन निश्चयेन च ।

तदभावे ननु द्रव्यहिंसा नो पापकारिणी ॥

आत्महिंसा ही भावहिंसा और निश्चययात्क हिंसा है । आत्महिंसा के बिना होने वाली हिंसा द्रव्यहिंसा है । वह पापोत्पादिनी नहीं है ।

२०१. कामभोगनिराशातः, स्युः सद्भावाश्च तर्पदा ।

मोक्षार्थं निमित्तो यो हि, स सम्यक् पौषधो मतः ॥

कामभोगों की निराशा से ही शुभभाव होते हैं और उन शुभभावों से मोक्ष के लिए किया गया पौषध ही सही पौषध है ।

२०२. एवं पौषधकाराणामात्मकार्यं प्रसेत्स्यति ।

कर्मरोधः कर्मत्रोटो, भावीति कथितो जिनः ॥

उपरोक्त कहे गए पौषध-विधान के अनुसार पौषध करने वालों की आत्मसिद्धि होगी। ऐसे पौषध करने से संवर व निर्जरा होगी, ऐसा जिनेश्वर भगवान् ने कहा है।

२०३. ऐह्यामुष्मिकलोकाय, प्सानपानार्थकीर्त्तये ।

पौषधो नैव कर्त्तव्यो, जिनेन्द्रैः कथितस्तथा ॥

इहलोक, परलोक और खाने-पीने व यशकीर्त्ति के लिए पौषध नहीं करना चाहिए, ऐसा जिन भगवान् ने कहा है।

२०४. अन्याशंसां विहायैकनिर्जरासंवरैप्सया ।

निर्मायात् पौषधं तत्त्वात्, सैव पौषधपौषधः ॥

अतः अन्य आशंसा को छोड़कर केवल संवर-निर्जरा के लिए किया गया पौषध ही तत्त्वतः पौषध है।

२०५. पितृष्ठातृसमाः श्राद्धाः, ये जिनैः प्रतिपादिताः ।

साम्प्रतं साम्प्रतं वव ते, साधुचारित्रपौषकाः ॥

भगवान् ने श्रावकों को साधुओं के पिता और भाई के समान बतलाया है। साधुओं के साधुत्व का पोषण करने वाले वैसे श्रावक वर्तमान में कहाँ हैं ?

२०६. प्रेयांसि जिनवाक्यानि, तद्गा नो गुरवो वराः ।

अलमन्यैरलं श्राद्धास्तादृगाः सन्ति स्वाऽधुना ॥

प्रेयस् जिनवचनों के पीछे चलने वाले गुरु ही हमारे श्रेष्ठ गुरु हैं, दूसरों से हमारा क्या प्रयोजन ? ऐसा सोचने वाले श्रावक अब कहाँ हैं ?

२०७. तादृशाः सिंहनादेन, प्रस्ताः केचन तादृशाः ।

केचनासन्नमव्यास्ते, जाताः सन्मार्गगामिनः ॥

कुछक वैसे शिथिल श्रावक स्वामीजी के सिंहनाद को सुनकर भयभीत हो उठे और कुछ आसन्न भव्य मनुष्य सन्मार्ग के अनुगामी बन गए।

२०८. श्रमणोपासकाः सत्या, यदि स्युस्तत्त्ववेदिनः ।

सन्तोऽपि सावधानाः स्युराचारैकपरायणाः ॥

यदि तत्त्व के जानकार सही श्रावक हों तो साधु भी सावधान और आचार-परायण रह सकते हैं।

२०९. साधूनां कार्यमेतावन्, स्वयं पापात् सुरक्षितः ।
रक्षयेदपरान्नित्यं, श्रीभिक्षोर्बचनद्वयम् ॥

साधु का यही कार्य है कि वह पाप से बचे, अपनी रक्षा करे और दूसरों को भी पाप से बचाए । आचार्य भिक्षु के ये दो ही वचन हैं ।

२१०. पृष्टः केनापि ते स्वामिन्नियांस्ते कठिनः पथः ।
शास्त्रसत्योऽपि पथ्योऽपि, कियद्वर्षं चलिष्यति ॥

किसी ने स्वामी को इस प्रकार पूछा कि आपका यह कठिन मार्ग शास्त्र-सम्मत और पथ्य होने पर भी कितने वर्षों तक चलेगा ?

२११. प्रोत्ततार प्रभुर्यावत्, सन्तः सत्यश्च सद्विया ।
श्रद्धाचारप्रसीमासु, दिष्ट्याऽग्ने दृढा दृढाः ॥

२१२. वस्त्रपात्रोपधीनां च, मर्यादाया न मर्बकाः ।
स्थानकादीनि निर्मातुं, चेष्टिष्यन्तेऽपि नो कथम् ॥

२१३. तावत् सम्यक् प्रकारेण, प्रवत्स्यन्ति समुत्तरम् ।
प्रकृत्या पेशलं श्रुत्वा, पृच्छको मुमुदेतराम् ॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

स्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा—‘जब तक साधु-साध्वी शुद्ध श्रद्धा, शुद्ध आचार का आगे से आगे दृढ़ता से पालन करते रहेंगे, वस्त्र, पात्र, उपधि की मर्यादाओं का अतिक्रमण नहीं करेंगे, स्थान आदि के निर्माण के प्रति सचेष्ट नहीं होंगे, स्थान के प्रति ममत्व नहीं रखेंगे तब तक यह धर्मसंघ चलेगा ।’ यह मृदु उत्तर सुनकर प्रश्नकर्त्ता बहुत प्रसन्न हुआ ।

२१४. स्थानकादीनि साधुभ्यः, प्रारप्स्यन्ते यदा कदा ।
वस्त्रपात्रादिमर्यादा, भञ्जयिष्यन्ति साधवः ॥

जब कभी साधुओं के लिए स्थान आदि बनाये जायेंगे, तब साधु वस्त्र, पात्र आदि की मर्यादा का भंग कर देंगे ।

२१५. स्थास्यन्ति कल्पलोपेन, भविष्यन्ति श्लथास्तदा ।
यन्मर्यादाप्रमाणेन, चालकाः शिथिला नहि ॥

जो कल्प का लोप कर विहरण करेंगे वे आचार में शिथिल हो जाएंगे । मर्यादा के प्रमाण से चलने वाले कभी शिथिल नहीं होते ।

२१६. अवितथतमां स्वच्छां चोच्छां नयागममानतो,
निरुपममहाक्रान्तिं कृत्वा मुदात्मिकतेजसा ।
जिनवरमतव्यासोल्लासं विधाय च भिक्षुणा,
कियदुपचितं पुण्यं पुण्यं तदेति जिनेश्वरः ॥

स्वामीजी ने प्रसन्नता के साथ अपने आत्मतेज से न्यायपूर्वक
जैनागमों के प्रमाण दे-देकर यथार्थ, स्वच्छ, उच्च और निरुपम महा-
क्रान्ति द्वारा जैनमत की व्यापक प्रभावना कर कितना पवित्र पुण्य-धर्म
उपार्जन किया होगा, यह तो जिनेन्द्र देव ही जान सकते हैं ।

श्रीनाभेयजिनेन्द्रकारमकरोद् धर्मप्रतिष्ठां पुनर्,
यः सत्यग्रहणाग्रही सहनयेराचार्यभिक्षुमंहान् ।
तत्सिद्धान्तरतेन चारुरचिते श्रीनत्थमल्लषिणा,
श्रीमद्भिक्षुमुनीश्वरस्य चरिते सर्गोऽभवत् षोडशः ॥

श्रीनत्थमल्लषिणा विरचिते श्रीभिक्षुमहाकाव्ये
जैनश्रमणकृत्याकृत्यप्रमाणपुरस्सरमुपढौकननामा
षोडशः सर्गः ।

सतरहवां सर्ग

प्रतिपाद्य : सिरियारो का अंतिम चतुर्मास । अतिसार रोग का आक्रमण । शरीर की शिथिलता । महाव्रतों को 'आलोचना' । सभी से क्षमायाचना तथा अंत में आमरण अनशन (संथारा) की प्रतिपत्ति ।

श्लोक : २०८ ।

छन्द : उपजाति ।

वर्ण्यम् :

विक्रम संवत् १८६० । आचार्य भिक्षु का अंतिम चतुर्मास सिरियारी नगरी में हुआ । उस समय आपके साथ छह संत थे । चतुर्मास में आप अतिसार रोग से ग्रस्त हुए । उपचार चला । पर वह फलदायी नहीं हुआ । धीरे-धीरे रोग बढ़ता गया । संवत्सरी के दिन आपने तीन बार देशना दी । आपने मुनि खेतसी आदि की सेवा की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा—खेतसी, टोकरजी और भारीमालजी—इन तीनों के योग से मुझे संयम साधना में बहुत आनन्द मिला । इनका समर्पण और सेवाभावना अद्भुत थी ।’ फिर अपने उत्तराधिकारी मुनि भारीमलजी के विषय में बहुत फरमाया और यह स्पष्ट बताया कि मैंने इन्हें अपने उत्तराधिकारी के रूप में क्यों चुना ? आपने सामूहिक शिक्षा देते हुए कहा—‘सभी परस्पर हिलमिल कर रहना । आचार्य के प्रति समर्पित तथा गण के प्रति वफादार बने रहना । वस्त्र, पात्र, शिष्य आदि की लोलुपता में मत फँसना । सुविधावाद को प्रश्रय मत देना । आचारवान् साधु-साध्वी के साथ रहना, अनाचारी से मेलजोल मत रखना ।’

धीरे-धीरे शरीर शिथिल होता गया । आपने अपने समूचे जीवन की समालोचना की । सभी से खमत-खामणा किया और आत्मा की ऋजुता से दोषों का प्रक्षालन कर भाद्रव शुक्ला द्वादशी के दिन आप कच्ची हाट से पक्की हाट में पधारे और वहीं तीनों आहार का प्रत्याख्यान कर संथारा ग्रहण कर लिया । लोग रोमाञ्चित हो उठे । चारों ओर आपका यशोगान होने लगा ।

सप्तदशः सर्गः

१. श्रियाभिरामं सिरियारिनाम, पुरं द्विश्लोत्तममध्यवर्त्ति ।
विदेहवर्षं निसघाग्ननीलाद्रघोरन्तरे रम्यतरं यथाऽभात् ॥

निषधाचल और नीलगिरि के बीच में अति सुन्दर महाविदेह क्षेत्र की तरह ही दो उत्तुंग शैलराजों के बीच समस्तश्री से मनोहर सिरियारी नाम का नगर सुशोभित था ।

२. गङ्गेव गौरी विलसञ्चकोरी, कल्लोलिनी क्रीडति यत्र बाह्ये ।
धरातुराषाट् सबलस्तुराषाडिव प्रियो दोलतसिंहसञ्ज्ञः ॥

उस नगर के बाह्यभाग में गंगा की तरह पवित्र स्रोतस्विनी प्रवाहित हो रही थी । उसके तटों पर चकोरियां क्रीडारत थीं । वहां का शक्तिशाली, नीतिज्ञ अधिनायक इन्द्र की तरह सर्वप्रिय था । उसका नाम था दोलतसिंह ।

३. पद्माभूतान्येकसहस्रसद्मान्यासंस्तदोत्केशकवंशजानाम् ।
आर्यस्य तत्राधिकषण्णवत्या, सप्तान्यभुः सप्तशतानि तेषु ॥

वहा ओसवाल जाति के हजार घर थे । वे सब घनाढ्य थे । उनमें से सात सौ छिन्नवें घर आचार्य भिक्षु के अनुयायी थे ।

४. आच्छास्ति जात्या खलु तेषु हुक्मचन्द्रामिघः श्राद्धवरः प्रमाण्यः ।
स सोजताल्ये नगरे मुनीन्द्रं, व्यजिज्ञपद् विज्ञपनंकविज्ञः ॥

उनमें हुक्मीचन्दजी आच्छा नाम के एक जाने-माने श्रेष्ठ श्रावक भी थे । वे प्रार्थना करने में अति निपुण थे । उन्होंने सोजत नगर में जाकर मुनिपति से सिरियारी के लिए महती प्रार्थना की ।

५. पुरेऽस्मदीये सिरियारिसञ्ज्ञे, ह्येषोम्बुवर्तुः कृपया समर्प्यः ।
वयं मयूरा वरचातका वा, त्वत्कर्तुकाः स्मः परितर्पयन्तु ॥

‘हे महाभाग ! इस वर्ष का चातुर्मास तो आप हमारे इस सिरियारी नगर में ही बिताने की कृपा करें। जैसे मयूर और चातक मेघ की याचना करते हैं, वैसे ही हम भी आपके सान्निध्य की याचना करते हैं। आप हमें तृप्त करने की कृपा करें।’

६. तत्रापणयां परिपक्विकायां, व्योम्नीव राजा सुविराजतां तत् ।

अङ्गीकृतस्तद् विनयो नयज्ञैः, श्रीभिक्षुराजैः श्रमणाधिराजैः ॥

‘गगनाङ्गण में चन्द्रमा की तरह ही आप वहां ‘पक्की’ दुकान में ‘विराजें’, आच्छाजी की इस नम्र प्रार्थना को नय-विशारद, श्रमणशेखर श्रीमद् भिक्षु स्वामी ने स्वीकार कर लिया।

७. श्रीभारिमालो मुनिखेतसीजीः, श्रीरायचन्द्रो ह्युदयादिरामः ।

जीवो मुमुक्षुर्भगजीरितोद्वेः, षड्भिर्यच्च सद्भिर्वशिनां विशिष्टः ॥

उस समय मुनि भारिमालजी, खेतसीजी, रायचन्द्रजी, उदयरामजी, जीवोजी और भगजी—ये छह संत आपके साथ थे।

८. व्योमर्तुयोगेन्दुसमासु चान्त्यं, कर्तुं चतुर्मासमगात् स तत्र ।

पञ्चाननाङ्कः परमः परेशः, पुरीमपापामिव तीर्थनाथः ॥

विक्रम संवत् १८६० का अंतिम चातुर्मास बिताने के लिए आप वहां पर वैसे ही गये जैसे कि अपापा नगरी में अपना अंतिम चतुर्मास बिताने के लिए सिंह के चिन्ह वाले चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर।

९. सदाग्रहान्नननुगृह्य तिष्ठंस्तत्रांशुसङ्घोऽशुमतीव रम्ये ।

शोभान्वितं तन्नगरं वितेने, पर्जन्यकालोऽभिवैष भिक्षुः ॥

उन सद् आग्रही श्रद्धानुओं पर अनुग्रह कर आप उस नगर में वैसे ही स्थित हो गए जैसे कि रश्मिराशि रम्य रविमंडल में स्थित हो जाता है और आपसे वह नगर वैसे ही सुशोभित हुआ जैसे वर्षा ऋतु का काल बादलों से शोभित होता है।

१०. पौरान् समुद्दिश्य स भव्यसभ्यान्, धर्मोपदेशं प्रविदेश दिव्यम् ।

निपीय पीयूषमिवाङ्गिनस्ते, वत्सा इवानन्दपरायणाश्च ॥

उन्होंने वहां के शिष्ट भव्यजनों को उद्दिष्ट कर दिव्य धर्म-देशना दी। उसका अमृत की भांति पानकर वे वैसे ही आनन्दमय हो गए जैसे दूध पीकर बछड़ा आनन्दमय हो जाता है।

११. नमोम्बुवाहादिव नीरधारा, यद्देशना धर्ममयी ववर्ष ।

तत्त्वप्ररोहैर्जनता समस्ता, वसुन्धरावद् हरिता भूताऽभूत् ॥

उनकी धर्मदेशना मेघ की जलधारा की भांति बरसने लगी । उससे वहां की समस्त जनता तत्त्वज्ञान से वैसे ही हरी-भरी हो गई जैसे बुवाईकुरों से वसुन्धरा ।

१२. इतो घनासारविसारभाव, इतो यतः सौव्रतसत्प्रचारः ।

स्पर्धा द्वयोः किं परितः प्रवृद्धा, लाभाय लोके द्विविधाऽमिताय ॥

एक ओर पानी का सुविस्तार और दूसरी ओर सुव्रतों का सत् प्रचार । द्रव्य और भाव—इन दोनों प्रकार के लाभों से वहां की जनता को अत्यधिक लाभान्वित करने के लिए ही इन दोनों में स्पर्धा हुई हो, ऐसा प्रतीत हो रहा था ।

१३. स्थानेऽत्र धर्मस्य चलद्गृहस्थारम्भा निरुद्धा अपि चोष्णतावत् ।

तेषां नवानां तु कथं व कास्त्यऽहिंसा ह्यहिंसा सकले सगन्धा ॥

यहां धर्मस्थान में गृहस्थों की चालू हिंसा भी वैसे ही निरुद्ध हो गई जैसे वर्षावास में गर्मी । ऐसी स्थिति में नये नये आरम्भ एवं हिंसात्मक कृत्यों की तो बात ही कहां ? इस प्रकार तब चारों ओर अहिंसा ही अहिंसा की सुरभि से सारा समाज सुरभित हो उठा ।

१४. आवश्यकार्थं स्वशयाम्बुजेन, लेखं प्रलेखं वदते विनेयान् ।

सन्नायको नायकतां विवोदुं, निजान् निधानं नहि दशयेत् किम् ॥

अपने हाथों से लिख-लिखकर वे अपने शिष्यों को आवश्यकसूत्र का अर्थ बतलाते थे । क्या एक सन्नायक अपनी नायकता का निर्वाह करने के लिए अपने कुटुम्बियों को गुप्त निधान नहीं बतलाता ?

१५. द्विरेफवत्या स्वयमेव नित्यं, सद्गोचरीं घोरतपास्तपस्वी ।

वृत्तिं निजं गौतमवद् वितन्वन्, लेभेऽब्जवच्छ्रावणपूर्णमासीम् ॥

उग्रतपा तपोधन आचार्य भिक्षु गौतम जैसी जीवनचर्या निभाते हुए भ्रमर की भांति स्वयं गोचरी करते थे । इस प्रकार वे चन्द्रमा की भांति श्रावणी पूर्णिमा को प्राप्त हुए ।

१६. आजन्मपञ्चेन्द्रियतीव्रतेजा, निरामयाङ्गो विमलो विशिष्टः ।

आसेचना'कर्षकदिव्यमूर्तिः, खर्वो न पुष्टो न लघुर्न दीर्घः ॥

आचार्य भिक्षु की पांचों इन्द्रियां आजन्म तेजस्वी रही। उनका शरीर निरोग, विमल और असाधारण था। उस दिव्यमूर्ति को देखते-देखते आंखें तृप्त नहीं होती थीं। वे न दुबले-पतले थे और न मोटे-ताजे। वे न ठिगने थे और न लंबे।

१७. अतर्कितः कश्चिदपीडयन्मलानिरोधामय^१ एतमाशु ।

लब्धावकाशः किमु नैव राहुः, सुधां किरन्तं ग्रसते सुधांशुम् ॥

इस बार अचानक अतिसार के रोग ने आपको घेर लिया। क्या अवसर पाकर राहु अमृतवर्षी चन्द्रमा को ग्रसित नहीं कर लेता ?

१८. क्षमाधराणां दधताग्रपादौ, समाधिसिन्धौ शफरायितेन ।

सनत्कुमारार्हतचक्रिणेव, कलान्तं न किञ्चिद् व्यथयाऽधिपेन ॥

क्षमाशील व्यक्तियों में अग्रणी, समाधि के गहन सिन्धु में निमग्न स्वामीजी उस व्यथा से बैसे ही व्यथित नहीं हुए जैसे अर्हत् शासन के तीर्थंकर चक्रवर्ती सनत्कुमार अपने शरीर में एक साथ पैदा होने वाले सोलह रोगों से व्यथित नहीं हुए।

१९. उपासनास्यैव निराशिताऽभूज्जडस्य किं नाम करोति पूजा ।

साध्योऽगदङ्कारगणेन^२ नो स, खलोऽखलेनोपकृतोऽखलः किम् ॥

उस रोग की की गई परिचर्या जड़ की उपासना की भांति व्यर्थ ही गई। चिकित्सक उस पर नियंत्रण नहीं पा सके। क्या सज्जन व्यक्ति से उपकृत होने पर भी दुष्ट व्यक्ति सज्जन बन सकता है ?

२०. अनात्मसङ्ग्राममुखंकीरो, गणेद् व्यथां नो गदजामखण्डः ।

मदान्धगन्धोदुरसिन्धूरोद्धः^३, शक्तिं परेषामिव सप्रतिज्ञः ॥

१. आसेचनकम् — जिसको देखने से नेत्र तृप्त न हों (तदासेचनकं यस्य दर्शनात् दृग् न तृप्यति—अभि० ६।७९)

२. मलानिरोधामयः—अतिसार।

३. अगदङ्कारः—चिकित्सक (रोगहार्यगदङ्कारो—अभि० ३।१३६)

४. उद्धः—श्रेष्ठ (मर्चचिकाप्रकाण्डोद्धाः प्रशस्यार्थप्रकाशकाः—अभि० ६।७७)

वे अखिन्नचेता भिक्षु जड़ कर्मों के साथ संग्राम करने में बड़े वीर थे । उन्होंने उस रोगजनित व्यथा की परवाह नहीं की । क्या मदोन्मत्त, सप्रतिज्ञ और श्रेष्ठ गन्धहस्ती दूसरों की शक्ति की परवाह करता है ?

२१. आजन्म जैनर्त्तं विभावनाभिनिबद्धनैपुण्यसुपुण्यपुण्यः ।

भयं न मृत्योस्तनुते ततार्थी, मृत्युञ्जयो वाऽन्यतरोवतारी ॥

जीवन पर्यन्त जिनशासन की यथार्थ प्रभावना करते रहने के कारण बंधे हुए उत्तम पुण्य से पुण्यवान् तथा मोक्षार्थी स्वामीजी मृत्यु के भय से भयभीत नहीं हुए । प्रतीत होता था कि मानों वे मृत्यु पर विजय पाने वाले कोई अलौकिक ही अवतारी हैं ।

२२. संवत्सरी पर्युषणाख्यया यत्, पर्वाधिराजे वरपर्वणीह ।

शरद्धनोद्गर्जनघोषरम्या, त्रिदेशना तेन मुदा वितेरे ॥

२३. वयस्त्रिकं जन्मजरापमृत्युत्रिकं च तापत्रिकमङ्गभाजाम् ।

हन्तुं त्रिसन्ध्यं ददते त्रिसन्ध्योदुपासनावद् वृषदेशनाग्निः ॥ (युग्मम्)

पर्युषणा पर्व के अन्तर्गत 'संवत्सरी' नामक महापर्वाधिराज है । संवत्सरी के दिन आचार्य भिक्षु ने शरद ऋतु के घन-गर्जन की भांति घोषयुक्त रमणीय वाणी से प्रसन्नतापूर्वक तीन बार धर्मदेशना दी ।

तीन अवस्थाओं—बचपन, यौवन और बुढ़ापा, तीन दुःखों—जन्म-दुःख, जरादुःख और मृत्युदुःख तथा तीन प्रकार के तापों—आधि, व्याधि और उपाधि—को मिटाने के लिए त्रिसन्ध्य—उपासक तीन संध्याओं में उपासना करता है । मानो स्वामीजी ने भी प्राणियों की इन सब स्थितियों को मिटाने के लिए ही ये तीन धर्मदेशनाएं दीं ।

२४. कल्प्योपचाराश्चरितार्थिनो नाऽकल्प्योपचाराश्चरिता न तेन ।

प्राणान्ततोऽप्युत्तमचातकः किं, निपीयते पङ्किलपल्वलान्मः ॥

स्वामीजी के शरीर में व्याधि का प्रकोप बढ़ता ही गया, क्योंकि कल्पनीय उपचारों से तो व्याधि घटी नहीं और अकल्पनीय उपचारों को उन्होंने स्वीकार नहीं किया । क्या प्राणान्त की स्थिति में भी उत्तम चातक पंकिल तलाई का पानी पीने की इच्छा करता है ?

२५. तिथिं चतुर्थीमवलम्ब्य शुक्लां, जानाति स स्वं शिथिलं शरीरम् ।

तदीयचन्द्रादिवमर्त्यलोकः, श्वितप्रमाणः स्वकपुण्यपुञ्जम् ॥

१. जैन + ऋत् = जैनर्त्त — जैन धर्म की यथार्थ

२. ततार्थी—मोक्षार्थी ।

भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी के दिन उन्होंने अपने शरीर की शिथिलता को वैसे ही जान लिया जैसे चतुर्थी के चान्द को देखकर मर्त्यलोक में चांद के प्रमाण के ज्ञाता लोग अपने पुण्य-पुञ्ज को जान लेते हैं ।

२६. ततो बभाषे सितकान्तिकान्तः, शान्तः प्रशान्तः शमिखेतसीजीम् ।

स्थिरं जगद्भ्रममसापि भावि, गात्रं चरित्रैकपवित्रपात्रम् ॥

तब चन्द्रमा की भांति शीतल, प्रशान्त, धवल यश से यशस्वी स्वामीजी मुनि खेतसीजी से कहने लगे—‘वत्स ! चरित्र का एकप्रात्र पवित्र पात्र यह मेरा शरीर अब जगत् की भांति स्थिर नहीं है ।

२७. त्वं टोकराख्यश्च मुमुक्षुभारीमालस्त्रयः सान्द्रविनीतशिष्याः ।

योगोऽमिलद् वो मम सत्पवित्रो, यथा त्रिरत्नस्य मुनेर्मुमुक्षोः ॥

खेतसी, टोकरजी और मुमुक्षु भारीमाल—तुम तीनों बहुत विनीत हो । जैसे मोक्षार्थी मुनि को देव, गुरु और धर्म—इन तीन रत्नों की प्राप्ति होती है वैसे ही मुझे तुम तीनों का बहुत ही उत्तम संयोग मिला है ।

२८. सहायतो वः सुमुनिस्त्वमेतन्, मयाऽप्यपालि प्रसमाधिभाजा ।

धातुत्रिकादङ्गभूतेव गात्रं, शक्तित्रयाद्राज्यमिवाधिपेन ॥

जैसे मनुष्य धातु-त्रिक (वात, पित्त और कफ) से अपने शरीर को पुष्ट करता है, और एक शासक शक्तित्रय (प्रभुशक्ति, उत्साहशक्ति और मंत्रशक्ति) से अपने शासन को शासित करता है, उसी प्रकार मैंने भी तुम तीनों के सहयोग से समाधिपूर्वक संयम की आराधना की है ।

२९. प्रशस्य तान् सर्वविशां समक्षं, श्रीभारिमालादिकशिष्यवर्यान् ।

मुदा समुद्दिश्य विशिष्य भावान्, बढौ महामार्मिकतोपदेशम् ॥

समस्त जन समूह के बीच उन तीनों की प्रशंसा कर, भारीमालजी आदि शिष्यों को पूर्ण प्रसन्नता से सम्बोधित कर आचार्य भिक्षु ने बहुत ही मार्मिक उपदेश देते हुए कहा—

३०. यथा सदाज्ञा स्वशिरोवहा मे, जिनेश्वराज्ञेव धृताऽतिभक्त्या ।

तथैव धार्याऽस्य नयेन भारीमालस्य कल्याणकृते कृतार्थः ॥

‘जिनेश्वर देव की आज्ञा की भांति अत्यन्त भक्ति के साथ तुम सबने जैसे मेरी आज्ञा शिरोधार्य की, वैसे ही कल्याण के लिए इस भारीमाल की आज्ञा को भी तुम सब कृतार्थ बनकर शुद्ध नीति से स्वीकार करना ।’

३१. योग्यः समीक्ष्येण मया न्ययोजि, नितान्तनिष्पक्षतया पदत्वे ।

मणिर्मणीकारविचक्षणेन, नियुज्यते किं न हि नायकत्वे ॥

‘मैंने इसको (भारीमाल को) योग्य समझकर ही निष्पक्षदृष्टि से इस पद पर प्रतिष्ठित किया है। क्या एक विचक्षण मणिकार अच्छे मणि को मध्य में, नायक के रूप में—प्रधान रूप में स्थापित नहीं करता ?’

३२. गुरोर्नियोगाः परिपालनीयाः, प्राणा इव प्राणसमर्पणेन ।

प्राणच्युतिः स्याद्यदि वा तदास्तु, परं तदाज्ञाविलयोस्तु मा मा ॥

‘हे शिष्यो ! गुरु के आदेशों को प्राणार्पण करके भी प्राणों की तरह ही पालन करना चाहिए। यदि उनके पालन में प्राण जाते हों तो भले ही जाएं, पर उनके आदेशों की अवहेलना नहीं होनी चाहिए ।’

३३. एष स्वयं शास्त्रमभिप्रयाता, ध्रुवानुसारीव सुपोतवाहः ।

आचारदीपं न कदापि मोक्षा, स्वमण्डलं मण्डलमण्डनो वा ॥

‘यह मुनि भारीमाल सिद्धान्तों के अनुसार स्वयं वैसे ही चलनेवाला है, जैसे ध्रुव नक्षत्र के अनुसार जहाज का निर्यामक। यह आचार रूपी दीपक को कभी भी छोड़ने वाला नहीं है जैसे सहस्ररश्मि सूर्य अपने मंडल को नहीं छोड़ता ।’

३४. षट्त्रिंशदाचार्यगुणान्यैरस्मिन् भूताः सम्प्रविलोकितास्ते ।

रत्नाकरे रत्नगणा इवाध्यास्तारा इव व्योमतले विशाले ॥

‘रत्नाकर में अनेक अर्घ्य रत्न और अनन्ताकाश में असंख्य तारों की भांति ही इसमें आचार्य के छत्तीस गुणों के अतिरिक्त अनेक गुण भरे हुए हैं, यह मैंने स्पष्ट रूप से देखा है ।’

३५. अस्मिन् मुनित्वं परमं पवित्रं, साधुत्वरीतिः परमा पवित्रा ।

जीवे स्फुरच्चेतनशक्तिवच्च, मया न्यभालि भृतलक्षणाभ्याम् ॥

‘जैसे जीव में चैतन्य शक्ति का प्रस्फुटन होता है, वैसे ही इसमें परम पवित्र श्रामण्य तथा पावन और विशुद्ध संयम-रीति का संगम मैंने ज्ञान और लक्षणों में देखा है ।’

३६. प्राणांस्त्यजेदेष न किन्तु वृत्तं, यथा गजेन्द्रो रणभूमिशीर्षम् ।

लोकप्रवाहे न कदापि वोढा, नीरागवन्निश्चलनिःस्पृहात्मा ॥

‘रणभूमि के मोर्चे पर खड़े गजेन्द्र की तरह ही यह भारीमाल प्राणों को छोड़ सकता है पर आचार को नहीं। यह वीतराग की भांति निश्चल और निस्पृह है। यह लोक-प्रवाह में बहने वाला नहीं है ।’

३७. अस्मिन्निपुक्तोष्टमभक्तदण्ड, ईर्याभति कोपि वदेत्तदानीम् ।

प्रकम्पिते क्षोणितले कदाचिद्, विधेर्विधानेरिव मेरुदण्डः ॥

भिक्षु आचार बोले—मैंने एक बार मुनि भारीमाल से कहा, यदि कोई गृहस्थ तुम्हारे में ईर्यासमिति की क्षति बताए तो तुमको तेले का दण्ड आयेगा । (मुनि भारीमाल ने निश्चल मन से उसे सुना, स्वीकार किया ।) ठीक ही कहा है—पृथ्वी के प्रकम्पित हो जाने पर भी क्या विधि के विधान की भांति कभी मेरुदण्ड (मेरुपर्वत) प्रकम्पित होता है ?

३८. स्वीकृत्य सम्यक् सकलं स्वहृदवत्, पप्रच्छ मां शंभकवत् किलेषः ।

निष्काशयेत् कोपि मुधेव किं तद्, बहूनि मित्राणि पदे पदे नः ॥

अपने हृदय से सब कुछ सम्यक् प्रकार से स्वीकार कर, एक बार शैक्ष की भांति भारीमाल ने मुझे पूछा—‘भंते ! हमारे पग-पग पर अनेक मित्र हैं । यदि कोई भूठी ही क्षति निकालेगा तो ?’

३९. अशिक्ष्यं तत्सदसदृशासु, विधेयवत् तत् विधेयमेव ।

तत्सत्यतायामगदोपमं तत्, विद्वद्यन्यथा प्राक्कृतकर्मनाशि ॥

स्वामीजी ने कहा—‘स्खलना हो या न हो, दूसरे के द्वारा स्खलना बतलाने पर जो करना है वह करना ही है । यदि स्खलना हुई हो तो वह दण्ड रोग-निवारण के लिए ली जानेवाली औषधि की तरह स्वीकरणीय होगा और यदि कोई भूठा ही आरोप लगाए तो भी वह दण्ड पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा के लिए स्वीकरणीय होगा ।’

४०. तथ्यं हि तथ्यं भवदुक्तमित्थं, संश्रुत्य संपात्य शमेन शिष्टिम् ।

आदर्शतां सद्विनयस्य साक्षात्, संस्थापिताऽयं विदितः प्रसङ्गः ॥

भारीमालजी ने कहा—‘भंते ! आपने ठीक कहा है, ठीक कहा है ।’ उन्होंने आचार्य भिक्षु के कथन को सही रूप में स्वीकार किया, उसका शान्त-भाव से अनुपालन किया । इस आचरण से उन्होंने विनीत शिष्य का आदर्श स्थापित किया । यह प्रसंग अत्यन्त विश्रुत है ।

४१. तस्मादयं शासनसूत्रधारोऽसूत्र्यऽहंतेवेह मया गणेन्द्रः ।

आराध्य एवैष ततो भवद्भिश्चारित्रवच्चाराधियां धुरीणः ॥

‘जैसे तीर्थंकर गणधरों को गणों को भार सौंपते हैं, वैसे ही मैंने भारीमाल को शासन का सूत्रधार बनाया है । तुम सब बुद्धिमान् शिष्य उसकी आराधना उसी प्रकार से करना जैसे तुम चारित्र की आराधना करते हो ।

४२. अतः कषायश्लथताग्रहाद्यैर्मत्सेभवत्कोपि निरङ्कुशः स्यात् ।

साधुः स मान्यो न च वन्दनीयः, सीमापसारीव स वर्जनीयः ॥

‘यदि कोई मुनि कषाय, आचार-शिथिलता एवं दुराग्रह आदि दोषों से मदोन्मत्त हाथी की तरह निरङ्कुश हो जाए तो वह मर्यादा का अतिक्रमण करने वाला मुनि सबके लिए अमान्य, अवन्दनीय और वर्जनीय है ।’

४३. यः कोप्यनुज्ञां श्लथितोऽस्य भारीमालस्य मुक्त्वा गणतो बहिः स्यात् ।

साधुः स मान्यो न कदापि सर्वैस्तत्त्वं विशेषात् परिचिन्तनीयम् ॥

‘जो कोई मुनि शिथिलाचारी होकर भारीमाल की आज्ञा को छोड़कर गण से बाहर हो जाए तो उसे कोई साधु न माने । इस सूक्ष्म रहस्य को गहराई से समझना चाहिए ।’

४४. एकस्त्रयो द्वावपि वा कियन्तो, भग्नव्रता ये गणतो बहिः स्युः ।

तेषां च चिन्ता न मनाग् विधेया, स्वाचाररक्षा सततं प्रकाश्या ॥

‘व्रतों से भ्रष्ट होकर एक, दो या तीन या कितने भी क्यों न हों, यदि गण से बाहर हो जाएं तो उनकी किञ्चित् भी परवाह न करते हुए अपने आचार की सुरक्षा में सतत जागरूक रहना चाहिए ।’

४५. आचारपारायणपालकैः सत्सम्बन्धबन्धो व्रतिनां सुखाय ।

आचारहीनैः शिथिलैः समन्तात्, कुसङ्गवत् त्रोटयितव्य एव ॥

‘आचार-सम्पन्न साधुओं के साथ बना हुआ सम्बन्ध ही मुनियों के लिए सुखद होता है । आचारहीन और शिथिल मुनियों के साथ बने संबंध को कुसंग की भांति पूर्णतः तोड़ ही देना चाहिए ।’

४६. आचारवन्तो मुनयो हि सेव्या, आरोग्यकामैरिव तथ्यपथ्याः ।

आचारहीना गुरवो हि हेयाः, कुपथ्यवारा इव पाटवोक्तैः ॥

‘आचारवान् मुनि ही उपासना के योग्य होते हैं । जैसे स्वास्थ्य की कामना करने वाला व्यक्ति उत्तम पथ्य का सेवन करता है वैसे ही आचारवान् मुनि की उपासना करनी चाहिए । आचारहीन गुरु वैसे ही त्याज्य हैं जैसे आरोग्यार्थी के लिए कुपथ्य’ ।

४७. यो वीतरागस्य गुरोश्च शिष्टाद्या, विलोपकः सोऽत्र न वन्दनीयः ।

स्वच्छन्दचारी स्वगुरुन्मदिष्णुर्भवेद् गुरुर्वान्वगुरुर्गरीयान् ॥

‘जो वीतराग और गुरु की आज्ञा को लोपने वाला हो, वह इस जिनशासन में वन्दनीय नहीं हो सकता, चाहे वह गुरु हो या गुरु का भी गुरु । यदि वह अपने गुरु की भावना का उल्लंघन करने वाला तथा स्वच्छन्दा-चारी है तो वह भी पूजनीय नहीं हो सकता ।’

४८. पाषण्डिपार्वंस्थकुशीलकाद्यः, सङ्गो महानर्थकरो निरर्थः ।

उपासकाङ्गप्रमुखे निषिद्ध, आनन्दवद्वेयतर समस्तैः ॥

‘पाखण्डी, आचार शिथिल एवं पार्श्वस्थ व्यक्तियों की संगति व्यर्थ तथा महान् अनर्थ करने वाली होती है । इसलिए उपासक दसा आदि सूत्र में उसका निषेध है और आनन्द श्रावक की भांति ही वह सबके लिए त्याज्य है ।’

४९. तत्सङ्गता लाघवमार्हतस्य, मतस्य हंसस्य वकोटकाद् वा ।

यद् वा परैः साम्यमथः परेषां, स्याद् वा महत्त्वं च ततोऽतिवर्ज्यः ॥

‘उनका संसर्ग आर्हत् मत के लिए लघुता का परिचायक होता है, जैसे बगुलों की संगति हंस के लिए । अथवा दोनों मतों की समानता या इतर मतावलम्बियों की विशेषता लगती है । अतः ऐसा संसर्ग सबके लिए वर्जनीय है ।’

५०. देवाद् दृढः कोऽपि ततः कदाचित्, तथापि सोऽन्यार्थमनर्थहेतुः ।

अभावुकः कोऽपि परं तदन्ये, ह्यनन्तशोऽनादिपरम्परातः ॥

‘ऐसे सम्पकों से दृढ़ता रहनी अत्यन्त दुष्कर है, यदि भाग्यवश कोई दृढ़ रह भी जाए, फिर भी वह दूसरों के लिए तो अनर्थकारी ही होता है । क्योंकि भावुकता में न बहनेवाला तो कोई एक होता है, पर भावुकता के प्रवाह में बहने वाले तो अनादि परम्परा से अनन्त मिलते हैं ।’

५१. धर्मानुरागोऽथ परस्परं च, रक्ष्यः प्रतीक्ष्यः श्रमणैः समस्तैः ।

अक्रोधताद्या वरपञ्चमाङ्गे, सतां प्रशस्ता गदिता जिनेन्द्रैः ॥

‘भग्य शिष्यो ! तुम सब श्रमण परस्पर में धर्मानुराग रखना । देखो, जिनेश्वरदेव ने पांचवें अंग आगम भगवती में साधुओं के अक्रोधता (क्षमा) आदि गुणों को प्रशस्त बतलाया है ।’

५२. यादृग् न तादृग् परिमुण्डनीयो, दशं च दशं बहु दीक्षणीयः ।

कुष्ठातिकुष्ठा ननु शिष्यलिप्ता, ममत्वबन्धोऽत्र परिग्रहः स्यात् ॥

‘हे शिष्यो ! अच्छी तरह से जांच-पड़ताल करके ही दीक्षा देनी चाहिए । ऐसे-वैसे हर किसी को मुण्डित नहीं करना चाहिए । शिष्य-लिप्ता अति दुःखदायिनी होती है । शिष्यों पर ममत्वभाव रखना भी परिग्रह है ।

५३. देया च दीक्षा हि महाजनाय, शेषेऽभ्यधायि व्रतिनामघीर्शः ।

न लेखितं किन्तु दत्ते विनीतं रघारि चित्ते तद्विदं शुभाय ॥

आचार्य भिक्षु ने शिक्षा देते हुए अन्त में कहा—दीक्षा महाजन को ही देनी चाहिए । उन्होंने इस मर्यादा के रूप में पन्ने पर नहीं लिखा किन्तु सुविनीत शिष्यों ने उसे श्रेयस्कर समझ कर हृदय में धारण कर लिया ।

५४. सर्वेऽपि शुद्धं कगुरो नियोगे, प्रवर्त्तनीया विशदाशयेन ।

परम्परा रीतिरियं च सीमा, निर्वाहनीया परिपालनीया ॥

‘तुम सभी निर्मलनीति से शुद्ध गुरु के अनुशासन में (आदेश में) चलते रहना, यह परम्परा रीति है । इस मर्यादा का भलीभांति निर्वाह और पालन करते रहना है ।’

५५. यः कोऽपि बोधान् परिषेव्य मिथ्यालपेन दण्डं समुपाददीत ।

सोऽरं बहिष्कारपदे नियोज्यो, विहाय दूरं भयशिष्यलोभम् ॥

‘यदि कोई भी मुनि दोष का सेवन करके भी भूठ बोलता है और दण्ड स्वीकार नहीं करता है तो भय और शिष्य के लोभ को छोड़कर उसे शीघ्र ही गण से पृथक् कर देना चाहिए ।’

५६. बृध्येत नार्थो यदि कोऽपि गूढो, हठात् परैः सर्वविदे स देयः ।

स्थाप्यं स्वतो नैव मतं नवीनं, कार्या न मिथ्या दलबन्धिताऽपि ॥

‘यदि कोई गूढ़ तत्त्व बुद्धिगम्य न हो तो आग्रह से परे होकर उसे केवलीगम्य कर देना चाहिए, अपने आप किसी नवीन मान्यता की स्थापना और मिथ्या गुटबन्दी नहीं करनी चाहिए ।’

५७. अत्रोद्घाते कैश्चिदियं च शिक्षा, स्वार्थकसंसाधकपक्षपूर्णा ।

परप्रकाशप्रतिभाशयानां, निःशूकशक्त्या गलघोटनं च ॥

५८. पाण्डित्यमेतद्धि परोपदेशे, न चात्मसात् तत्करणायमेव ।

अन्यत् कलं जल्पनपुस्तकीयमास्वादनस्याऽपरमेव किञ्चित् ॥

५९. स्वस्य स्वयं तेन गुरोरनुज्ञा, नाऽमानि किं प्रत्ययतोक्तमानैः ।

शङ्का न किं केवलं प्रमुक्ताः, प्रकाशिताः किं स्वतया स्वभावाः ॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

‘यहां पर यदि कोई कहे कि यह भिक्षु स्वामी की शिक्षा एकान्त स्वार्थ-परायण है, दूसरों की दीप्त प्रतिभा एवं विचारों का निर्दयतापूर्वक गला घोटने वाली है ।’

‘यह उनका उपदेश ‘परोपदेशे पाण्डित्यम्’ की उक्ति को ही चरितार्थ करने वाला है, क्योंकि अपने जीवन में उन्होंने इसका प्रयोग नहीं किया । यह तो केवल पुस्तक तथा कथन का ही फल है, पर खाने के फल तो और ही होते हैं ।’

‘उन्होंने क्यों नहीं स्वयं अपने गुरु की आज्ञा मानी ? क्यों नहीं उन पर विश्वास किया ? क्यों नहीं उनका आदेश माना ? क्यों नहीं अपनी शंकाओं को केवलीगम्य किया ? और क्यों स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी मान्यताएं प्रगट कीं ?’

६०. तदुत्तरं जल्पनमीदृशं यत्, फलं तदुत्तेरनभिज्ञतायाः ।

न पक्षपाती स कथञ्चिदेवाऽनाचारशैथिल्यकस्म्युत्थानाम् ॥

पूर्वोक्त आक्षेपों को करने वाले की इन उक्तियों से उसकी अनभिज्ञता का ही परिचय मिलता है, क्योंकि भिक्षु स्वामी अनाचार एवं शैथिल्य की ओर बढ़ने वाले व्यक्तियों के कभी पक्षपाती नहीं थे ।

६१. गणिगुरुर्वा भवतान् मुनिर्वाऽऽचार्यश्चरित्राद् यदि वा प्रभ्रष्टः ।

उत्सूत्रतालापकरः कदाऽपि, सेव्यो न वन्द्यो न च माननीयः ॥

उनकी दृष्टि में चाहे गणी हो, गुरु या मुनि हो और चाहे स्वयं आचार्य भी क्यों न हो, यदि वे आचार-शैथिल्य तथा उत्सूत्र के प्ररूपक हैं तो वे न तो पूजनीय हैं, न वन्दनीय हैं और न माननीय हैं ।

६२. कस्यानुबन्धः सुमुनेर्बन्धु, स्नेहं सुखं त्रोटयति क्षणेन ।

आचारिभिः सम्मिलति प्रतीत्या, द्विभृत्यनाचारवतोऽभिषङ्गम् ॥

बताओ, साधुओं का किसके साथ अनुबन्ध होता है ? वे तो क्षणमात्र में स्नेहबन्धन तोड़ देते हैं । वे आचारवान् के साथ प्रेमपूर्वक मिलते हैं तथा अनाचारी से संबंध तोड़ देते हैं ।

६३. आराधनीयोऽन्तिषदा गुरुः सन्, यथाग्निरग्न्यर्चकवाडवेन ।

गुरुः श्लथः शैलकवत् परन्तु, प्रोज्झ्यः स्वकीयोप्यपमार्गगामी ॥

१. प्रत्ययता च विश्वासता च, उक्तम् कथनं च, मानं प्रमाणं च, तैः सह—
प्रत्ययतोक्तमानैः ।

२. स्वतया — स्वच्छन्दतया ।

जैसे अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्नि की आराधना करता है वैसे ही शिष्य को सद्गुरु की आराधना करनी चाहिए। तथा जैसे राजर्षि शैलक को उनके शिष्यों ने शिथिलाचारी मानकर छोड़ दिया था, वैसे ही शिष्य भी अपमार्ग-मागी अपने गुरु को भी छोड़ दे।

६४. स्वतन्त्रता सर्वकृते यथार्थे, नियन्त्रणं तस्य कदाग्रहस्य ।

न चेभिजाचार्यसमैः कथं स, तथा प्रवर्तते चरित्रनाथः ॥

यथार्थ बात को प्रगट करने का सबको अधिकार था, पर नियन्त्रण था तो कदाग्रह की निवृत्ति के लिए। यदि ऐसा नहीं होता तो वे मुनि भिक्षु स्वयं अपने आचार्य के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करते।

६५. गुरोः प्रशस्यो विनयी विनेयो, गुरुर्गुरुणां गुणभूषितः स्यात् ।

गुणविहीने स्वगुरावपीहान्तेवासिनां स्याद्विनयोऽपि मोहः ॥

जो गुरु गुरु के गुणों से भूषित हैं, उनके प्रति विनयी शिष्य का किया जाने वाला विनय प्रशस्त होता है और जो गुणविहीन गुरु, फिर चाहे वे अपने ही गुरु क्यों न हों, के प्रति शिष्य द्वारा किया जाने वाला विनय केवल मोह है, अप्रशस्त है।

६६. गुरोरनाचीर्णगतस्य कार्याऽकार्यानिभिज्ञस्य मृषावलितेः ।

साक्षाज्जिनाज्ञाविपरीतगस्य, त्यागो विधेयोऽवधिलोपकस्य ॥

अनाचारों के उपासक, कृत्याकृत्य के अनभिज्ञ, मिथ्याभिमानी, प्रत्यक्षतः जिनाज्ञा से विरुद्ध चलने वाले तथा मर्यादा के उत्पापक गुरु का त्याग कर देना चाहिए।

६७. गुरुः स्वयं स्वस्य गुरोरनुज्ञां, समुद्वहेद् यः सनयैः सदैव ।

ज्ञेयः स एवोत्तमसद्गुरुर्वा, तस्यैव शिष्टिः परिपालनीया ॥

जो अपने गुरु की सिद्धान्त-सम्मत आज्ञा पालने वाला होता है वही वास्तव में उत्तम गुरु है और ऐसे सद्गुरु की आज्ञा ही वास्तव में आराधनीय होती है।

६८. यत् केवलिन्योऽर्पणसंकयापि, मिथ्यावितण्डापरिहारहेतोः ।

नियोजिता वा गहनार्थवादेऽगम्ये च कस्मिन्नपि सामयस्य ॥

भिक्षु की विचारधारा में मिथ्या वितण्डावाद का परिहार करने के लिए, किसी सैद्धान्तिक गहन अर्थ के लिए अथवा बुद्धिगम्य न होने वाले विषय के लिए ही 'केवलिगम्यं इदं तत्त्वं' की बात थी।

६९. तादृग्रहस्यानि जिनेन्द्रपादाम्भोजे स्वयं तेन समर्पितानि ।

न तत्र किञ्चित् खलु दोषपोषो, ह्यनन्तपारं जिनसूत्रतत्त्वम् ॥

ऐसे रहस्यपूर्ण विषयों को स्वयं उन्होंने तीर्थंकरों के चरणों में 'केवलिगम्य' किया है। ऐसा करने में किसी भी प्रकार से दोष को प्रोत्साहन नहीं मिलता, क्योंकि जिनागमों के तत्त्व अनन्त और अपार हैं।

७०. अर्थोप्यनर्थोस्य तथाविधः स्यात्, तथार्थकारेण विकारभाजा ।

क्षिप्तालिकायामुपरि स्वबुद्धिस्थेको विवेको निहितो गुहायाम् ॥

परंतु जिन्होंने अपनी बुद्धि को ताक पर रख दिया और शुद्ध विवेक को महान गुफा में डाल दिया, वैसे विकारग्रस्त अर्थकारों द्वारा किये गए अर्थों को मान्य करने पर अर्थ का अनर्थ ही सम्भव है।

७१. न किन्तु तत्स्पष्टमुवेद्यमानाः, दोषाश्च सार्वथ्य समर्पणीयाः ।

वार्याः प्रतीकारसहस्रतोपि, सङ्कोचमुन्मूल्य समूलतोऽपि ॥

उनकी दृष्टि में स्पष्ट और आसानी से समझे जाने वाले तत्त्वों तथा दोषों को सर्वज्ञ को समर्पित कर देना अनुचित था। वे कहते—संकोच को छोड़कर सहस्र प्रतिकारों के द्वारा भी दोषों का मूलतः उन्मूलन करना उचित है।

७२. उपेक्षणीया विदुरेन नेत्रे, निमोल्य नेजे स्फुटभासमानाः ।

दोषे ह्युपेक्षा ननु दोषपोषसंवादिनी सेवनतोऽपि घोरा ॥

वे कहते—स्पष्ट दिखाई देने वाले दोषों के प्रति उपेक्षा कर आंखों को मूंद लेना उपयुक्त नहीं है। दोषों के प्रति उदासीनता (उपेक्षा) रखना उन्हें बढ़ावा देना है और वह दोष-सेवन से भी अधिक भयंकर है।

७३. न्यायापनाशे सुपथस्य नाशे, धर्मस्य नाशे नियमस्य नाशे ।

साक्षात् सदाचारविचारनाशे, मौनं हि मूर्खस्य विभूषणं स्यात् ॥

जहां न्याय का नाश, सन्मार्ग का नाश, धर्म का नाश, नियम का नाश और साक्षात् सद् आचार व सद् विचार का नाश होता हो तो वहां पर मौन रखना, मूर्ख का ही भूषण है।

७४. सिद्धान्तनाशे वरनीतिरीतिनाशे महाविप्लवताविलासे ।

वाच्यं ह्यपृष्टेऽपि विशा विशङ्कं, सत्यप्रकाशप्रतिपालनाय ॥

सिद्धान्त का नाश तथा उत्तम नीति-रीति का नाश होते ही महान् विप्लव का साम्राज्य छाये बिना नहीं रह सकता। अतः सत्य के आलोक की सुरक्षा के लिए बिना पूछे ही निस्संकोच रूप से मनुष्य का बोलना उचित है।

७५. यत् किञ्चिदुक्तस्य न पृष्ठगेन, भाव्यं प्रवाहेन न चोह्यमेव ।

परीक्षणीयं च हिताहितार्थं, नेयं च कार्यं स्वविवेकतामिः ॥

उन्होंने कहा, जो कुछ किसी ने कह दिया उसके पीछे मत चलो, प्रवाह में मत बहो । अपने विवेक को काम में लो और हित-अहित की परीक्षा करो ।

७६. उपेक्षिताः स्युः स्वगुरावभी चेन्, सूर्य्यर्चके स्थानकवासिनश्चेत् ।

सूर्य्यर्चका दुर्य्यतिनां समूहे, न स्यात् ततो जैनमते विभेदः ॥

यदि कोई यह सोचे कि आचार्य भिक्षु अपने गुरु के प्रति, स्थानकवासी संप्रदाय के प्रति, मूर्तिपूजकों के प्रति, मूर्तिपूजक यतियों के प्रति उपेक्षा रख लेते तो जिनशासन में इतने भेद-प्रभेद (टुकड़े) नहीं होते ।

७७. एकैकबोलस्य मिथो विवादाद्, वैभिन्न्यमुग्रं बहु वैमनस्यम् ।

एकैकमोक्षे च मतैकता स्यात्, परन्तु दोषा ह्यनुपेक्षणीयाः ॥

एक-एक बोल (प्रश्न) का ही परस्पर विवाद दृष्टिगोचर होता है । यह विभिन्नता उग्र होकर वैमनस्य को बढ़ाने में सहायक बनी है । यदि एक-एक बोल छोड़ दिया जाए तो मतैक्य हो सकता है । किन्तु नीतिकार कहते हैं—दोषों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।

७८. आचारहीनैकतयाऽपि किं स्यात्, प्राणप्रहाणैश्च किमस्थिवारं ।

समन्वयः कः श्लथतानुगैश्च, कः संस्तवः केवलवेषभागिमः ॥

आचार को छोड़कर की जाने वाली एकता से भी क्या प्रयोजन ? वह तो प्राणशून्य हड्डियों के ढेर के समान है । शिथिलाचारियों के साथ कैसा समन्वय ? केवल वेषधारियों के साथ कैसा परिचय ?

७९. संकीर्णता साधुपथे हितायाऽसङ्कीर्णता साधुपथेऽहिताय ।

मुक्ता न सौख्यं लवलेशमात्रममुक्तितायां परिपूर्णसौख्यम् ॥

साधुपथ में जितना नियन्त्रण (संकोच) हो उतना ही हितकारी है और जितना अनियन्त्रण हो उतना ही अहितकारी है । मुक्ता में सुख का लव-लेश भी नहीं होता जबकि संवरण में परिपूर्ण सुखानुभूति है ।

८०. स्ववद्यथार्थत्वसुरक्षणार्थं, कृता न दुष्टा दलबन्धिताऽपि ।

विना समूहेन निरङ्कुशानां, प्रतिक्रिया स्यात् प्रभृतोऽपि शक्त्या ॥

अपने स्वयं की रक्षा की भांति ही यथार्थ सत्य की सुरक्षा के लिए उन्होंने कभी तुच्छ दलबन्दी नहीं की। यह सच है, निरंकुश व्यक्तियों का दमन प्रचुर शक्ति होने पर भी समूह के बिना नहीं हो सकता।

८१. अल्पीयसां ये प्रभुताप्रमत्ताः, सत्ताधिरूढाश्च यथेच्छमुच्चैः ।

कुचक्रतो निर्दलनं प्रकुर्युस्ततो हि युक्ता दलबन्धिताऽपि ॥

जो अपनी प्रभुता से प्रमत्त हैं, सत्ता पर आरुढ़ हैं और कुछ ऊंचाइयों को प्राप्त हैं, वे व्यक्ति अल्पसंख्यकों को अपने कुचक्र से दबा डालते हैं, उनको ध्वंस कर डालते हैं, उस स्थिति में दलबन्दी भी उचित होती है।

८२. जिनेन्द्रमार्गे परिलोकनीया, गुणानुपूजा प्रकृता कृतान्तैः ।

गुणैर्विहीनान् परिपूजयेयुस्तेऽन्येहि मार्गा भुवनान्तराले ॥

जैन शासन में गुणों की पूजा का ही आगमों में विधान है, गुणशून्य पूजा का नहीं। संसार में जहां गुणशून्यों की पूजा होती है, वे मार्ग दूसरे हैं, जैन शासन के नहीं।

८३. श्रीभारिमालार्थयुक्तसूक्तिपुञ्जोऽपि तद्योग्यगुणानुसारी ।

आचारहीनो यदि कोऽपि कीदृक् त्याज्यो बुधेनात्मवता विवेकैः ॥

भिक्षु स्वामी ने भारीमालजी स्वामी के लिए जिन-जिन सूक्तियों का प्रयोग किया, वे भारीमालजी यथार्थ में वैसे ही थे। यदि कोई आचारहीन हो, तो वह कैसा भी क्यों न हो, ज्ञान एवं विवेक सम्पन्न आत्मारथी के लिए त्याज्य ही था।

८४. न्यायेन युक्तं समताप्रयुक्तमेकाधिपत्यं रमणीयमेव ।

आत्मीयता क्वास्ति तदन्तरेण, स्वत्वं बिना क्व व्ययनं व्यवस्था ॥

उन्होंने न्याय और समता युक्त एकाधिपत्य को ही श्रेयस्कर माना, क्योंकि उसके बिना अपनत्व नहीं होता और अपनत्व के बिना कहां होती है व्यथा और व्यवस्था ?

८५. अन्याययुक्तं विषमं विवृत्तं, प्रभुत्वमप्यत्र भवेच्च कीदृक् ।

समूलतः कष्टकवत् समस्तैः, शैलषिशिष्यैरिव हेयमेव ॥

अन्याययुक्त, विषम तथा चारित्रहीन प्रभुत्व कैसा भी क्यों न हो, आचार्य भिक्षु उसे नहीं चाहते थे। जैसे शैलषि के सभी शिष्यों ने शैलषि का कांटों की भांति समूल उन्मूलन कर दिया था, वैसे ही वैसा प्रभुत्व हेय होता है।

८६. ततोन्तिमा धीमुनिभिक्षुशिक्षा, चैकान्ततो नैव विचारणीया ।
विचारसारा गहनाशया सा, चरित्रहीनस्य न पोषिकास्ति ॥

अतः आचार्य भिक्षु की यह अंतिम शिक्षा सारपूर्ण विचारों से ~~सुख~~ तथा गहन हार्द वाली है । इसे एकान्तदृष्टि से न देखे । यह चरित्रहीन व्यक्ति का पोषण करने वाली नहीं है ।

८७. शङ्कासमाधानमिदं विधानात्, प्रपूर्य तत्प्रस्तुतमातनोमि ।
तां मामिकां सारसुधासगर्भा, निपीय शिक्षां सुजनाः प्रसन्नाः ॥

इन भिक्षु शिक्षाओं पर की कई आपत्तियों का समाधान कर अब मैं पुनः प्रस्तुत प्रकरण को ही प्रारम्भ करता हूँ । उनकी उस अन्तिम अवस्थाकालीन सार सुधासिक्त मामिक शिक्षा का पान कर वहाँ उपस्थित संत लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए ।

८८. कलं जगुर्जैत्रकधन्यवादपुरःसरं साधुजना गुणज्ञाः ।
पप्रच्छुरेते च विनम्रभावा, व्यथास्ति किं नो भवतां शरीरे ॥

गुणज्ञ संतों ने 'आपकी जय-विजय हो', 'आप धन्यवाद के पात्र हैं'—आदि मधुर शब्दों में आपका अभिवादन करते हुए नम्रतापूर्वक आपसे पूछा—'भते ! क्या आपके शरीर में व्यथा है, पीड़ा है ?'

८९. अत्तिनं मे किन्तु तनुश्लथत्वाभासस्ततः स्यान्निकटे ममायुः ।
प्रत्याचक्षे कृतसौकृतस्य, प्राणप्रयाणे प्रमदोऽमदो मे ॥

उन्होंने उत्तर देते हुए कहा—'मुझे किसी भी प्रकार की पीड़ानुभूति नहीं हो रही है, पर शारीरिक शैथिल्य को देखते हुए मुझे मेरा आयुष्य निकट लगता है । किन्तु धर्मारोधना कर आराधक होने के कारण मुझे मेरे प्राणों के जाने पर निर्विकार रूप से प्रसन्नता है ।

९०. प्रकामनिष्कामधिया जिनेन्द्रधर्मकनीत्या विशदावदाता ।
प्रभावना जैनमतस्य सत्या, कृता जगत्यां जनतारणाय ॥

मैंने केवल निष्काम बुद्धि से, जैनधर्म की एकमात्र रीति-नीति से, जैन शासन की यथार्थ, विमल तथा शुभ्र प्रभावना इस भूतल पर जनता का उद्धार करने के लिए की है ।

९१. प्ररूपणा न्यायनिश्चयनद्धा, सन्नद्धसम्बद्धसुसूत्रसाक्षी ।
कदाग्रहीद्विग्रहभारमुक्ता, विनिर्मितात्मापरमोक्षणाय ॥

मैंने जो प्ररूपणा की है, वह न्याय से अलंकृत, तत्सम्बन्धी सूत्र-सूक्तियों से सन्नद्ध-बद्ध तथा कदाग्रह और क्लेश से विप्रमुक्त है। उसका मैंने परहित के लिए ही निर्माण किया है।

९२. सुदीक्षया शाम्भवशिक्षयाभिः, सुदीक्षिता भव्यजना ह्यनेके।
साध्व्योऽपि येऽणुव्रतिनो व्रतौघैः, सम्यक्त्वदानैः प्रतिबोधिताश्च ॥

मैंने भागवती आज्ञाओं से अनेक भव्य नर-नारियों को विधिवत् सुदीक्षा से दीक्षित कर गण में साधु-साध्वी बनाये हैं। अनेक व्यक्तियों को श्रावक व्रत दिलाकर अणुव्रती श्रावक बनाये हैं और अनेक स्त्री-पुरुषों को सम्यक्त्व दिलाकर प्रतिबुद्ध किया है।

९३. मार्गानुसृत्सद्गुणिनो ह्यनेके, जिनेन्द्रमार्गाय हृदानुकूलाः।
केऽप्यास्तिकाः सौलभबोधिनोपि, कृताः सतां सङ्गुणानुरोधाः ॥

मैंने अनेक व्यक्तियों को मार्गानुसारी, सद्गुणी तथा जिनेश्वरदेव के पथानुकूल बनाया है। कुछ व्यक्ति आस्तिक और सुलभबोधि बने हैं तथा कुछेक साधुओं की संगति के अभिलाषी बने हैं।

९४. जनप्रबोधाय जिनागमनां, न्यायप्रमाणप्रतिभासमानाः।
ग्रन्था गुणैर्गुम्फितगौरगात्राः, सन्दर्भिता देशगिरां घनिष्ठाः ॥

मैंने जनता को प्रतिबुद्ध करने के लिए जैनागमों के न्याय व प्रमाणों से प्रदीप्त, गुणों से युक्त, पवित्र भाव वाले अनेक ग्रन्थों का राजस्थानी भाषा में निर्माण किया है।

९५. नैयून्यमस्माकमुदात्तचित्ते, नास्ति ह्यणीयस्तममात्रमद्य।
युष्मत्कृता भक्तिरनन्यभावा, स्मार्था सदा संयमसाधनाहर्हा ॥

अब मेरे उदात्त मन में न तो किसी प्रकार की कमी अखर रही है और वास्तव में न अणुमात्र भी कमी रही है। तुम सभी ने संयम-साधना के योग्य जो मेरी अनन्यभाव से सेवा की है, वह सदा स्मरणीय है।

९६. कृतानुयोगस्य समुत्तरं तद्, दत्त्वा पुनर्यच्छति साधुशिक्षाम्।
भूयो मदीयं कथनं त्विदं वो, ध्यानेन धैर्याच्छृणुताऽप्रमादात् ॥

शिष्यों के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भिक्षु स्वामी ने पुनः शिष्यों को भिक्षा देते हुए कहा—“मेरा यही कथन है कि तुम मेरी इस शिक्षा का ध्यान से, धैर्यपूर्वक और अप्रमत्तता से श्रवण करो।

१७. सदा महावीरवचोनुसारः, सदा सदाचारविधौ प्रवर्त्यम् ।

कदाग्रहं तां कुमतिं च दूरे, प्रोज्झ्यात्मनैर्भल्यमहो विधेयम् ॥

हे शिष्यो ! तुम कदाग्रह और कुमति को छोड़ सदा सर्वदा भगवान् महावीर के वचनों के अनुसार ही उत्तम आचार-विधि में प्रवृत्ति करते रहना और अपनी आत्मा को निर्मल बनाते रहना ।

१८. महाव्रतेऽयुक्समितौ त्रिगुप्तौ, प्रवर्त्तनीयं च महाप्रयत्नैः ।

क्षतिर्न रक्षया कथमेव किञ्चिदाराधनायां सुचरित्रशुद्धेः ॥

अयि शिष्यो ! पांच महाव्रत, पांच समिति एवं तीन गुप्ति—इन तेरह नियमों को महान् प्रयत्न के साथ पालते रहना और किसी भी प्रकार से शुद्ध चारित्र्य की आराधना में क्षति मत होने देना ।

१९. शिष्येषु शिष्यासु च वस्त्रपात्रादिकेषु मूर्च्छां समतापहार्या ।

प्रमादमुद्धूय सुदूरतो हि, रक्ष्यानुरक्तिः शुभसंयमेषु ॥

शिष्यों में, शिष्याओं में और वस्त्र तथा पात्र आदि में मूर्च्छा और समता का परिहार करना और प्रमाद से दूर होकर तुम सदा शुभ संयम में ही अनुरक्त बने रहना ।

१००. ततो बभाषे ऋषिरायचन्द्रं, बालोऽसि मोहो मयि नाद्य कार्यः ।

सोप्याह किं मोहमहं करोमि, स्वजन्मसार्थं रक्षतः प्रभोस्ते ॥

इसके बाद मुनि श्री रायचन्द्रजी की ओर संकेत करते हुए आपने कहा—‘तू बालक है । तू अब मेरे पर मोह मत करना ।’ यह सुनकर बाल-मुनि रायचन्द्र बोले—‘भगवन् ! आप अपने जीवन को सार्थक बना रहे हैं तो फिर मैं आप पर मोह क्यों करूंगा ?’

१०१. भीभारिमालोऽपि तदाह नाथ !, त्वत्सन्निधौ त्वच्छुभदर्शनेऽपि ।

वीर्यावदातो द्विगुणो समान्तर्बभूव जीवोऽपि भूतः कृतार्थः ॥

तब भारीमालजी स्वामी बोले—स्वामिन् ! आपके निकट मैं आते ही तथा आपके शुभ दर्शनमात्र से हमारा उत्साह शक्तिशाली और दुगुना हो जाता और हमारा अन्तःकरण तृप्त-सा होकर कृतार्थ हो जाता ।

१०२. भवद्वियोगस्य दिनान्यहोऽद्य, दुरयन्त एवाऽतिसमीपगति ।

कियानसह्यस्तव विप्रलम्भः, स केवलं केवलिभिर्विवेद्यः ॥

अब तो आपके वियोग के दिन अति निकट ही दिखाई दे रहे हैं । आपका विरह कितना असह्य होगा यह तो केवल केवली ही जान सकते हैं ।

१०३. क्व मे पुनर्भावि सुदर्शनं ते, शिक्षामृतं भोत्रपुटे पुनः क्व ।

पुनः पुनः कोऽत्र पथप्रदर्शी, महान् विमर्शो हृदयाम्बुजेऽस्मिन् ॥

‘भंते ! आपके दर्शन पुनः कहां होंगे ? आपकी अमृतमय शिक्षा कहां सुन पायेंगे ? बार-बार हमारा यहां पथदर्शक कौन होगा ? प्रभो ! हमारे इस हृदय में यह महान् विमर्श हो रहा है ।

१०४. स्वाम्याह यूयं विमलाशयेन, निर्दोषसाधुत्वमुपालनेन ।

कृत्वाऽतिसार्थं नृभवं परत्र, सुधाशनाः सम्भविनोऽनुमानात् ॥

तब स्वामीजी ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—तुम पवित्र मन से निर्दोष संयम का पालन कर, नर जन्म को सफल बनाकर देवलोक में दिव्य देव बनोगे, ऐसा अनुमान से प्रतीत होता है ।

१०५. महाविदेहेषु ततो विलोक्या, मत्तोपि सन्तोऽतिमहानुभावाः ।

साक्षात्तपत्यागविरागभागाः, शान्ता जिताक्षा जितमारमोहाः ॥

पश्चात् तुम महाविदेह क्षेत्र में मेरे से भी महान् प्रतापी, तप, त्याग और वैराग्य की साक्षात् मूर्ति, शान्त, जितेन्द्रिय, काम और मोह पर विजय पाने वाले संतों के दर्शन करोगे ।

१०६. आख्यतदा सत्ययुगीमुमुक्षुस्तं स्वामिनं सत्यनिबद्धचेताः ।

भवान् समारोहगमोति दृश्यः, सन्दिह्यते नैव मनाग् मयाद्य ॥

सत्ययुगी मुनि खेतसीजी ने तब स्वामीजी से निवेदन किया—‘प्रभो ! आप सत्य के अनन्यतम पुजारी हैं । अतः आप बहुत गहरे झुण्ड (समारोह) में जायेंगे ऐसा मुझे प्रतीत होता है, इसमें मुझे किञ्चित् भी सन्देह नहीं है ।’

१०७. स्वाम्याह साधो ! ऽभिलषामि नैवममुं समारोहमनश्वरान्यम् ।

स्वर्गादिकानां सुखसम्पदालिरनात्मिका दुःखविपत्प्रणाली ॥

तब स्वामीजी ने कहा—‘वत्स ! मैं इस नश्वर समारोह का किञ्चित् भी अभिलाषी नहीं हूँ । ये स्वर्ग आदि के भौतिक सुख-सम्पद् तो वास्तव में अनात्मिक हैं । ये दुःख और विपदा के स्रोत हैं ।’

१०८. अनन्तकृत्वो मयका प्रभुक्ता, देवालयानन्दितनन्दिरेषा ।

तथापि तृप्तिर्न हि मे प्रजाता, तृष्णासु तृष्णा द्विगुणा प्रबद्धा ॥

मैंने अनन्त बार देवों के इन दिव्य सुखों का उपभोग किया है; फिर भी मुझे आत्मतोष नहीं हुआ । परन्तु तृष्णा दुगुनी बढ़ गई ।

१०९. अतो हि किम्पाकफलोपमां तां, ध्यायामि विज्ञाय न चेतसाऽपि ।

तावक् समारोहनिरीहवृत्तिः, सदाऽविनाश्यात्मसुखाभिकामी ॥

‘अतः दिव्य संपदा को किम्पाक फल की तरह समझ कर मैं इनकी मन से भी कल्पना नहीं करता और न मैं ऐसे सुखों का इच्छुक भी हूँ । मैं तो सदा आत्मा के अविनाशी सुखों का ही इच्छुक हूँ ।’

११०. साधीयसो तस्य सुनिःस्पृहस्य, वैराग्यसारां सुविचारधाराम् ।

निशम्य सर्वेऽपि शमामृताब्धेस्तरत्तरङ्गाश्रितमानसास्ते ॥

उन निस्पृह भिक्षु स्वामी की वैराग्य रस से ओतप्रोत सार्थक विचार-धारा को सुनकर वे सारे के सारे श्रोतागण उपशम रस के सुधा सिन्धु की उछलती हुई तरङ्गों के समान तरङ्गित मानस वाले हो गये ।

१११. क्रियामसह्यां विविधां विधातुर्विवदन्ते तत्तपसोऽतितेजः ।

दोषालिहन्तुर्व्रतिनः समूला, बिबोत्तराशां वसतो गभस्ते ॥

नाना प्रकार की उग्र क्रिया करते हुए भिक्षु के उस तप से उनकी तेजस्विता निखरने लगी और दोष समूह का समूल नाश करने से उनका तेज वैसे ही बढ़ने लगा जैसे उत्तरायण में गए हुए सूर्य का तेज बढ़ता है ।

११२. अभिग्रहान् साग्रहतो विशेषान्, गृह्णन् गरिष्ठान् गुणगौरवार्हान् ।

देदीप्यते गोतमवद् गणेन्द्रो, दीपाङ्गजोऽङ्गिप्रतिबोधदाता ॥

भव्य प्राणियों को प्रतिबोध देने वाले आचार्य भिक्षु उस समय शिष्यों का आग्रह होते हुए भी, गौरव बढ़ाने वाले बड़े-बड़े विशेष अभिग्रहों को धारण करते हुए गोतम स्वामी की तरह देदीप्यमान होने लगे ।

११३. जिनाभिधानं स्वमनोरविन्दे, मरालवत् संरमयन् रमाभिः ।

समाधिमाधाय जितेन्द्रियः सद्योगीन्द्रवद् ध्यानमशिश्रयत् सः ॥

उन्होंने जिनेश्वरदेव के नाम को अपने मन कमल पर राजहंस की भांति रमा लिया । जितेन्द्रिय आचार्य भिक्षु ने अपने आध्यात्मिक व्यवभव के साथ समाधि स्वीकार कर सद्योगी की भांति ध्यानलीन हो गए ।

११४. नियोज्य योगान् विमलान् विरक्तः, स्वाध्यायपाठं स वितन्तनीति ।

मन्ये भूताम्भोधरगर्जनं किं, विनोदयन् भव्यशिखण्डिवृन्दम् ॥

वे विरक्त महामुनि अपने विमल योगों को नियोजित कर स्वाध्याय करने लगे । उनके स्वाध्याय घोष की ध्वनि पानी से भरे बादलों के गर्जारेव जैसी गंभीर थी । उस ध्वनि से वे भव्य मनुष्यरूपी मयूरों को आनन्दित करने लगे ।

११५. रत्नत्रितय्याः परमप्रतिष्ठामतुच्छगुच्छां विवधे समोदाम् ।

विरवत्रयस्याधिपतिवल्क्ष्मीं, वाञ्छन्निवान्तःकरणेन सोऽत्र ॥

मानो लोकत्रय के आधिपत्य की लक्ष्मी को अन्तःकरण से चाहते हुए आचार्य भिक्षु ने अत्यधिक प्रसन्नता से इस रत्नत्रयी की परम प्रतिष्ठा की ।

११६. अथ व्रतीन्दोर्नवदीक्षिताहस्तपोमुखं तीव्रतरं वितेने ।

परिच्छदादींश्च विकाशयामि, किञ्चिन्महावीरवदत्र चारु ॥

अब भगवान् महावीर की भांति महामुनि भिक्षु के नवदीक्षित काल से जीवन पर्यन्त होने वाली तीव्रतर तपस्याओं तथा साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ-परिवार का संक्षिप्त वर्णन कर रहा हूँ ।

११७. प्रबोधदानं मुनिपो न यावज्जीवं जहौ छोट'मिवांशुमाली ।

विहारचर्यामपि नो तथोभ्यां, कदाप्यटाटद्यां भुवने मरुद्वत् ॥

आपने जनता को प्रतिबोध देना तो जीवन भर वैसे ही नहीं छोड़ा जैसे सूर्य अपने प्रकाश को नहीं छोड़ता । आपकी अप्रतिबद्ध विहार-चर्या अनवरत पृथ्वी पर वैसे ही चलती रही जैसे इस भूतल पर वायु का संचरण होता है ।

११८. स्वसाधनं नो व्यमुचन् मुनीन्द्रो, न्यायं यथा न्यायरतो नरेन्द्रः ।

पञ्चातिचारान् स जहार जैत्रः, किं शक्तितः कामगुणान् जिघांसुः ॥

उन्होंने किसी भी परिस्थिति में अपनी आत्म-साधना को नहीं छोड़ा जैसे एक न्यायप्रिय नरेन्द्र अपने न्याय को नहीं छोड़ता । यह प्रश्न होता था कि क्या शक्ति के द्वारा कामगुणों की समाप्ति करने की इच्छा से ही विजयी भिक्षु ने इन पांच अतिचारों को छोड़ा था ?

११९. व्रतानि तद् द्वादशगेहितां संविस्तारयामास जिनोदितानि ।

स भावनाः पोषयितुं प्रवृत्तो, याः प्रापयित्री भवसिन्धुपारम् ॥

श्रावकों के भगवद् भाषित बारह व्रतों का भी उन्होंने विस्तार किया तथा भवसिन्धु का पार प्राप्त कराने वाली पवित्र भावनाओं को पुष्ट करने में भी वे सदा प्रयत्नशील रहे ।

१२०. आहारदोषा ननु सप्तचत्वारिंशन् मिताः कातरितान्यसत्त्वाः ।

पापोपबृंह्या वशिनामधोशैनिवारिता द्वेषगणा इवैतैः ॥

जैन मुनि के आहार संबंधी सेंतालीस दोष माने गए हैं। वे पाप-वर्द्धक तथा अन्य प्राणियों को भयभीत करने वाले हैं। मुनिपति भिक्षु ने इन सबका शत्रुसमूह की भांति निवारण कर डाला।

१२१. विभूषणानीव तमोद्विषां यः, सद्द्वादशानां प्रतिमेन्दिराणाम्।

पुपोष सद्द्वादशभेदभाज्जि, तपांसि कायं सुधिया शुशोष ॥

रापनाशिनी द्वादश भिक्षु प्रतिमा रूप महालक्ष्मियों के आभूषणों के समान इन बारह भेदों वाले तप का इन्होंने पोषण किया और निर्मल भावों से अपनी काया का शोषण भी किया।

१२२. ईर्याद्युक्तसत्समितिप्रयोगा, यस्योत्तमाः शास्त्रविधानविद्धाः।

महाव्रतालम्बनयष्टिकल्पा, यद्वा प्रचण्डस्मरवज्रबाणाः ॥

शास्त्रोक्त विधि-विधान सम्मत इनके ईर्या आदि पांच समितियों के प्रयोग अति उत्तम थे। ये महाव्रतों के लिए आधारभूत यष्टी के समान थे। अथवा ये पांच महाव्रत प्रचंड कामदेव को नष्ट करने के लिए पांच वज्रबाण थे।

१२३. त्रिगुप्तयो गुप्तिवतां गुरुणामारक्षिकाश्चारुचरित्रलक्ष्म्याः।

त्रिशक्तयः क्षोणिभूतां प्रभूणां, यथा स्खलद्राज्यरमारमण्याः ॥

जैसे भ्रष्ट होती हुई राज्य की लक्ष्मी रूप रमणी की रक्षा के लिए राजा की तीन शक्तियां होती हैं वैसे ही गुप्तियुक्त आचार्य भिक्षु की तीन गुप्तियों की साधना सच्चारित्र रूप लक्ष्मी की रक्षा की आरक्षिका के समान थीं।

१२४. ग्रन्थावलीं गुम्फितवान् गरिष्ठाभिवात्मवृत्तिं विमलां विलोक्याम्।

अदीक्षयद् भूरितरांश्च शिष्यान्, शिष्यीकृताखण्डलमण्डलाचर्यः ॥

अपनी प्रदीप्त और पवित्र आत्मवृत्ति के अनुरूप ही आपने गहन और तात्त्विक ग्रन्थावली का निर्माण किया। इन्द्र-मंडल पर शासन करने वाले तथा उनके द्वारा पूजित आचार्य भिक्षु ने अनेक शिष्यों को दीक्षित किया।

१२५. रत्नत्रयीमण्डितपण्डिता यच्छिष्या बभूवुजितवादिबुद्ध्याः।

किमेकजीवेन गवेर्ष्यात्र, धृता धरित्र्या बहवो गिरीशाः ॥

इनके शिष्य भी वादी-बुद्ध पर विजय पाने वाले, रत्नत्रयी से मण्डित और विद्वान् थे। उनको देखकर यह वितर्कणा होती थी कि क्या देवलोक में एक बृहस्पति को देखकर ईर्ष्या करती हुई इस धरा ने इन अनेक मुनिरूप बृहस्पतियों को धारण कर लिया है?

१. देवलोकान् स्पर्द्धयन् ।

१२६. श्रीबेणिरामोत्तमहेमराजादयो विनेया वरवाक्तरङ्गाः ।
जाता गभीरा गुणरत्नपूर्णास्तरङ्गिणीनामिव जीवनेशाः ॥

उनके मुनि श्री वेणीरामजी और हेमराजजी जैसे सरस्वती के उपासक अनेक शिष्य हुए जो सागरसम गम्भीर और गुणरत्नों से परिपूर्ण थे । वे संघ के आधारभूत थे जैसे नदियों के आधारभूत हैं समुद्र ।

१२७. शीलं विभूषामिव संवधानाः, श्रीचन्दनावद्धृतसाधुवादाः ।
जिनेन्द्रवाङ्मानसराजहंस्यः, साध्व्यो वरजुजीप्रमुखा बभूवुः ॥

शीलरूपी आभूषणों को धारण करने वाली चन्दनबाला की तरह साधुवाद पाने वाली और जैन वाङ्मय रूपी मानसरोवर की राजहसनियों के समान वरजुजी आदि अनेक साधवियां हुईं ।

१२८. शोभादिकश्रीविजयादिचन्द्रादयो बभूवुः श्राद्धगणाः सहस्राः ।
सतां चरित्रोज्ज्वलताभिरक्षाः, सन्मातृपित्राद्युपमानभूताः ॥

शोभाचन्द्रजी (केलवा वाले) और विजयचन्द्रजी पटुवा (पालि वाले) आदि सहस्रों श्रावक हुए जो साधुओं की चारित्रिक उज्ज्वलता के रक्षक तथा साधु-साधवियों के लिए माता-पिता की उत्तम उपमा को धारण करने वाले थे ।

१२९. श्रीचित्तलणासत्सुलसाजयन्तीसमा बभूवुः सदुपासिकाश्च ।
यासां पुरः शारदचन्द्रिकाः काः, का वा रमाः पुण्यपरागपूताः ॥

सती चेलना, सुलसा और जयन्ती के समान अनेक श्राविकाएं हुईं जिनकी चारित्रिक उज्ज्वलता के समक्ष कौनसी शरद् चन्द्रिका और कौनसी पुण्य पराग से पवित्र लक्ष्मी !

१३०. न बुध्यते सौलभबोधिसङ्ख्याः, सङ्ख्यातिगाः संस्कृतिसन्मुखीनाः ।
येषां पुरो डम्बरदम्भचर्या, दुर्नीतयः खड्गपदाः प्रणष्टाः ॥

आचार्य भिक्षु के प्रयत्नों से जो व्यक्ति सुलभबोधि बने उनकी संख्या ज्ञात नहीं है । तथा संख्यातीत व्यक्ति जैन संस्कृति के अभिमुख हुए । फलस्वरूप उनके सामने से आडंबर, दम्भचर्या तथा दुर्नीतियां मानो लंगड़ी होकर पलायन कर गईं ।

१३१. शिष्यावतंसो मुनिभारिमालो, दध्रे श्रियाचार्यपदं प्रधानम् ।
ताराग्रहाद्येषु लसत्सु सोमः, समाभयद् राजपदं यथैव ॥

आचार्य भिक्षु के शिष्यों में मुकुटोपम श्रीसंपन्न मुनि श्री भारिमालजी मुख्यरूप से आचार्य पद को प्राप्त हुए, जैसे ग्रहों, नक्षत्रों के होते हुए भी चन्द्रमा ही राजा के पद को प्राप्त होता है ।

१३२. मुमुक्षुमुख्यो निजमायुरल्पं, विवेद सोन्तःकरणात् तदानीम् ।

आत्मात्मना पुण्यचयं प्रभूतं, प्रचेतुकामो विभवीव रायम् ॥

आचार्य भिक्षु अपने आयुष्य को अल्प समझकर अन्तःकरण से अपनी आत्मा के द्वारा पुनीत पुण्य (धर्म) का संग्रह करने में वैसे ही संलग्न हो गये जैसे एक धनी व्यक्ति धन का संग्रह करने में संलग्न हो जाता है ।

१३३. संलेखनां शुद्धतपोविचित्रां, स स्वामिनाथः प्रथयाञ्चकार ।

चिकीर्षया वोक्त इवान्तरात्मशुद्धेर्बहिःस्नानमिवाङ्गशुद्धेः ॥

उन्होंने उस समय अपनी अन्तरात्मा की शुद्धि के लिए विचित्र प्रकार की शुद्ध तपस्या से समन्वित संलेखना रूप अन्तरङ्ग स्नान वैसे ही प्रारम्भ कर दिया जैसे एक व्यक्ति अपनी शारीरिक शुद्धि के लिए बाह्य स्नान करता है ।

१३४. प्रणीयभिक्षुर्भवभीरुरेष, संलेखनां पूर्वगणीव गुण्याम् ।

आराधनां तामुपचक्रमेऽद्य, प्रशान्तसन्मानसराजहंसः ॥

उपशान्त मानसरोवर के राजहंस भवभीरू भिक्षु ने पूर्वाचार्यों की तरह ही शुद्ध संलेखना कर उसकी आराधना प्रारम्भ कर दी । वे कहने लगे—

१३५. भूता भविष्यन्ति च वर्त्तमानाः, समग्रसौषम्यविलासवासाः ।

ते वीतरागाः परभागयागाः, सदा शरण्याः शरणीभवन्तु ॥

सभी महान् अतिशयों से अन्वित, गुणोत्कर्ष से पूजनीय, सदा शरण-भूत ऐसे त्रिकालवर्ती वीतराग देव की मुझे शरण हो ।

१३६. अनादिकर्मन्धनमात्मशक्त्या, प्रज्वाल्य सदध्यानहुताशने ये ।

संशुद्धजाम्बूनदवत् प्रजातास्ते सन्तु सिद्धाः शरणं शरण्याः ॥

अनादि काल से आत्म-संश्लिष्ट कर्म रूप ईन्धन को आत्मशक्ति के द्वारा सदध्यान रूपी अग्नि में जलाकर जो शुद्ध स्वर्ण के समान पवित्र हो गये हैं, उन सिद्धों की मुझे शरण हो ।

१३७. निर्मान्ति ये भृङ्गवदात्मवृत्तिं, जितेन्द्रियाः कञ्छपवत् सुवृत्ताः ।

कल्याणमग्ना इव शुभ्रलग्नास्ते सन्तु सन्तः शरणं शरण्याः ॥

ध्रुमर वृत्ति से जीवन यापन करने वाले, कच्छप की तरह इन्द्रियों का गोपन करने वाले, सच्चरित्र की आराधना करने वाले तथा ज्योतिष के शुभ लगनों की तरह ही कल्याण में मग्न रहने वाले शरणभूत साधुओं की मुझे शरण हो ।

१३८. ब्रुडज्जनानां भवभीमसिन्धौ, साक्षात्करालम्ब इवातिसज्जः ।
दधत्सुधांशुः सुसुधामिवान्तर्दयां स धर्मः शरणं ममास्तु ॥

जन्ममरण रूप भयंकर संसार समुद्र में डूबते हुए प्राणियों को साक्षात् हस्तावलम्बन देने के लिए सदा सज्जीभूत तथा अमृत को धारण करने वाले चन्द्रमा की तरह अपने भीतर दया को धारण करने वाले धर्म की मुझे शरण हो ।

१३९. बोधेष्टकालप्रमुखातिचारा, धर्मे विशुद्धे मम वा प्रमादाः ।
शङ्कामुखाश्चाष्ट सुदर्शनेऽतिचाराः प्रजाता मदवत् सदेहे ॥

१४०. ममातिचाराश्चरणे च मानुगताः शरीरिधिव कर्मकाण्डाः ।
ते सन्तु मिथ्याऽथ निरङ्कुशानां, व्यवहारवन् मे जिनराजसाक्ष्या ॥
(धुग्मम्)

विशुद्ध धर्म में लगने वाले प्रमाद आदि आठ अतिचारों की तरह ही यदि मेरे ज्ञान के 'काल' आदि आठ अतिचार लगे हों, देह में मद की तरह ही यदि मेरे सम्यग् दर्शन में शंका-कांक्षा आदि आठ अतिचार लगे हों तथा शरीरधारी प्राणियों के कर्म लगने की तरह ही यदि अष्ट प्रवचन माता तथा चारित्र में अतिचार लगा हो तो अनर्गल व्यक्ति के मिथ्या प्रलाप की तरह भगवद् साक्षी से वे सब मेरे मिथ्या हों ।

१४१. नभोमणीनामिव मण्डलेषु, तपःसु ये द्वादशभेदवत्सु ।
वीर्ये विलग्ना मम येऽतिचारा, मृषाऽसतां ते निखिला इदानीम् ॥

सूर्य के बारह मंडलों की भांति तप के द्वादश भेदों में और वीर्य-आचार में यदि अतिचार—दोष लगे हों तो वे सभी अब मेरे लिए मिथ्या हों ।

१४२. षट्कायिका प्राणिगणाः कदाचिद्, बोधापबोधाऽविधिवत् प्रमादः ।
यथा तथा बम्भ्रमता हता ये, मया प्रदेशेष्विव देशिकेन ॥

अन्यान्य स्थानों में घूमने वाले पथिक से होने वाली हिंसा की तरह ही यदि जाने, अनजाने तथा अविधि और प्रमाद आदि कारणों से छह काय के जीवों की विराधना हुई हो तो वह सब मिथ्या हो ।

१४३. यथा रवीणामयने तथा द्वे, येषां हृषीके भवती मया ते ।

घुणो दकोकः कृमिशङ्खकाद्याः, कथावशेषाः प्रकृताः प्रमादात् ॥

सूर्य के उत्तर और दक्षिण—इन दो अयनों की तरह जिनके दो इन्द्रियां हैं, ऐसे घुण, जलोक, कृमि, शङ्ख आदि द्वीन्द्रिय प्राणियों की प्रमाद-वश हिंसा हुई हो तो वह मेरा पाप निष्फल हो ।

१४४. त्रिनेत्रनेत्राणि यथाङ्गभाजां, त्रिणीन्द्रियाणीह भवन्ति येषाम् ।

पिपोलिका मन्कुणकीटयूकामुखान्यहन्यन्त मयाऽपयोगात् ॥

महादेव के तीन नेत्रों के समान तीन इन्द्रियों को धारण करने वाले कीड़ी, खटमल, कीड़े, जू आदि त्रीन्द्रिय प्राणियों की अनुपयुक्तता से यदि विराधना हुई हो तो मेरा वह पाप मिथ्या हो ।

१४५. बिड्मण्डलानीव भवन्ति येषां, त्र्योतांसि चत्वारि शरीरिणां ते ।

पतङ्गमृङ्गद्रुणमक्षिकाद्याः, प्रमापिता वा परितापिता वा ॥

दिग् मण्डल की तरह चार इन्द्रियों को धारण करने वाले पतंग, भ्रमर, वृश्चिक, मक्षिका आदि चतुरिन्द्रिय प्राणियों को यदि परितापना दी हो या हिंसा की हो तो मेरा वह पाप मिथ्या हो ।

१४६. शयस्य शाखा इव जन्मभाजां, येषां हृषीकाणि च सन्ति पञ्च ।

जलस्थलस्थोमचराः कथंचिदालेख्यशेषत्वमवापितास्ते ॥

हाथ की अंगुलियों की भांति जिनके पांच इन्द्रियां हैं, ऐसे जलचर, स्थलचर, उरपुर, भुजपुर और खेचर आदि पञ्चेन्द्रिय जीवों की यदि हिंसा की हो तो मेरा पाप मिथ्या हो ।

१४७. जिनेश्वराज्ञोदितशारदेन्दुज्योत्स्नासमुल्लासितसूरताब्धौ ।

मत्स्यायमानेन मुनीन्दुनेवासुमद्गणोऽस्मानि निजात्मवन्नो ॥

जिनेन्द्र की आज्ञारूप शरद् चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से बड़ी हुई वेला वाले दयासागर में मत्स्य की तरह रहने वाले आचार्यों के समान ही यदि मैंने 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की उक्ति को सार्थक न बनाया हो तो मेरा यह दुष्कृत मिथ्या हो ।

१४८. रुष्टेन रोषादिव लोलुप्तेन, लोभादिवातङ्कवतेव भीतेः ।

विदूषकेनेव हसान् मया यत्, किञ्चिद् व्यलीकं सहसाप्यभाषि ॥

रोष से रुष्ट होकर, लोभ से लोभी बनकर, भय से भयभीत होकर तथा एक विदूषक की भांति हास्य से अथवा सहसा भी कभी मैंने असत्य का आचरण किया हो तो मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।

१४९. प्रयोजने सत्यऽपि यत् तृणाद्यमात्तं प्रशुक्तं समयातिरिक्तम् ।

स्वमानपूजार्थविगृह्णुनेव, देवाद्यदत्तं समुपाददे च ॥

प्रयोजन होने पर भी सिद्धान्त का अतिक्रमण कर यदि मैंने तृण भी उठाया हो या उसका प्रयोग किया हो तथा अपनी मान, पूजा-प्रतिष्ठा और अर्थ में गृह्य होकर यदि देव आदि की चोरी की हो तो मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।

१५०. दिव्यं च तैरिश्च्यमथश्च मार्त्यं, यन् मैथुनं घोरघनिष्ठपापि ।

स्वप्नेऽपि साङ्कल्पिकदृक्पदव्या न्यषेवि मोहान्धिलवत् कदाचित् ॥

देव, मनुष्य तथा तिर्यञ्च सम्बन्धी घोर घनिष्ठ पाप से संश्लिष्ट करने वाले मैथुन का मोहान्ध की तरह यदि कदाचित् स्वप्न में भी मैंने संकल्प-पथ तथा दृष्टि-पथ के द्वारा सेवन किया हो तो मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।

१५१. शिवेन्द्रियाया वयसीमिवेहाऽमूर्च्छां विमुच्याज्ञतया प्रवृत्त्या ।

दूतोमिवाभित्य च दुर्गतीनां, मूर्च्छां मयाऽधारि परिग्रहे यत् ॥

मोक्षरूपी रमणी की सहेली है—अमूर्च्छा और दुर्गति की दूतिका है—मूर्च्छा । मैंने अज्ञानवश अमूर्च्छा को छोड़कर मूर्च्छा को अर्थात् ममत्व को परिग्रह से संयुक्त किया हो तो मेरा यह दुष्कृत मिथ्या हो ।

१५२. देवद्रुमान् देवगिरिर्यथाङ्गी, संज्ञो यथा पञ्चविधेन्द्रियाणि ।

महाव्रतान् पञ्च तथाष्टमात्रा, दध्ने न सम्यङ् निरतिक्रमत्वात् ॥

जैसे सुरगिरि पांच प्रकार के कल्पतरुओं को तथा संज्ञी प्राणी पांच इन्द्रियों को धारण करता है ठीक वैसे ही यदि मैंने आठ प्रवचन माताओं और पांच महाव्रतों का निरतिचार पालन न किया हो तो मेरा यह दुष्कृत मिथ्या हो ।

१५३. अन्तर्गतत्वाद्यपि सिक्थमात्रं, निशाशनं शीलितवान् कथञ्चित् ।

प्रमादतां मन्त्र इवात्र किञ्चिन्, मात्रं क्रियासु श्लथतां बभार ॥

मुंह में रहे हुए सिक्थ मात्र भी आहार के अंश को यदि रात्रि में गले उतारकर रात्रि भोजन का आचरण किया हो तथा आलसी व्यक्ति के प्रमाद की भांति यदि मैंने अपनी संयमी क्रियाओं में किञ्चित् मात्र भी श्लथता लाई हो तो मेरा यह दुष्कृत मिथ्या हो ।

१५४. सिद्धान्तसिद्धानियमा मया ये, बभञ्जिरे प्राभवदुर्मदेन ।

स्वर्गापवर्गात्ममुखाः पदार्थाः, प्रमाणसिद्धा इव नास्तिकेन ॥

स्वर्ग, अपवर्ग, आत्मा आदि तत्त्व प्रमाणसिद्ध हैं। परन्तु एक नास्तिक इन्हें स्वीकार नहीं करता। वैसे ही यदि मैंने सिद्धान्त में प्रतिपादित नियमों का प्रभुता के अहंकार से अस्त होकर उल्लंघन किया हो, उन्हें स्वीकार न किया हो तो मेरा यह दुष्कृत मिथ्या हो।

१५५. अणुव्रताः सूर्यमिताश्चिरत्ना^१, व्यपेक्षया पञ्चमहाव्रतानाम् ।

तदप्रचारापपयप्रलापान्, मयापराद्धं तदरातिनेव ॥

पांच महाव्रतों की अपेक्षा छोटे होने के कारण श्रावकों के व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। ये प्राचीन हैं। सूर्य के बारह मंडलों की भांति ये भी बारह हैं। एक शत्रु की तरह अपराध कर यदि मैंने इनका प्रचार न किया हो अथवा अप-प्रचार किया हो तो मेरा यह दुष्कृत मिथ्या हो।

१५६. कल्याणकोट्टस्य निदानकेषु, योगेषु योगीन्द्र इवोत्तमेषु ।

वीर्यं प्रयोक्ता न बभूव लोकानन्दी मुद्याहं सुविधाभिलाषी ॥

यदि व्यर्थ में ही मैंने लोकरञ्जन और सुविधावाद के दृष्टिकोण से कल्याणरूपी दुर्ग के कारणभूत पवित्र योगों में योगीन्द्र की तरह शक्ति का प्रयोग न किया हो तो मेरा यह दुष्कृत मिथ्या हो।

१५७. पूर्वोक्तमन्यच्च यथा तथात्राऽमुत्र व्यधायीदमघं कदाचित् ।

जिनेन्द्रसाक्ष्या विमलाशयेन, निन्दाम्यहं तत् त्रिविधेन सर्वम् ॥

पूर्वोक्त प्रकारों से तथा उनसे भिन्न अन्य किसी भी प्रकार से अथवा इहलोक या परलोक संबंधी मैंने कोई भी पाप किया हो तो आज मैं निर्मल-चित्त होकर भगवत् साक्षी से उस पाप की तीन करण और तीन योग से निन्दा करता हूँ।

१५८. अर्हस्त्रिषिद्धे भुवनाद्भुतार्थे, स्वापेक्षया बालकवद् विलासात् ।

ब्रष्टाऽभवं दर्शनलम्पटीव, जुगुप्सयामि त्रिविधेन बुद्ध्वा ॥

मुनि को नाटक आदि देखना अरिहंत देव द्वारा निषिद्ध है। इस जगत् में होने वाले अद्भुत नाटक, कौतुक आदि को अपनी अपेक्षा जोड़कर, बालक की तरह लालायित होकर तथा दर्शनलंपटी बनकर मैंने देखा हो तो मैं ज्ञानपूर्वक तीन करण तीन योग से उसकी गद्दी करता हूँ।

१५९. अष्टादशाऽबहवदेनसां तु, स्थानान्यशीलि श्लथताप्रपञ्चः ।

मिथ्या सतां तान्यखिलानि सद्यो, दुरोदराणामिव जल्पितानि ॥

मैथुन के अठारह प्रकारों की भांति ही पाप के अठारह भेद हैं। उनका यदि मैंने कभी भी शिथिलता आदि कारणों से सेवन किया हो तो वे द्यूतकार के सारहीन वचन की तरह मिथ्या हों।

१६०. आलोचनानिन्दनगर्हणैः स्वमनोवचःकायकषायक्लृप्तम् ।

भवप्रवृद्धिं प्रणिहन्मि पापं, वैद्यो विषं मन्त्रवरैरिवाऽहम् ॥

मैं अपने मानसिक, वाचिक, कायिक और कषाय संश्लिष्ट भावों से संसार बढ़ाने वाले पाप को आलोचना, निन्दा और गर्हा के द्वारा वैसे ही नष्ट करता हूँ, जैसे एक वैद्य अपने औषध प्रयोग के द्वारा तथा एक मन्त्रवादी मंत्रों के द्वारा विष को नष्ट कर देता है।

१६१. अतिक्रमाद्यं विमतेः कदाचिल्लग्नान्तिचारं शुभसंयमे च ।

व्यधामनाचारमपि प्रमादात्, प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्ध्यै ॥

अशुभ भावों से यदि मेरे इस शुभ संयम में कभी अतिक्रम आदि दोष लगे हों और प्रमाद से कभी अनाचार भी लगा हो तो मैं इन सबकी शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करता हूँ।

१६२. प्रोज्झ्य क्रुधं शल्यमिवान्तरङ्गान्निःशेषसत्त्वान् क्षमयामि सम्यक् ।

क्षाम्यन्तु ते वै मयि मुक्तवैराः, प्रबुद्धकोपानलदुःप्रभावाः ॥

मैं शल्य की तरह ही क्रोध को अन्तःकरण से मिटाकर सम्यक् प्रकार से समस्त प्राणियों को क्षमा प्रदान करता हूँ और क्रोधानल के दुष्प्रभाव से परिचित वे भी मेरे प्रति वैर-विरोधों को भूलकर मुझे क्षमा करें।

१६३. श्रद्धानसिद्धान्तनितान्तभेदात्, प्राग्द्रव्यदीक्षाप्रबन्धगुरोश्च ।

त्यागे सचर्चे कटुता गता स्यान्निन्दामि गह्वरे क्षमयामि भूयः ॥

श्रद्धा और सिद्धान्त का नितान्त भेद होने के कारण मैंने अपने द्रव्य-दीक्षा प्रदाता गुरु को छोड़ा। उनके साथ चर्चाएँ कीं। यदि इन प्रसंगों में कोई कटुतापूर्ण व्यवहार हुआ हो तो मैं उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और उनसे बार-बार क्षमायाचना करता हूँ।

१६४. स्थल्यां वसन्तं ननु चन्द्रभाणं, तिलोकचन्द्रं प्रति निर्मलत्वात् ।

क्षमापनं मे क्षमणं च वाच्यं, पपात कार्यं बहुलं च ताभ्याम् ॥

१. दुरोदरम्—जुआ (दुरोदरं कंतवञ्च—अभि० ३।१५०) ।

स्थली प्रदेश में विचरण करने वाले मुनि चन्द्रभान और तिलोकचन्द्र को भी मेरी ओर से विशुद्ध भावना पूर्वक 'खमत-खामना' कह देना, क्योंकि उनके साथ भी अनेक बार बातलाप आदि का काम पड़ा है ।

१६५. यद्दीक्षया ज्येष्ठमुनिश्वरानामाशातना मे कथमेव जाता ।

क्षान्त्या ततोऽहं क्षमयामि नम्रो, रत्नाधिकास्ते बहुमाननीयाः ॥

मेरे से जो दीक्षा पर्याय में बड़े संत हैं, उनकी यदि किसी प्रकार से मेरे द्वारा आशातना हुई हो तो मैं उनसे अत्यंत विनम्रतापूर्वक क्षमायाचना करता हूं । रत्नाधिक मुनि बहु सम्माननीय होते हैं ।

१६६. काञ्चित् प्रकृत्यातिकठोरसाधुसतीजनान् वीक्ष्य कठोरशिक्षाम् ।

सूद्धारणार्थं विततार तत्र, क्षमापनां चाश्रयिणी करोमि ॥

किन्हीं कठोर प्रकृति वाले साधु-साध्वियों को सुधारने के लिए यदि कटु शिक्षा देने का काम पड़ा हो तो मैं उनसे विशुद्ध भावों से क्षमा मांगता हूं ।

१६७. जनैरनेकैर्विहिता सुचर्चा, तत्र प्रयुक्तं कठिनं च किञ्चित् ।

त्रिधैव तस्याऽपि सदाशयेन, तितिक्षयामि श्रमणत्ववृत्त्या ॥

अनेक व्यक्तियों के साथ चर्चा-वार्ता करने का काम पड़ा । यदि वहां कटु-कठोर शब्द प्रयुक्त किए हों तो मैं साधुवृत्ति से निर्मलतापूर्वक तीन करण और तीन योग से उनसे क्षमा मांगता हूं ।

१६८. छिद्रावलोकप्रतिपक्षिधर्मद्वेषां समागाद् यदि वरभावः ।

तैः सार्द्धमन्तःकरणेन कुर्वे, क्षमापनं क्षान्तिमया नितान्तम् ॥

छिद्रान्वेषी, प्रतिपक्षी और धर्म के द्वेषी व्यक्तियों पर भी यदि द्वेष-भावना आई हो तो मैं उनको भी अन्तर्दिल से क्षमा प्रदान करता हूं और उनसे क्षमा मांगता हूं ।

१६९. स्वमानपूजापरिरक्षणार्थं, स्वेषां परेषां कथमेव किञ्चित् ।

मृषासमारोपमुखं न्यधायि, मृष्यन्तु ते तान् मृषयामि सम्यक् ॥

अपनी मान-प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए निजी या पराये किसी भी व्यक्ति पर यदि मिथ्या आरोप लगाया हो तो वे मुझे क्षमा करें और मैं भी उनको सम्यक् प्रकार से क्षमा करता हूं ।

१७०. उपस्थितान् सवविनयावतारान्निवाखिलान्छुष्यविनेयवारान् ।

जातापराधे क्षमयामि साक्षात्, क्षमन्तु सर्वे क्षमया क्षमादयाः ॥

विनय के साक्षात् अवतार इन सभी उपस्थित विनीत शिष्यों के आचीर्ण अपराधों को मैं क्षमा करता हूँ और क्षमता के घनी वे सभी शिष्य मुझे क्षमा करें ।

१७१ आद्वान् समस्तान् समुपस्थितान् यच्छाद्रीः परान् वा क्षमयामि सम्यक् ।
कदापि कस्मै च कथञ्चिदेव, समागता स्यात् कटुता कटाक्षा ॥

उपस्थित समस्त श्रावक-श्राविकाओं तथा इतर लोगों से भी यदि कभी, किसी प्रकार का कटु व कटाक्षपूर्ण व्यवहार हुआ हो तो मैं उनसे खमत-खामना करता हूँ ।

१७२. या रागरोषं रहिता च मंत्री, सा वर्त्ततां मे जिनवत्समेषु ।
मयाजितं यत् सुकृतं जिनोक्तं, तत् प्रीतचेता अनुमोदयामि ॥

समस्त जीवों के साथ जिनराज की तरह ही मेरी राग-द्वेष रहित मंत्री हो, और मैंने जितना भी जिनोक्त धर्म अजित किया है, उसकी मैं प्रसन्न चित्त से अनुमोदना करता हूँ ।

१७३. सिद्धयष्टपद्मास्मितपद्मवद् यो, महोदयानन्दमरुद्भूमिः ।
अलीव कञ्जे मम मानसे स, रंरम्यतां श्रीपरमेष्ठिमन्त्रः ॥

सिद्धि की आठ लक्ष्मियों से युक्त विकसित कमल के समान, मोक्ष प्रदाता कल्पतरु के समान जो परमेष्ठी मन्त्र है वह मेरे मन में वैसे ही रम जाए, जैसे कमल में भ्रमर ।

१७४. वारं वनानामिव वारिणेह, व्रतं समस्तं विफलं बिना यम् ।
शुभः स भावो मम मोक्षमार्गाऽनुगामिनः सत्यसहायकोऽस्तु ॥

शुभ भावों के बिना समस्त व्रत वैसे ही निष्फल हो जाते हैं जैसे बिना पानी के वन समूह । अतः वह शुभ भाव मुझ मोक्षानुगामी का सच्चा सहायक बने ।

१७५. शृङ्गेण खड्गीव मुदाऽहमेको, वर्त्ते न कश्चिन् मम वर्त्ततेऽन्यः ।
पुनः पृथिव्याः पतिवस्त्रितान्तं, स्यां नैव कस्यापि निरीहवृत्त्या ॥

गंडे के एक सींग की तरह ही मैं भी अकेला हूँ । न तो कोई मेरा है और न मैं किसी का हूँ । मैं निस्पृहवृत्ति के कारण एक राजा की तरह ही किसी का नहीं हूँ । अर्थात् राजा किसी का नहीं होता ।

१७६. न वेषभूषा न च लोकपूजा, न संघमेलश्च समाधिबीजम् ।
बाह्यां विमुक्याऽखिलवासनां तां, स्वाध्यात्मभावे सुतरां रमेऽहम् ॥

समाधि का मूल कारण न वेशभूषा है, न लोकपूजा है और न संव-
सम्मेलन ही है। इसलिए इन समस्त बाह्य भावनाओं को छोड़कर मैं
निरंतर अपने अध्यात्म भाव में ही रमण करता रहूँ।

१७७. प्रभो ! त्वदाज्ञा बहिरुद्यमो मे, प्रभो ! त्वदाज्ञासु निरुद्यमश्च ।
कदापि मा स्तान् मम जीवनेषु, काङ्क्षेत्यकुण्ठास्तु फलेग्रहिः सा ॥

प्रभो ! मेरी यह तीव्र उत्कंठा है कि मेरे इस जीवन में आपकी
आज्ञा के बाहर कभी भी कोई उद्यम न हो और आपकी आज्ञा में कभी
भी मेरा अनुद्यम (आलस्य) न हो। मेरी यह अभिलाषा फलवान् बने।

१७८. आलोचना योगवरं कृतेत्थं, श्रुत्वं केषां न समेति तोषम् ।
आराधनाशान्तसुधारसाब्धौ, योगीश्वरः स्नातपवित्रितोऽभूत् ॥

इस प्रकार मन, वचन और काया के निर्मल योगों के द्वारा की हुई
आलोचना को सुनकर ऐसा कौन होगा जो प्रसन्न न हो। आराधनारूपी
शान्तसुधासिन्धु में स्नान कर वे योगीश्वर महामुनि पवित्र हो गये।

१७९. प्राणान्ततोष्येतद्वार्यमस्या, व्रतं चतुष्काशनवर्जितं च ।
कृतं च तत्तेन महात्मभाजा, कल्पाजिशीर्षेणमतङ्गजेन ॥

संवत्सरी पर्व के दिन जैन मुनि को चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान-
पूर्वक व्रत करना अनिवार्य है। आचार्य भिक्षु अत्यंत अस्वस्थ होते हुए भी
उस दिन (भाद्रवशुक्ला पंचमी को) उपवास किया और कल्प—आगमसम्मत
आचारविधि के समरांगण के मोर्चे पर मत्त गजेन्द्र की भांति डटे रहे—
धर्मध्यान में स्थित हो गए।

१८०. वैराग्यभूद्धारमिकदेशनाभिजिनेन्द्रवृत्तादिककीर्तनैश्च ।
समाधिसन्तोषसुधानुपानैः, पर्वाधिराजस्य दिनं प्रपूर्णम् ॥

वैराग्योत्पादक धार्मिक देशनाओं, जिनेन्द्र देव के चरित्रों और
कीर्तनों, समाधि तथा संतोष के सुधापानों से उस महापर्व का वह पुण्य दिवस
सम्पन्न हुआ।

१८१. सायन्तनस्तेन महोदयेन, प्रतिक्रमश्चारविधैर्घ्यघायि ।
ध्यानैस्तदा स्रम्भवतश्च चत्वारिंशच्चतुर्विंशतिका स्तुतीनाम् ॥

उस दिन सायंकाल आपने विधिपूर्वक प्रतिक्रमण किया और संभवतः
चालीस लोगस्स का ध्यान भी किया।

१८२. मंत्रो समाधाय शुभां समस्तैः, क्षमापनं च क्षमणं कृतं सत् ।

आत्मावतारीह यथार्थरूपं, न किन्तु तद्दार्शनिकं क्षणस्थम् ॥

आचार्य भिक्षु ने शुभ मैत्रीभाव को हृदय में धारण कर सभी से क्षमायाचना की और सबको क्षमा प्रदान की । उनका वह क्षमा का आदान-प्रदान आत्मा में उतरा हुआ और यथार्थ था । वह दिखावटी और क्षणस्थायी नहीं था ।

१८३. आराधयामास स पर्वराजमाध्यात्मिकं चात्मविदां वरेण्यः ।

रात्रौ तृषाघोरपरीषहोऽभूत्, समाधिना सासहारेण पूज्यः ॥

ऐसे उस आत्मज्ञानी ने इस आध्यात्मिक पर्वराज की आराधना की, रात्रि में तृषा का घोर परीषह उत्पन्न हुआ, उसे भी आपने पूर्ण समाधि के साथ सहन किया ।

१८४. स्वल्पं कृतं पारणकं च षष्ठ्यामावायि तेनौषधमप्यहोऽत्र ।

संवृत्तवान्तेरथ तद्दिने प्रात्याक्षीत् त्रिधाहारमृषीश्वरोऽयम् ॥

सूर्योदय होने पर छठ के दिन आपने थोड़ा सा पारणा किया और औषध भी ग्रहण किया, पर वमन हो जाने के कारण फिर आपने तीनों ही आहारों का त्याग कर दिया ।

१८५. स्तोकाशनात् सप्तममष्टमं च, दिनद्वयं तस्य जगाम शान्त्या ।

दृष्ट्वा तथा श्रीमुनिखेतसीजीरनुग्रहीत् तद् विनिवृत्तये तम् ॥

सप्तमी और अष्टमी के दिन थोड़ा-थोड़ा आहार लिया । दोनों दिन शान्ति से निकले । यह देखकर मुनि श्री खेतसीजी ने आहार त्याग न करने की प्रार्थना की ।

१८६. ततोऽभ्यधात् सोऽद्य किमङ्गमोहैः, क्षीणं शरीरं सृजता मयाऽद्य ।

वैराग्यमेवाभिविवर्द्धनीयं, वैराग्यमेवात्मधनं प्रधानम् ॥

तब आपने कहा—अब इस शरीर पर क्या मोह है । अब तो इसे क्षीण करते हुए वैराग्य वृद्धि करना ही उचित है । क्योंकि वास्तव में वैराग्य ही तो श्रेष्ठ आत्मधन है ।

१८७. तिथौ नवम्यां च मुदा दशम्यामाजन्मसंस्तारकयामकार्षीत् ।

परन्तु तत् खेतसिभारिमालाग्रहाच्चकाराऽशनमल्पमात्रम् ॥ -

फिर आपने नवमी और दशमी के दिन हर्ष से आमरण अनशन (संथारा) करने की बात कही, पर भारिमालजी स्वामी और खेतसीजी स्वामी का आग्रह होने से आपको अल्प मात्रा में आहार लेना पड़ा ।

१८८. एकादश्यामहिफेनकाभ्यामृते परित्यज्य समस्तभोज्यम् ।

जगाद् नातःपरमत्तुमिच्छा, मनाद् मदीयेऽति विचारणीयम् ॥

एकादशी के दिन आपने कहा—अफीम (देवा के रूप में) और पानी के अतिरिक्त आज मुझे तीनों आहार का परित्याग है। अब आगे किञ्चित् मात्र भी आहार ग्रहण करने की मेरी इच्छा नहीं है। यह सबको विचार कर लेना चाहिए।

१८९. कदाचिदात्माशनतो न तृप्तो, यथेन्धनाद् बह्मरिवात्र विश्वे ।

शिवंगमीव स्वजनानुषङ्गं, तस्मात्तमाहारमहं जिहासु ॥

जैसे इन्धन से अग्नि तृप्त नहीं होती, वैसे ही आहार से यह आत्मा कभी तृप्त नहीं होती। जैसे मोक्षार्थी व्यक्ति अपने स्वजनों का ममत्व छोड़ देता है वैसे ही मैं इस आहार को छोड़ देना चाहता हूँ।

१९०. मध्ये हि मे मन्विरमिन्द्रियाणां, देवात् क्षयेद् यद् क्षणिकं क्षणेऽस्मिन् ।

तेनैव सन्नाशनवधानताऽपि, समूलतो नश्वरतां प्रयासु ॥

देवयोग से यदि यह नश्वर शरीर इसी क्षण नष्ट हो रहा हो तो इस नश्वर शरीर के साथ-साथ मेरी अनवधानता—अजागरूकता का भी मूलतः नाश हो जाए।

१९१. षष्ठं तपः शुक्लविमशंवद् द्वादश्यामिवान्त्यप्रभुनाऽत्र तेन ।

अशील निर्वर्णसुखाश्रितानाऽनाहाराय सज्जेन व्यभावि सद्यः ॥

द्वादशी के दिन आपने शुक्ल ध्यान की तरह ही इस षष्ठं तप (दो दिन के तप) को वैसे ही स्वीकार किया जैसे अनाहार के लिए सज्जीभूत मोक्षार्थी अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने किया था।

१९२. इतस्तनोः पौद्गलिकी च शक्तिर्गोष्मर्तुवल्लीव कुशा भवन्ती ।

इतोधिका चेतनशक्तिरस्य, वर्षर्तुवल्लीव विवर्द्धमाना ॥

एक ओर शारीरिक शक्ति ग्रीष्मकाल में लता की तरह सूखती जा रही थी तथा दूसरी ओर वर्षावास में बढ़ती हुई लता के समान आत्मशक्ति बढ़ती जा रही थी।

१९३. शरीरशक्तौ च तदात्मशक्तौ, द्वन्द्वं यशोर्थं प्रतिवर्त्तमानम् ।

लक्ष्म्यां च बुद्धाविव तद् द्वितीया, जैत्रा जयन्ती वरबुद्धिवत् सा ॥

तब यशःप्राप्ति के लिए शारीरिक शक्ति और आत्मिक शक्ति के मध्य वैसा संघर्ष उत्पन्न हुआ मानो लक्ष्मी और बुद्धि (सरस्वती) के मध्य संघर्ष हो रहा हो। परन्तु अन्त में बुद्धि की भांति आत्मिक शक्ति की ही विजय हुई।

१९४. स्वदेहसारं स समाचकर्षे, दानौ तदर्थं तदसारवस्तु ।

हैयङ्गवीने स्ववशोपनीते, यथा हि तत्कं जगतां निरर्थम् ॥

आपने अपने शरीर का सार-सार खींच लिया । अब आपके लिए वह शरीर असार वस्तु से अधिक नहीं रहा । दही से नवनीत प्राप्त करने के पश्चात् शेष बची छाछ प्राणियों के लिए निस्सार होती है ।

१९५. यावत्तनुः संयमतासहायी, द्रव्यासुवत्तत् सुधृतं च तावत् ।

जातं प्रतीपं परिहर्तुकामो, विनोदये दीपकवत्तदानीम् ॥

जब तक यह शरीर संयम का सहायक रहा, मैंने इसे द्रव्य प्राणों की तरह ही धारण करके रखा, पर अब यह इससे प्रतिकूल हो रहा है तो मैं इसे वैसे ही छोड़ देना चाहता हूँ जैसे सूर्योदय हो जाने पर दीपक को हटा दिया जाता है ।

१९६. अयोगिवद् योगविदां वरस्य, विभीषिका तस्य न कापि मृत्योः ।

महोत्सवः पण्डितमृत्यवे च, शैलेश्वरस्यैविवदप्रकम्पः ॥

अयोगी की तरह ही इन योगीराज को भी मृत्यु का कोई भय नहीं था । प्रत्युत उन्हें पण्डित मरण का महान् हर्ष था । वे मृत्यु से वैसे ही अप्रकम्प थे जैसे शैलेश्वी अवस्था वाला मुनि अप्रकंप होता है ।

१९७. यद्यत् कृतं तच्च तदात्मसाक्षीपूर्वं महावीरवचोभिरक्ष्य ।

अतः फले तस्य न कापि शङ्का, न्यायसंबाणिज्यवतो यथा हि ॥

उन्होंने जो कुछ भी किया, भगवान् के वचनों को आगे रखकर आत्मसाक्षी पूर्वक ही किया । अतः उसके शुभ फल में तो शंका हो ही क्या सकती है ? जैसे न्याय और सचाई से व्यापार करने वाले व्यापारी को व्यापार में लाभ की आशंका नहीं होती ।

१९८. तद्द्वादशीद्यावि सुसोमवारेऽपववापणात् सन्मुखपक्ववहट्टे ।

शृङ्गेऽन्यशृङ्गाद्वरिवत् समागाद्, विस्तारिता शिष्यगणेन शय्या ॥

शैल के एक शिखर से दूसरे शिखर पर जाते हुए केसरीसिंह की तरह ही आप उस द्वादशी के दिन कच्ची हाट से पक्की हाट में पधार गये और वहीं पर शिष्यों ने आपके लिए बिछौना कर दिया ।

१९९. सुष्वाप तत्रैव महानुभावो, महासमाधिष्ठविशिष्टयोगः ।

मन्ये अमाच्छान्तरसो हि साक्षादाराममिच्छुर्विरराम किञ्चित् ॥

महान् समाधिष्ठ व विशिष्ट योग वाले महामुनि भिक्षु वहीं पर लेट गये । उस समय वे ऐसे लग रहे थे कि मानो थका हुआ शान्तरस विश्राम करने की इच्छा से यहां लेटा हुआ है ।

२००. न्यूनं न मे स्यादणुमात्रमेतद्, वैराग्यमन्तःस्थितमप्यतः किम् ।

अन्तर्बिदुक्षुर्नयनारविन्दे, ह्यन्तर्मुखीकृत्य सुखात् स सुप्तः ॥

मेरे हृदय स्थित वैराग्य में कोई कमी न आ जाए, ऐसा अन्तर् में देखने की इच्छा से ही मानो भिक्षु मुनि अपने नयन कमलों को अन्तर्मुखी बना सुखपूर्वक सो गए ।

२०१. मनाक् प्रजाते समयेऽत्र तावत्, स रायचन्द्रापरित्यक्तः पार्श्वे ।

यो दर्शनं दर्शनवत् स्वदीप्यं, मह्यं प्रदेहीति जजल्प जप्यम् ॥

थोड़ा सा समय बीता । इतने में मुनि श्री रायचन्द्रजी ने निकट आकर कहा—‘भगवन् ! आपके दर्शन दर्शन (आंख) के समान हैं, अतः मुझे दर्शन दें ।’

२०२. श्रुत्वैव भिक्षुः शमसिन्धुनेत्रे, निजे समुद्रघाट्य ऋषिं प्रपश्यन् ।

तन्मस्तके वत्सलताभिपूर्णं, छत्रोपमं स्वीयकरं ररक्ष ॥

भिक्षु ने यह सुनते ही उपषम-सिन्धु के समान अपने दोनों नेत्र खोल, मुनि श्री रायचन्द्रजी की ओर देखते हुए छत्र की तरह अपना हाथ वत्सलता-पूर्वक उनके मस्तक पर रखा ।

२०३. स वैद्यवद् बालकरायचन्द्रः, श्रीस्वामिनां गान्धर्वशामवेक्ष्य ।

प्रोचेऽद्य तान् नाथ ! पराक्रमस्ते, क्षयन् सरिद्वेग इवोपलक्ष्यः ॥

वे बाल मुनि रायचन्द्रजी स्वामीजी की शारीरिक अवस्था को देख एक वैद्य की तरह बोले—‘अयि स्वामिन् ! अब नदी के उतरते हुए वेग की तरह ही आपका शारीरिक पराक्रम घटता जा रहा है ।’

२०४. स्वामी निशम्यैव चमत्कृतः सन्, समुत्थितः सुप्तमृगेन्द्रवच्च ।

श्रीभारिमालं मुनिखेतसीजो, तत्कालमाह्लास्त समागतौ तौ ॥

बाल मुनि रायचन्द्रजी की इस बात को सुनते ही स्वामीजी एकदम चौंक पड़े और सोये हुए शेर की तरह ही सहसा उठे और तत्काल मुनि श्री भारिमालजी और मुनिश्री खेतसीजी को अपने पास बुला भेजा । दोनों उपस्थित हुए ।

२०५. शक्रो यथा शक्रसभास्वऽयं हि, शक्रस्तवं सिद्धजिनेन्द्रयोश्च ।
प्रगुण्य सर्वाभिमुखे स यावज्जीवं त्रिधाहारमपोह्य शान्त्या ॥

२०६. शमी शमीगर्भमिवाऽतितेजा, बिभ्रद् विभूत्या प्रणिधानमन्तः ।
वधार संस्तारकमात्मविद् द्वादश्यां तिथौ स्वात्मगुणातिलीनः ॥

(युग्मम्)

देवसभा में शक्र की तरह ही आपने सिद्ध और अरिहन्तों की स्तुति कर, 'नमोत्पुणं' पाठ का उच्चारण करते हुए सबके सामने आपने शान्ति पूर्वक यावज्जीवन के लिए तीनों आहार का प्रत्याख्यान कर दिया ।

जैसे खेजड़ी अति तेज अङ्गारों को धारण करती है वैसे ही शक्ति से धर्म ध्यान को धारण करते हुए आत्मज्ञानी मुनि भिक्षु ने द्वादशी के दिन आमरण अनशन स्वीकार किया और आत्मगुणों में अत्यन्त लीन हो गये ।

२०७. महाविरागाग्निरमायि तेन, संस्तारकं साधुविधेस्तदानीम् ।
धन्यो भवान् धन्य इति प्रघोषो, हरिभिक्षुञ्जोदरपूरकोऽभूत् ॥

परम वैराग्य भाव से आपने संथारा किया, इसलिए 'धन्य हो', 'धन्य हो', ऐसे धन्य-धन्य के नारों से दिङ्मण्डल गूञ्ज उठा ।

२०८. इदं दृश्यं दृश्यं नयनविषयीकृत्य सुतरा-
मिदं श्रव्यं श्रव्यं श्रवणतिथितामाप्य नितराम् ।
न केषाञ्चिद् रोमोद्गमनमभितोऽभूद् भविनृणां,
न केषाञ्चिद् वक्त्रात् स्तवनततयो विस्तृतिमिताः ॥

इस दर्शनीय दृश्य को देख-देखकर और इस श्रवणीय श्रव्य विषय को सुन-सुनकर ऐसा कौन भव्य मानव होगा जो रोमाञ्जित न हुआ हो और ऐसा कौन होगा जिसके मुख से सहसा गुण गाथाएं न निकली हों ।

श्रीनाभेयजिनेन्द्रकारभकरोद्धर्मप्रतिष्ठां पुनर्,
यः सत्याग्रहणाग्रही सहनयेराचार्यभिक्षुर्महान् ।
तत्सिद्धान्तरतेन चाश्रचिते श्रीनत्थमल्लविषा,
सर्गः सप्तदशो बभूव सुतरां श्रीभिक्षुवृत्ते शुभम् ॥

श्रीनत्थमल्लविषा विरचिते श्रीभिक्षुमहाकाव्ये श्रीभिक्षोः सिरियारी-
नगरे चातुर्मासप्रवासार्थमागमनं, रोगाक्रान्तशरीरं, महाप्रयाणस्य
समयः, सर्वैः सह क्षमायाचनं, संस्तारकस्य प्रतिपन्नतेत्यादि
प्रतिपादकपरः सप्तदशः सर्गः ।

अठारहवां सर्ग

प्रतिपाद्य : आचार्य भिक्षु का सिरियारी नगर में अनशनपूर्वक
समाधि-मृत्यु का वरण ।

श्लोक : ५१ ।

छन्द : दोषक ।

वर्ण्यम् :

आचार्य भिक्षु के अनशन की बात सुनकर हजारों-हजारों श्रद्धालु जन सिरियारी में एकत्रित हुए। जो व्यक्ति आचार्य भिक्षु का सतत विरोध करते रहे, वे भी उस समय श्रद्धावनत होकर भिक्षु की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। वि० सं० १८६०। भाद्रव शुक्ला त्रयोदशी का दिन। उस दिन लगभग डेढ़ प्रहर दिन बीतने पर आपने चार बातें कही— (१) पूरे नगर में त्याग-वैराग्य बढ़ाने का प्रयत्न करो। (२) शीघ्र सामने जाओ, साधु आ रहे हैं। (३) शीघ्र ही साध्वियां आ रही हैं। (४) चौथी बात अस्पष्ट थी। कुछ समय पश्चात् साधु-साध्वियां आ पहुंचीं। प्रतीत होता है कि आचार्य भिक्षु को अंतिम समय में अतीन्द्रियज्ञान (अवधिज्ञान) उत्पन्न हुआ हो। उसी दिन सायंकाल आपने पद्मासन में बैठे-बैठे प्राण त्याग दिए। शोक-संतप्त लोगों ने और्ध्वदेहिक क्रियाएं सम्पन्न कीं। आचार्य भिक्षु की इहलीला सानन्द सम्पन्न हो गई।

अष्टादशः सर्गः

१. श्रेष्ठसमाधिनिधेर्मनिमिक्षोः, प्रेत्यनिजात्महितं प्रविद्वक्षोः ।

तस्य कृतानशनस्य समज्ञा, सौरभवत् प्रसूता शुभसञ्ज्ञा ॥

श्रेष्ठ समाधि के भण्डार परलोक के लिए आत्महित को ही देखने के इच्छुक, ऐसे कृत संस्तारक (संधारा) भिक्षु स्वामी की शुभ नाम वाली (लब्ध क्याति) कीर्ति सुरभि की तरह चारों ओर फैल गई ।

२. तच्छृवणोत्सुकितामितलोकाः, स्फूर्जदशोकवदुज्जितशोकाः ।

तं परिवृत्य रता गुणमुग्धा, भृङ्गगणा इव दर्शनलुग्धाः ॥

उस अनशन के शुभ संवाद को सुनकर अत्यधिक लोग विकसित अशोक की भांति शोक-विमुक्त होकर उनके दर्शनों में ही लुब्ध हो गये । वे गुणमुग्ध व्यक्ति उनको चारों ओर से घेरकर भ्रमरों की भांति उनकी उपासना में रत हो गए ।

३. द्रष्टुमनःसमुपागतहृष्टस्त्रीपुरुषाधिकसङ्कुलिताऽभूत् ।

यत्रगरेऽपि न मातुमधीशा, स्वापणपङ्क्तिरजायत तुच्छा ॥

दर्शनों के लिए आई हुई प्रसन्न जनता की भीड़ से चारों ओर संकीर्णता ही संकीर्णता दिखाई देने लगी और ऐसा लगने लगा कि मानों इस अपार जन समूह को समाने में यह नगर असमर्थ-सा है और उस भीड़ से नगर के वे विशाल बाजार भी छोटे-छोटे से प्रतीत होने लगे ।

४. जीवनतोऽपि निरन्तरवैरास्तेऽपि तवाद्भुतचित्रितचिन्ताः ।

यत्र शमैः स्वयमेव परादयस्तत्र न किं रिपवोऽरिपवः स्युः ॥

जीवन भर से चले आ रहे चिरकालीन वैर वाले व्यक्ति भी उस समय अद्भुत और विचित्र विचारों वाले हो गये । इसमें आश्चर्य ही क्या है ! शांति से ओतप्रोत आत्मा के समक्ष क्या शत्रु भी मित्र नहीं बन जाते ?

५. नास्तिकताप्रचणता पुरुषालिरास्तिकमवमिता मुदिता सा ।

दुर्बसुधाऽपि सुधाम्बुदसेकात्, किं न भवेद्धरिता भरिता सा ॥

नास्तिकता से ओतप्रोत व्यक्ति भी उस समय आस्तिक बन कर अत्यंत प्रसन्न हुए। अमृतवर्षी बादल के जल से सिंचन पाकर क्या ऊसर भूमि भी हरी-भरी नहीं बन जाती ?

६. किञ्च यमे नियमे निहितं स्यादेवमुदाहरणे कुशला ये ।

तेऽपि नमस्कृतिपूर्वकमेत्याऽधुः शपथान् विविधान् स्वयमेव ॥

‘यम, नियम और त्याग-वैराग्य में क्या धरा है’—ऐसा कहने वाले वाचाल लोगों ने भी आपको उस समय नमस्कार कर स्वतः अनेक प्रकार की प्रतिज्ञाएं ग्रहण कीं ।

७. ये मुनिदर्शनतः प्रतिकूला, द्रष्टुमिमं खलु तेऽत्यनुकूलाः ।

यन्नमनेषु कुतूहलकारास्तेऽत्र नताः प्रस्तुतसत्काराः ॥

साधु-दर्शन के विरोधियों ने भी आपके दर्शन का पूरा-पूरा समर्थन किया और साधु-वन्दन आदि क्रियाओं का उपहास करने वाले व्यक्ति स्वयं आपका सम्मान करते हुए श्रीचरणों में नत हो गए ।

८. यन्मुखदर्शनतोऽपि निजं येऽमंसत तीव्रमपावनरूपम् ।

सम्प्रति तेऽपि यदंहरजःसंस्पर्शनतो हि भवन्ति कृतार्थाः ॥

आपके मुख-दर्शन मात्र से ही अपना घोर पापोदय मानने वाले लोग भी आज आपके चरणरज का स्पर्श कर लेने मात्र से अपना अहोभाग्य मानने लगे ।

९. तस्मिन्नेक बहुशो जनयूषा, भूरि मुदा विरचय्य सुदृष्टिम् ।

मन्तुगणान् क्षमितुं क्षमयाभिर्विज्ञपयन्ति विनम्रमतेन ॥

आपके निकट नर-नारियों के अनेक समूह आते और हर्ष से बार-बार दर्शन करते हुए आपसे अपने अपराधों को क्षान्ति से क्षमा करने की विनम्र प्रार्थना करते ।

१०. त्याग इहोच्छतमश्च विरागोऽहं प्रविभिद्य ववर्षं वृषोऽपि ।

तस्य विलोकनतः किमु सर्वं, तेन समा अभवन् प्रविरक्ताः ॥

वहां उस समय ऐसा प्रतीत हुआ कि उच्चतम त्याग, वैराग्य और धर्म आकाश को फाड़कर नीचे बरस रहा हो और वैराग्यमूर्ति आचार्य भिक्षु के दर्शन मात्र से ही सब लोग उनके समान ही विरक्त बन गए ।

११. केचन सासुकनीरनिवृत्ताः, केऽपि वनस्पतिभोचनदक्षाः ।

केचन रात्र्यशनादवरुद्धाः, केऽपि चतुर्विधवल्ग्वनमुक्ताः ॥

१२. केप्यनलानिलभूवधहाराः, केचन दुर्व्यसनप्रतिकाराः ।

केऽपि कषायमदापरनिन्देर्ष्याविकथापकथापरिहाराः ॥

१३. केचन शीलमधुर्मधु यावज्जीवमशेषसंवृत्तिसकोटम् ।

एवमनेकविधाभिरनिन्द्यं, तत्त्यजुरङ्गिगणास्तरणार्हाः ॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

उस समय कुछ व्यक्ति सचित्त पानी पीने का त्याग कर रहे थे तो कुछ व्यक्ति हरियाली का त्याग करने के लिए लालायित हो रहे थे । कुछ व्यक्ति रात्रिभोजन छोड़ रहे थे और कुछ व्यक्ति रात्री में 'चोविहार' का त्याग ले रहे थे ।

कुछ व्यक्ति अग्नि, हवा और पृथ्वी की हिंसा का, कुछ व्यक्ति सप्त कुव्यसनों का, कुछ व्यक्ति कषाय, मद, परनिन्दा, ईर्ष्या, विकथा और अपकथा आदि-आदि का त्याग कर रहे थे ।

कुछेक व्यक्ति यावज्जीवन तक नववाड़ और कोट सहित सुन्दर शील को स्वीकार कर रहे थे । इस प्रकार वहाँ उपस्थित भव्यप्राणी अनेक प्रकार के प्रशस्त प्रत्याख्यान ग्रहण कर रहे थे ।

१४. अस्तमितेऽमृदुरोचिषि तत्रावश्यकमाकलितुं भ्रमणेशः ।

प्राह ततो विनयोत्तमभारीमालमुनि वृषदेशनकृत्ये ॥

उस दिन सूर्यास्त होने पर पूज्यश्री ने प्रतिक्रमण किया और फिर परम विनीत शिष्य मुनि भारीमालजी को धर्म-देशना देने का आदेश दिया ।

१५. श्रोत्रपुटैः परिपीय तदीयं, वाग्विशदामृतमुत्तरमाह ।

किं तव संस्तरणे मम नाथाख्यानकृतावधिकं सुमहत्त्वम् ॥

पूज्य श्री की अमृतमय वाणी द्वारा प्रदत्त आदेश को सुनकर प्रत्युत्तर देते हुए मुनि भारीमालजी ने कहा—प्रभो ! आपके इस संथारे में मेरा व्याख्यान देना क्या महत्त्वपूर्ण है ?

१६. व्याहृत्यतेस्म ततः स मुनीन्द्रैः, कोप्यपरोऽनशनं यदि कुर्यात् ।

तन्निकटेऽप्युपगम्य विनोदाद्, धर्ममयं वितराम्युपदेशम् ॥

तब आपने कहा—‘यदि कोई दूसरा व्यक्ति अनशन (संथारा) करता है तो हम स्वयं उसके निकट जाकर अत्यन्त हर्ष से उसे धार्मिक उपदेश सुनाते हैं।

१७. तर्हि कथं मम संस्तरणे नो, श्रेयसिकी सुकथेति निशम्य ।

धृत्यवगाहनतः स तवाख्यात्, स्वाम्यपि स श्रुतवांच्छुभयोगैः ॥

फिर मेरे इस संथारे पर श्रेयस्करी यह धार्मिक देशना क्यों नहीं ? तब धैर्य धारण कर मुनि श्री भारिमालजी ने व्याख्यान दिया और महामना भिक्षु स्वामी ने भी उसे शुभ अध्यवसायों पूर्वक सुना ।

१८. वीतरागभगवद्वरवाण्या, प्लावितपुष्पितकर्णनिकुञ्जः ।

आगमनैगमनादविनिव्रतः, सोऽस्ति तदा जपजापवितन्त्रः ॥

वीतराग भगवान् की पवित्र वाणी से प्लावित होकर आचार्यश्री का कर्ण निकुञ्ज पुष्पित और फलित हो गया । आगम-नैगम के होने वाले सतत नाद से जागरूक स्वामीजी उस समय जाप में तल्लीन हो गए ।

१९. यच्छ्रवणेन समामृतसिद्धिर्यच्छ्रवणेन विरागविवृद्धिः ।

यच्छ्रवणेन चिदात्मसमृद्धिर्यच्छ्रवणेन तिरोहितगृद्धिः ॥

उस समय वहाँ होने वाले संगान को सुनने मात्र से समतारूपी अमृत की सिद्धि, वैराग्य की वृद्धि, चेतना की समृद्धि और आसक्ति की विलुप्ति स्वतः हो जाती थी ।

२०. तादृशसुन्दरसुन्दरसाराः, प्रोद्बहमानसमुज्ज्वलधाराः ।

पार्श्वंगसद्भिरनुत्तरकण्ठैः, संजगिरे स्तुतिगीतिसमूहाः ॥

आचार्य भिक्षु के पार्श्वस्थित मुनि मधुर कंठों से गीतिकाएं, स्तुतियां गा रहे थे । वे गीतिकाएं उत्कृष्ट सारयुक्त तथा प्रबहमान निर्मल जलधारा की भांति निर्मल और पवित्र थीं ।

२१. सा रजनी व्ययिताऽथ तदग्रयमेध्यतिथेर्दिवसं समुदेषीत् ।

आययुरार्यजना यदियन्तो, मेलकवत् समजायत तेषाम् ॥

वह रात्री धर्म-जागरण करते-करते बीत गई । पुण्यतिथि वाला वह दिन (भाद्रव शुक्ला त्रयोदशी) उदित हुआ । उस दिन बहुत बड़ी संख्या में लोग आये । उन आने वाले लोगों का एक मेला-सा लग गया ।

२२. दर्शनतः श्रमणेशितुरस्य, तद्बहूदयानि विनोदभूतानि ।

उल्लसितानि मुखानि च तेषामूच्छितरोममयानि वपुषि ॥

ऐसे मुनिपति के दर्शन मात्र से ही दर्शनार्थी लोगों के हृदय आनन्द-विभोर हो उठे, चेहरे उल्लास से भर गये और उनके शरीर रोमाञ्चित हो गए ।

२३. स्वामिगुणान् बहुधा ब्रुवते ते, धन्य इहास्ति भवांश्च परत्र ।

आर्हतसन्मतमस्तकमौलिर्धर्मधुरन्धर ऐन्द्रनतांहिः ॥

वहां एकत्रित लोग भिक्षु के गुणों का बार-बार उल्लेख करने लगे — ‘भते ! आप इहलोक में भी धन्य हैं और परलोक में भी धन्य रहेंगे । आप पवित्र आर्हत मत के मुकुट हैं, धर्म-धुरा के समर्थ वाहक हैं तथा इन्द्र भी आपके चरणों में नत होते हैं ।’

२४. येन समुत्सहनेन भवद्भिः, शुद्धपथो गृहीतो जिनवृष्टः ।

प्रोज्ज्वलितः सुतरां स तथैवाऽऽजीवनमात्मनिबद्धमुलक्ष्यात् ॥

‘आपने जिस अदम्य उत्साह के साथ जिनोक्त शुद्ध मार्ग को ग्रहण किया था, उसे उसी प्रकार आपने आत्मिक शुभ लक्ष्य के साथ जीवन पर्यन्त निभाया है, उसे उज्ज्वलित किया है ।’

२५. एवमनेकगुणस्तवतोऽपि, साम्यमनोभिरुवास स पूज्यः ।

सम्प्रति साम्प्रतमन्यदिनस्य, नव्यचमत्कृतिमुद्विदूणोमि ॥

लोगों ने उनके अनेक गुणगान किए परन्तु पूज्य स्वामीजी साम्यभाव में स्थित रहे । अब मैं उस अन्तिम दिन की सुन्दर व चमत्कारपूर्ण घटनाओं का उल्लेख कर रहा हूं ।

२६. यातवति प्रथमे प्रहरेऽन्हः, स्वल्पमपात् सलिलं भ्रमणेशः ।

ध्यानमुपेत्य ततो बत तस्थौ, वात्मसमाधिलयेषु विलग्नः ॥

प्रथम प्रहर पूरा होने पर आचार्य भिक्षु ने थोड़ा-सा जल ग्रहण किया । तत्पश्चात् ध्यानस्थ होकर आत्म-समाधि में लीन हो गये ।

२७. तद्विवासाधितयाम इहैते, यच्चतुरश्चरमाणि वचांसि ।

भिक्षुमुनिः सहसा समवादीत्, तानि यथाक्रमतो निगदाभि ॥

उस दिन लगभग डेढ़ प्रहर दिन बीता होगा कि आपने सहसा चार अन्तिम बातें फरमाई, जिनका मैं क्रमशः वर्णन कर रहा हूं ।

२८. प्राङ् नगरे परिवर्द्धयतातित्यागविरागरयं पुनराह ।

सन्मुखमाशु सरन्तुतरामाऽऽयान्ति च सन्त इहोत्तमसाध्यः ॥

पहली बात आपने साधुओं से कही—‘जाओ, नगर में ऐसा प्रयत्न करो कि अधिक से अधिक त्याग और वैराग्य की वृद्धि हो। दूसरी बात आपने कही—‘शीघ्र सामने जाओ, साधु आ रहे हैं। तीसरी बात— साध्वियों आ रही हैं।’

२९. धोत्रपथेन तद्भुक्तिमवेत्य, केचन चिन्तितवन्त उदात्तम् ।

ध्यानममुष्य हि सत्सु विलग्नमित्यमतो ववितुं यततेऽयम् ॥

आपकी यह बात सुनकर कुछेक संतों ने सोचा कि संभवतः आपका ध्यान (मन) साधु-साध्वियों में रह गया है, इसीलिए ऐसा फरमा रहे हैं। (पर कोई आने वाला तो दीख ही नहीं रहा है।)

३०. किन्तु तथाकथनाद्भुतमित्या, सौष्ठवतः खलु तत्र मुहूर्त्तम् ।

विश्रुतसंस्तरणोद्भववृत्तावुत्सुकितौ चकितौ वरमत्तौ ॥

३१. दर्शकचित्रकरो तृषितौ द्वौ, पालिपुरान्महनीयविद्वक्षू ।

कल्पतयागमतां मुनिवेणीराम उदार इहान्यकुशलः ॥

(युगम्)

किन्तु अनुमानतः उस कथन के एक मुहूर्त्त बाद ही, संथारे की प्रसिद्ध बात को सुनकर उत्सुक व आश्चर्यान्वित होते हुए परम भक्त, दर्शक-जनों को विस्मित करते हुए, पूजनीय पूज्यश्री के दर्शनों के इच्छुक, आगमोक्त कल्प के अनुसार पाली नगर से मुनि श्री वेणीरामजी और कुशलजी— ये दो मुनि अत्यन्त तृषातुर अवस्था में वहां आ पहुंचे।

३२. तौ प्रणिपेततुरिज्यपदान्जे, सान्द्रमुदा विधिना सुपरीत्य ।

सोऽपि तयोः शिरसि स्वकरान्जं, वत्सलतापरिपूर्णमधाच्च ॥

उन दोनों मुनियों ने पूज्यश्री के चरण कमलों में विधियुक्त प्रदक्षिणा देकर सघन प्रसन्नता से वन्दना की और आपने भी उस समय पूर्ण वत्सलता के साथ अपना कर-कमल उनके मस्तक पर रखा।

३३. लोचनरोचनलोचनतो वा, स्वेङ्गिततः सुखसातमपृच्छत् ।

किन्तु न वक्तुमभूत् स समर्थो, मोदकरी सुगुरोस्तद्वियत्ता ॥

किन्तु बोलने में असमर्थ होने के कारण आपने अपने नेत्रों की प्रियदृष्टि तथा इंगित से ही उनको सुखसाता पूछी। ऐसी अस्वस्थ अवस्था में आप जैसे सद्गुरु का इतना करना ही क्या आगंतुक शिष्यों के लिए परम हर्ष का विषय नहीं बन जाता ?

३४. तौ स्वकरो विनयात् प्रतिबध्य, प्रोचतु इज्य ! भवच्छुभदृष्टेः ।

सम्प्रति पूर्णकृतार्थतरौ स्वः, श्रेष्ठतमौ कृतपुण्यविपाकौ ॥

तब उन दोनों ने विनय से अपने दोनों हाथ जोड़कर निवेदन किया—
'भते ! आज श्रीचरणों के शुभ दर्शन होने से हम पूर्ण कृतार्थ, पूर्ण सौभाग्य और पूर्ण कृत-सुकृत हो गये हैं ।

३५. जल्पति भक्तिरतो मुनिवेणीः, स्ताच्छरणं भवतां चतुरङ्गम् ।

स्वच्छरणं भवतात्सततं नो, जन्मनि जन्मनि वारमनेकम् ॥

भक्तिरस से आप्लावित होकर मुनि श्री वेणीरामजी ने कहा—
'आपको अरिहन्त-सिद्ध-साधु और केवल-प्ररूपित धर्म की शरण हो और हमें जन्म-जन्मान्तरों में भी अनेक बार आपका अनवरत शरण प्राप्त होता रहे ।

३६. यादृशजैनपथः प्रथमोऽयं, तादृश एव निर्दिशित इज्य ! ।

आदिजिनेन्द्रबहुज्ज्वलितोऽद्य, संसृतितारणपोतसमानः ॥

प्रभो ! जैसा यह जैन धर्म प्रथम है, महान् है वैसा ही आपने निर्दिशित किया है—आचरण द्वारा आलोकित किया है । यह धर्म संसार-सागर से पार लगाने के लिए जहाज के समान है । आपने आदिनाथ जिनेन्द्र की भांति ही इसे प्रकाशित किया है ।

३७. श्रावितवान् भगवद्भजनानि, तीर्थकृतां स्तवनानि शुभानि ।

तादृशसमये तादृशभिक्षोर्भाग्यमृते क्व सद्यन्तिमसेवा ॥

मुनि श्री वेणीराम जी ने भगवद् भजन और तीर्थकरों की शुभ स्तुतियां गा-गा कर पूज्य श्री को सुनाई । उस समय के वैसे भिक्षु की वैसी सेवा (अन्तिमकालीन भिक्षु की अन्तिम सेवा) बिना भाग्य के कैसे किसी को सुलभ हो सकती थी ?

३८. तावदहो सहसा त्रिकसाध्यस्तत्र समीपुरवेक्ष्य समस्ताः ।

चित्रमयुर्बंगदुर्मुनिनोक्तं, सङ्गतिमञ्चति सञ्चितसाराम् ॥

इतने में ही तीन साधवियां वहां पर आ पहुंचीं । उन्हें देखते ही सब विस्मित से होते हुए कहने लगे—'अहो ! पूज्यपाद ने जो कुछ कहा था, वह सारपूर्ण एवं सङ्गत ही था ।

३९. तादृशलक्षणतोऽवधिबोधसम्भवता तद्वधौ प्रतिभाति ।

निश्चयतः कश्चित् न हि शक्यं, तत्त्वमिदं परमेश्वरगम्यम् ॥

इन लक्षणों से उन महर्षि को अवधिज्ञान का होना संभव सा प्रतीत होता है, परन्तु निश्चयपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता । यह तत्त्व तो केवली ही जान सकते हैं ।

४०. धीरतया लपनान्न चतुर्थं, तद्वचनं प्रतिबुद्धमशेषः ।

उत्थितवान् स्वयमेव तदानीं, ध्यानसदासनतो विरराज ॥

चौथी बात आपने धीरे-धीरे धीमे स्वरों में कही । किसी को भी वह समझ में नहीं आई । उस समय आप बिछौने से स्वयं उठे और उत्तम ध्यानासन में विराज गए ।

४१. तत्समये न मनागपि बाधा, तस्य शरीरमरोगमुदारम् ।

श्रीजिनवच्छुशुभे सुतरां स, सान्द्रसमाधिसमुद्रसमुद्रः ॥

उस समय आपके शरीर में किञ्चित् भी बाधा प्रतीत नहीं हो रही थी । आप नीरोग और स्वस्थ से लग रहे थे । तब आप सघन समाधि में लीन समुद्र की तरह शांत और जिनेश्वर देव की तरह सुशोभित हो रहे थे ।

४२. स्यूतिकरः स्वकर्म समाप्य, रक्षितमस्तकवेष्टनसूचिः ।

हृष्टमनाः सुमना इव दृष्ट्या, दर्शनमस्य विधाय समूचे ॥

इतने में दर्जी वैकुंठी बनाने का अपना सारा काम पूरा कर सूई को पगड़ी में खोंस कर प्रसन्न मन से विकसित नयनों से आपको निहारता हुआ बोला—

४३. कार्यमकार्षमहन्तु समग्रमस्य विलम्ब इवास्ति किमद्य ।

एवमुदीरित एव निजासून्, ध्यानमयासनतः सुखमोज्झत् ॥

‘मैंने तो अपना सारा काम पूरा कर दिया, पर क्या स्वामीजी के अभी देरी है ? उसके इस कथन के साथ ही आपने ध्यान आसन में बैठे-बैठे ही सुखपूर्वक प्राणों का विसर्जन कर दिया ।

४४. ध्यानविराजितयोगिकमुद्रामिश्रितशान्तरसैरुपविष्टः ।

संप्रविलोकयतां समपुंसां, स्वर्गरमां समलङ्कृतवान् स ॥

ध्यानस्थ योगमुद्रा में स्थित, शान्तसुधारस में ओतप्रत आचार्य भिक्षु लोगों के देखते-देखते स्वर्गस्थ हो गए ।

४५. स्वामिशवं गृहिणां च गृहिभ्यो, व्यत्ससुबुर्भुनयो हृतमोहाः ।

ध्यानमकार्षुश्चदासनस्कास्तीर्थकृतां स्तवनस्य चतूर्णाम् ॥

मोह से विलग होकर मुनियों ने स्वामीजी के शव को गृहस्थों को सौंप दिया और खिन्नचित्त से चार चतुर्विंशति स्तव (लोगस्स) का ध्यान किया ।

४६. सन्त उपोषुरिमेऽपि च मुन्यो, गौरवतो निखिला गुरुभक्ताः ।

तद्विरहो बहु दुःसहनीयः, सेहुरगाधपराक्रमतस्तम् ॥

उन सब गुरुभक्त साधु-साध्वियों ने बड़े ही गौरव के साथ उपवास किया और उनके अति दुःसह्य विरह को भी अत्यधिक धैर्य के साथ सहन किया ।

४७. सप्तसुयामिकसंस्तरणं तद्, वृत्तपतेः समुपेत व्यशनस्य ।

ईदृशपूर्णसमाधिनिधानं, मृत्युरूपंति महाविरलानाम् ॥

इस प्रकार आपकी समाधिपूर्ण मृत्यु सात प्रहर के तिथिविहार संधारे में हुई । इस प्रकार की समाधिपूर्ण मृत्यु अत्यंत विरल व्यक्तियों की ही होती है ।

४ ४

४८. भावचरित्रयुगाभमवर्षे, श्रेष्ठतिथौ गुणचन्द्रमितायाम् ।

दोषबद्धमिदं परिहृत्य, सत्यवबुत्तममाप सुरोकः ॥

आपने चौवालीस वर्षों तक भावदीक्षा की आराधना की और अन्त में त्रयोदशी के दिन दोषों की भांति ही इस देह को छोड़ सत्य-ग्रहण की भांति उत्तम स्वर्गधाम को प्राप्त हो गए ।

४९. नभोलेशयारत्नावनिमितशरद्भाद्रविमलः,

त्रयोदश्यां सिद्धक्षितिजवरवारे मरुधरे ।

सिरियारीद्रङ्गे प्रशमरसलीनः परिवृतो,

दिने शेषे सार्द्धप्रहर उदगात् स्वर्गसवने ॥

विक्रमीय संवत् १८६० में, भाद्रव शुक्ला त्रयोदशी के दिन, सिद्धयोग, मंगलवार, डेढ प्रहर दिन अवशिष्ट रहते मरुधर देश के सिरियारी नामक नगर में उपशान्त रस में भूलते हुए आचार्य भिक्षु ने स्वर्गलोक के लिए प्रस्थान कर दिया ।

५०. वियोगादेतावुकृचरणकरणाराधकगुरो-

निसर्गान्नेत्राभ्यामविरलगलन्नीरनिबहाः ।

विमानेऽध्यारोप्य व्यधिकदशखण्डेन रचिते,

जना रूप्योच्छालैः समकृषत तस्यैहिकमहम् ॥

ऐसे चरण-करण के आराधक गुरुदेव के दुःखद वियोग से स्वभावतः ही नेत्रों से अविरल नीरधारा प्रवाहित करने वाले लोगों ने भिक्षु के पाथिव शरीर को तेरह खण्ड वाले विमान में स्थापित कर, रुपयों की वर्षा (उछाल) करते हुए महान् उत्सव के साथ अन्त्येष्टि क्रिया की ।

५१. स्फुरद्रत्नत्रय्या ललितहृदयाह्लादनविधु-

स्तमस्तोमेतेजस्तरुणतरणिः पुण्यविपणिः ।

सदा ध्यातो गीतो गरिमगुणगाथाभिरमितः,

प्रदत्तां कल्याणं कलितकलया नन्दयतु सः ॥

स्फुरित होने वाली रत्नत्रयी के ललित हृदय को आह्लादित करने के लिए चन्द्रमा, अन्धकार की श्यामलता को नष्ट करने के लिए मध्याह्न का तेजस्वी सूर्य, पुण्योपार्जन की हाट, सदा ध्याये जाने वाले तथा गरिमायुक्त गुण-गाथाओं से चारों ओर गाये जाने वाले, ज्ञानपूर्वक आनन्द करते हुए वे भिक्षु हमें भी कल्याण प्रदान करें ।

श्रीनाभेयजिनेन्द्रकारमकरोद् धर्मप्रतिष्ठां पुनर्,

यः सत्याग्रहणाग्रही सहनयैराचार्यभिक्षुसंहान् ।

तत्सिद्धान्तरतेन चारुरचिते श्रीनत्थमल्लविणा,

श्रीमद्भिक्षुमुनीश्वरस्य चरिते सर्गोऽयमष्टादशः ॥

श्रीनत्थमल्लविणा विरचिते श्रीभिक्षुमहाकाव्ये श्रीभिक्षोरनशनपूर्वक-

समाधिमरणनामा अष्टादशः सर्गः ।

समाप्तमिदं श्रीभिक्षुमहाकाव्यम् ।

अथ प्रशस्तिः

१. श्रीमद्भिक्षोर्मुमुक्षोजिनवरसमयाबद्धमूलं समूलं,
शुद्धाध्यात्मेकलक्ष्यं सुललितरचनारम्यरूपावलीढम् ।
व्योमानन्तप्रवेशोपममतिशयितं सिद्धसिद्धान्तसिद्धं,
वृत्तं व्यूढं प्रगूढं कथमिह कवितायां निबध्नामि पूर्णम् ॥
२. धन्यास्ते भारिमालप्रभृतगणभृतस्तस्य ज्योतिर्मयस्य,
पट्टालंकारभूतास्तववितथपथप्रीतपान्थाः प्रसिद्धाः ।
वीरा वीराप्रबन्धास्तवमलनियमान् सिद्धसिद्धान्तसिद्धान्,
प्राणान् पाणौ गृहीत्वाऽवितुमनिशमहो बद्धकक्षा बभूवुः ॥
३. आदौ पट्टे तदीये गरिमगुणगणो भारिमालो मुनीन्द्रः,
पञ्चाच्छीरायचन्द्रस्तवनुजयगणिस्तत्त्वकोट्यां प्रकाण्डः ।
मोनाचारेकवक्षस्तदनु च मघवा षष्ठमाणिक्कयलाल-
स्तस्माच्छ्रीडालचन्द्रस्तदनु मम गुरुः कालुरामो गणीन्द्रः ॥
४. तत्पट्टाभोजभानुगणपतितुलसीः सास्त्रतं वर्तमानो,
यस्य श्लाघाप्रकोष्ठे प्रविशति भुवनं व्योमदेशे यथैव ।
ख्यातिः प्रख्यातिरस्य श्रुतिपटपटलीं धनयेन्नात्र केषां,
सन्दूढं काव्यमेतत्तदमलकृपया नन्दती नन्दनीयम् ॥

५. खाटूनगरबास्तव्यसुविनीतर्षिसोहनः ।
उदारो नगरार्जर्षिः, सिरदारपुरान्वयः ॥
६. एतयोः सत्सहायेन, काव्यपूर्त्तिर्मया कृता ।
वागोरवासिना नत्थमल्लवाचंयमेन च ॥
७. मुनीन्दुव्योमनेत्राब्दे, माघान्त्यपञ्चमीदिने ।
श्रीभिक्षुद्विशताब्द्यां तत्, तृतीये चरणे शुभम् ॥
८. आद्यमिदं महाकाव्यं, भैक्षवे शासने शुभे ।
शुद्धज्ञानक्रियाप्रण्टं, भूयाज्जीयाद् युगे युगे ॥
९. श्रुतुलसीगणेन्द्राय, जैनशासनभास्वते ।
क्रियतेऽम्बापुरे चारु, सादरं तत् समर्पणम् ॥
१०. स्वीकृतं सादरं पूज्यैरुत्सवे सङ्गमूषितैः ।
व्यलेक्षि तद्विधात्रव, पुरे जोषपुरं शुभम् ॥
११. रागद्वेषप्रमादाद्यैर्न्यूनाधिकमुपागतम् ।
तन्मिथ्याबुद्धकृतं मेऽस्तु, साधुवृत्त्यान्त्यमङ्गलम् ॥

काव्यकार मुनि नत्थमलजी

जन्म-स्थल—बागोर (मेवाड़)

जन्म—वि० सं० १९५९ वैशाख शुक्ला १३

दीक्षा—वि० सं० १९७२ माघ शुक्ला १४

पाली में तेरापंथ के अष्टमाचार्य

श्री कालूगणी के करकमलों से।

समाधिमरण—वि० सं० २०४३ चैत्र शुक्ला १४

सुजानगढ़ में।

मुनि श्री नत्थमलजी तेरापंथ धर्मसंघ के वरिष्ठ संत, संस्कृत-प्राकृत आदि प्राच्य विद्याओं के ज्ञाता, भारतीय दर्शन एवं न्यायशास्त्र के विद्वान्, जैन वाङ्मय और तेरापंथ दर्शन के मर्मज्ञ, आगम तथा अर्हत्वाणी के प्रति समर्पित साधक थे। वे दुबले-पतले शरीर एवं साधारण वेशभूषा में रहने वाले तथा अपने विचारों के प्रति प्रतिबद्ध मुनि थे। व्यवहार कुशलता, विनम्रता और उदारता उनके विरल गुण थे।

आचार्य भिक्षु थे—

- * तेरापंथ के अधिष्ठाता
- * अर्हत् वाणी के प्रति समर्पित
- * विशुद्ध चारित्र के अनुपालक
- * लक्ष्य के प्रति अविचल
- * अहंकार और ममकार से विप्रकृष्ट
- * सत्यजिज्ञासु और सत्यसंधित्सु